हृदय-मंथन

हमारे श्रेष्ठ उपन्यास

हृदय-मंथन

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण : १९५१
द्वितीय संस्करण : १९५५
मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

निवेदन

मनुष्य अपने प्रगतिशील स्वभाव के कारण निरवधि महत्वाकाक्षाओ के जाल मे फँसा रहता है। फलतः उसका जीवन सघर्षों की लम्बी कहानी बन जाता है। संघर्ष कभी सफल और कभी विफल होकर उसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओ में पहुँचाता है। उन स्व-निर्मित अवस्थाओ का तरण करता हुआ वह अपने हृदय को मथकर अमृत या विष निकालता और उसका उपभोग करता तथा कराता है। इसी प्रकार वह आगे बढता चला जाता है। इस संघर्षमय मानव-जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब ही साहित्य है।

'सगीतमपि साहित्य सरस्वत्यास्तनद्वय । एकमापादमधुर, अन्य-दालोचनामृतम् ।' इस प्रकार कवि-कीर्तित 'आलोचनामृत-साहिती' बहुरूपिणी है। वह उपन्यास, कविता, कहानी, निबन्ध आदि अनेक रूपो मे प्रकट होकर मानव का पथ-प्रदर्शन करती हे। अपनी मनोहारिता और सरसता से सहृदय-हृदयाह्लादन करने वाली वह देवी, सखी या प्रियतमा के जैसे मधुर भाषण द्वारा कटु सत्यों को प्रकट करती है और पाठको को तन्मय करके, अनुभवो के स्वाभाविक चित्रण द्वारा उन सत्यो के तत्त्व समझाकर, आदर्श-पथ की ओर ले जाती है। यह सुन्दर सेवा-धर्म ही उसकी आकर्षकता का गुरुमत्र हे।

'हृदय-मथन' इस कसौटी पर कितना खरा है, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते है, लेखक नहीं। यदि मुझ से प्रश्न किया जाये कि 'हृदय-मथन' क्या है तो एक शब्द में उत्तर देना मेरे लिए कठिन होगा। साहित्य के किसी एक निर्दिष्ट विभाग की परिधि में यह नही समाता। समग्र रूप मे यद्यपि इसे उपन्यास माना जायेगा, तथापि इसमें उपन्यास, जीवन-चरित्र, काव्य आदि सभी की झलक और अनेक की रूपरेखा पाई जा सकती है।

पूज्य बापू के राष्ट्र-निर्माण-कार्यक्रम के मूलमत्र अस्पृश्यता निवारण, स्वावलम्बन-शिक्षा तथा सेवाधर्म-बोध थे। इनका प्रचार करने के लिए अनेक व्यक्ति और अनेक संस्थाएँ आगे बढी। उनमे से अनेक ने 'स्वधर्मे निधन श्रेय' के अनुसार अपने-आपको ही बलिवेदी पर चढाया।

आदर्शवादिता के साथ विवेक, व्यावहारिकता और उदारता का समन्वय न हो तो वह भीषण परिणाम का हेतु बन जाती हे। इसका ज्वलन्त उदाहरण चंचला के जीवन में उपलब्ध है, जिसमें पतग के मार्ग का अनुसरण किया गया। यदि चंचला अपने आदर्शो पर दृढ रहती हुई अपने बाल-सखा जीवनचन्द्र के आदर्शों में भी उतना ही विश्वास रख सकी होती, शकाओ का कारण दिखाई देने पर स्वनिर्भर न रहकर उनके निवारण का प्रयत्न कर लेती, तो कदाचित् वह अपना और साथ ही दो अन्य व्यक्तियो का जीवन

दु खमय बनाने की उत्कट वेदना से बच जाती। कदाचित् वह अपने आदर्शो को भी चरितार्थ कर पाती। किन्तु उद्देश्य शुद्ध होने पर भी, व्यावहारिकता और विवेक का अवलम्बन न करने के कारण उसका आदर्शमय जीवन एक करुण-कहानी मात्र रह गया। निर्मला का प्रेम और उसकी कर्मण्य बुद्धि भी उसकी भावना की उडान को बुद्धि के नियत्रण मे लाकर उसे तुरन्त दु ख से बचाने मे असमर्थ रही।

आधुनिक युग के सुशिक्षित युवक राष्ट्र-निर्माण के कार्य में कितने उपयोगी हो सकते है, इसका उदाहरण जीवनचन्द्र के जीवन मे उपलब्ध हे। उसने जिस आडम्बरहीनता और धैर्यमय ढग मे रचनात्मक कार्य और सेवाए की उनके दृष्टान्त यथार्थ जीवन मे कम नही है। उसका जीवन बताता हे कि प्रेम विलास का नही, त्याग का मूलमत्र है, मोह की नही, बोध की राह दिखाता है, निवृत्ति का नहीं, प्रवृत्ति का पथ-प्रदर्शक हे। चचला की उदासीनता ने उसे प्रवृत्ति-पथ का सदेश दिया। उसके विरह ने उसे जन-साधारण के प्रति सहानुभूति और सर्वभूत-अभय की प्रतिज्ञा के लिए प्रेरित किया। उसके दुरन्त जीवन ने उसे समस्त प्राणियो के दु खापहरण मे प्रयत्नशील बनाया। युवको को इससे अधिक उपयोगी आदर्श और कहाँ मिलेगा ? 'विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना. प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति।' इस तत्त्व का मुकुटोदाहरण हे जीवनचन्द्र।

कुसुम की सगति से शिला भी सुवासित होती हे—यह करुणाशंकर के जीवन का सार है। जीवनचन्द्र के सर्वनाश का शक्तिभर प्रयत्न करने के पश्चात् उसकी महानता के सामने वह अपना ही व्यक्तित्व खो बेठा। इसमे जीवनचन्द्र की अहिसा की प्रशसा की जाये या करुणाशंकर के अन्त.करण की शुद्धि की सराहना ?

१९४२-४५ के कारावास-काल मे लेखक के हृदय में जो उथल-पुथल हुई उसका शमन भावनाओ के अदम्य प्रवाह को लिपिबद्ध करके किया गया था। उसी का एक परिणाम है—'हृदय-मथन'। इसमे सवर्ण-अवर्ण, धनिक-निर्धन और स्त्री-पुरुषो के हृदय-मथन का परिणाम पाठको के सामने रखने का प्रयत्न किया गया है। उस मथन से जो-कुछ निकला उसका परीक्षण करना सहृदयो का काम है। यदि यह विनीत उपहार उनके हृदयाह्लादन के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ तो लेखक की लेखनी चरितार्थ हो जायेगी।

नई दिल्ली

सीताचरण दीक्षित

अनुक्रमणिका

चंचला की मा के हृदय में एक तीर-सा चुभ गया। उसका चेहरा एक-दम उतर गया और क्षण भर के लिए वह अवाक् रह गई। इतने ही में बालिका ने फिर कहना शुरू किया—

"अम्मा, वह मुझे अछूत क्यो कहते है ? अछूत कौन होते है ?"

मा ने बात टालकर कहा—"चल बेटी, घर चल; तेरे बापू आते होंगे।"

दोनो घर आगई। परन्तु दोनो ही के दिल भारी थे। बच्ची मन-ही-मन कुछ सोचती रही। कभी कभी उसके मुह से कुछ अस्पष्ट, क्रोध-भरे शब्द निकल पडते थे। कभी वह अपने छोटे-से दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधकर, अपने सामने किसी की कल्पना कर, हवा में घुमा देती और उसके नेत्र चढ जाते और भौहे तन जातीं।

मा भी उदास होकर सोचने लगी—हम अछूत है ! इसमे हमारा क्या दोष है ? हम तो सबकी सेवा करके रूखी-सूखी खाकर सतोष करते है। किसी को सताते नही, किसी की राह मे नही आते। अपना ससार सबसे अलग बनाये एक किनारे पडे रहते है। फिर भी लोग हम से इतनी घृणा क्यो करते है ? और हमारे बच्चो ने क्या अपराध किया है ? बच्चे तो भगवान को भी प्यारे होते है, फिर हमारे बच्चो के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार क्यो ? उनके साथ दूसरी जाति के बच्चे खेल भी नही सकते ! वह ऊँची जाति के हैं ! हमारे बच्चो के साथ रहने से वह पतित हो जायँगे ! हे भगवन्, तुम्हारे सिवा हम किसकी शरण लें ? ...

चंचला मानो सब कुछ भूल गई। अपने आँगन मे जाकर वह फिर खेलने लगी। उसकी मा खाना बनाने की तैयारी करने लगी।

चंचला ने बहुत-से पत्थर इकट्ठे किये। कीचड से उन्हे जमा-जमाकर उसने एक घरौंदा बनाया। उसके सामने लकडियाँ गाड-गाडकर उसने बालक-बालिकाओ की सृष्टि की। फिर उन सब बालक-बालिकाओ का नामकरण किया—यह जीवन है, यह रमेश है, यह मनोहर है, यह सुशीला है ...! अब उसने अपने हाथ में एक छड़ी ली और स्व-रचित सुशीला की ओर मुड़कर धीरे-धीरे बोली—"तू मेरे साथ नही खेलेगी ? अच्छा ठहर, मैं तुझे अभी देखती हूँ !" उसने अपने हाथ की छडी से उस नकली सुशीला पर एक ज़ोर का वार किया। 'सुशीला' उखडकर दूर जा पड़ी। चचला ज़ोर से हँसी और फिर बोली—"कैसा मज़ा आया ! और मेरे साथ न खेलेगी ? खेलेगी ? अच्छा तो ठहर, मैं तुझे फिर खड़ा किये देती हूँ।"

लकड़ी को उठाकर, उसे अपने कपड़े से पोछ, बालिका ने फिर जहाँ-की-

तहाँ खडा कर दिया। बाद को उस पर प्यार और करुणा के साथ हाथ फेरती हुई वह बोली—"रो मत, बहन ! अब मै तुझे कभी न मारूँगी। मगर देख, अब तू मेरे साथ बराबर खेलना, हाँ !"

सहसा उसका ध्यान लकड़ी के रमेश और मनोहर की ओर गया। उसने देखा कि वह दोनो सुशीला से अधिक ऊँचे और मोटे है। फिर वह बोली—"तुम मुझे अछूत कहते हो ! मै तुम्हारे घर गई थी तो तुमने मुझे पत्थरों से मारा था ! और आँगन मे खेलने नही दिया। अच्छा, लो तुम भी !" —कहकर बालिका ने अपना 'दण्ड' सभाला।

सध्या हो गई थी। चचला का पिता दिन-भर का थका-मांदा घर आया तो उसने सबसे पहले चचला को याद किया। देखा तो वह आँगन में अपने खेल में मग्न थी। वह चुपके-से आड में खडा होकर उसका खेल देखने लगा।

और, बालिका ने एक ही वार मे 'रमेश' और 'मनोहर' दोनों को उड़ा दिया। ज्यो ही वे दूर जाकर गिरे, वह खिलखिलाकर हँस पडी और बोली—"कैसी रही ! और मुझे अछूत कहकर पत्थर मारोगे ? " फिर वह उनके पास गई और पहले 'रमेश' को उठाकर कहने लगी—"क्यो, और तू मुझे अपने साथ नही खिलायेगा ? ."

पिता को यह सब देखकर बडा कौतूहल हुआ। अपने कौतूहल में अपनी पत्नी को भी सम्मिलित करने के ख्याल से वह चुपके-चुपके उसे भी बुला लाया। आधे मन से, अपने काम मे बाधा पड़ती हुई महसूस करके, प्रेममय विरोध प्रदर्शित करती हुई, वह भी वहाँ आकर खडी हो गई।

और, चंचला इस समय तक 'रमेश' को फिर वही पटककर 'मनोहर' को हाथ में उठा चुकी थी। वह कह रही थी—"तू सबसे खराब है। तू अभी सीधा नही हुआ। तुझे दो छडी और लगाऊँगी .. ."

बालिका ने फिर उसे जमीन पर गाडकर खडा किया। बाद को उसने 'एक' कहकर उसे फिर एक छडी लगाई। छडी लगने ही वह लकडी टूटकर दो टुकड़े हो गई। उसका एक टुकडा वही गिर गया और दूसरा दूर जा पडा।

लकडी के दो टुकडे होते देखकर बालिका को जैसे ठेस-सी लगी। सहसा उसके मुँह से निकल पडा—"अरे रे ! मर गया, बेचारा !"

अपने हाथ की छडी फेंककर वह लकडी के मनोहर के दूरवाले टुकडे को उठाने दौड़ी। हाथ में उठाकर, करुणापूर्ण दृष्टि से उसका निरीक्षण परीक्षण-कर, पछतावे के स्वर में 'च् च् च् च्' करते हुए उसने फिर कहा—"बेचारा

मर गया !" उसे अपने कपड़े से पोंछ और घरौंदे के पास लाकर फिर जमीन में खडा करके बोली—"अब तुझे नही मारूँगी । तू रो मत, हाँ !" फिर उसने उस पर हाथ फेरा—मानों उसे स्नेह के साथ धीरज बँधा रही हो, अपने प्रेम से उसका कष्ट-निवारण कर रही हो ।

उसकी मा ने उसके पिता से स्नेह-रोष के साथ कहा—"बस इसी के लिए मुझे बुला लाये थे ? यह पागलपन देखने की मुझे फुरसत नहीं । रोटी बनाने को पड़ी है । मै जाती हूँ ।"

"अरे, जरा ठहरो तो !"—कहते हुए पति ने पत्नी का हाथ पकडकर उसे अपनी ओर खीच लिया । पत्नी ने भी अधिक विरोध नहीं किया । दोनो फिर चुपके-चुपके अपनी लाडिली की क्रीडा देखने मे मग्न हो गये ।

अब 'जीवन' की बारी आई । उसकी ओर देखते ही बालिका का हृदय गुस्से से भर गया । वह बोल उठी—"अब कहो बच्चू ! आज तुम कैसे लड़ रहे थे ! अब तुम नही बचोगे ! .. ."

उसने पहले के समान अपनी छडी उठाई परन्तु फिर रुक गई । बोली—"मारूँ ? . न मारूँ ? आज तो तुम बडी मस्ती कर रहे थे !
अच्छा, तो अब मुझसे लडना मत ! .. आओ, हम तुम दोस्ती कर लें. . "

विजयिनी की भाँति बालिका ने अपनी छडी फेंक दी । उसने अपने दाहिने हाथ की बीच की उँगली फैलाकर लकडी के जीवन से मिलाई और फिर चूम ली । इसी प्रकार तीन बार करके उसने दोस्ती पक्की कर ली ।

'जीवन' का सिर मानो कृतज्ञता से झुक गया । बालिका गौरव म सने हुए प्रेम के साथ बोली—"अब हम दोनों कभी नही लडेंगे, न ?"

पिता का प्रेमानन्द बाँध तोडकर उमड पडा । उसने दौडकर बालिका को उठा लिया और उसके दोनों गाल चूम लिये । मा खीझती ही रही कि वह कीचड़ से सनी हुई है, तुम्हारे कपडे खराब हो जायँगे, मगर पिता ने एक न सुनी । उलटे, बालिका को लाकर उसके शरीर से चिपटा दिया, उसका कोई उज्र काम न आया । आखिर, कीचड़ से सनी हुई बच्ची को वात्सल्य-भाव से गोद में लेकर मा अन्दर की ओर रूठ चली । पिता ने उसके पीछे-पीछे चलते हुए, चंचला का हाथ अपने हाथ मे लेकर लाड़ के साथ पूछा—

"क्या कर रही थी, मुन्नी ?"

"जीवन से प्यार कर रही थी"—बालिका ने संकोच-मिश्रित लाड़ के स्वर में उत्तर दिया ।

माता और पिता एक-दूसरे की ओर देखकर, हसकर, आँखों से कुछ कह गये। मा ने बेटी को छाती से दाब लिया और पिता ने आगे बढ़कर उसके दोनों गाल चूम लिये।

२

दलित का गौरव

चंचला का पिता सिलावट था। मेहनत-मजदूरी करके अपना और अपने परिवार का पालन करता था। बचपन मे उसके मा-बाप ने उसे थोडी-सी स्कूली शिक्षा दिला दी थी। हिन्दी की चार कक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह अपने बाप-दादो के व्यवसाय मे लग गया। बुद्धि उसकी तीव्र थी और उसमे स्वाभिमान की मात्रा भी कम न थी। इज्जत के साथ जीवन बिताना और साफ-सुथरा रहना उसे पसंद था।

परन्तु, समाज को यह सब कैसे पसद होता ? सध्या समय जब कभी चंचला का पिता धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहिनकर, चचला को साथ लेकर बाजार की ओर निकल जाता तब समाज में प्रतिष्ठित माने जानेवाले लोग भी उस पर हँस पडते। अनेक बार उस पर आवाजकशी और छीटाकशी भी होती। कुछ 'भद्र' लोग ऐसे भी होते जो बिना मतलब के ही—कदाचित् उसका अपमान करने की बुद्धि से—उसे आता-जाता देखकर पुकार उठते—"कहाँ चला, रामा ? . . " कोई उसे अपनी दुकान पर पुकारकर बाहर खडा रखता और अपनी महत्व-भावना को सतुष्ट करता हुआ उससे 'तू' की भाषा में बातें करता। यदि बाल-स्वभाव और अपने समाज पर लादी हुई मर्यादाओ को न समझने के कारण चचला किसी को छू देती, या दूसरो के समान किसी दूकान की गद्दी पर बैठ जाने का प्रयत्न करती तो तुरत उसे और उसके पिता को झिड़कियाँ मिल जातीं। बेचारा रामलाल (यही चंचला के पिता का नाम था) लोगों का इस तरह का व्यवहार सहता-सहता तग आ गया था। चचला के मन पर भी भीतर-ही-भीतर हीन-भाव घर कर रहा था। वे दोनों उदास रहने लगे। चंचला के स्वभाव में धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित रूप से, कटुता आने लगी। इस सब का असर चचला की मा शिवरानी पर भी हुए विना न रहा।

एक दिन शिवरानी ने बहुत दु:खी और निराश होकर अपने पति से कहा—"हम लोग अछूत माने जाते है। हमे अपनी मर्यादा मे ही रहने से सुख मिल सकता है।"

रामलाल के सामने उसके जीवन की सारी अवमानना और समाज का अहंकार-युक्त व्यवहार मूर्त्तरूप मे आकर उपस्थित हो गया। उसका चेहरा आवेश से लाल हो उठा। उसने निश्चय के स्वर में उत्तर दिया—"अछूत हम कैसे हुए ? अछूत तो वे है जो बिना मतलब दूसरो को सताते है; जो दूसरो का खून चूसते है, जो चोर है, हत्यारे है, व्यभिचारी है ....!"

"तुम तो फिर वही पुराना राग अलापने लगे"—शिवरानी ने असतोष और उलाहने के स्वर में कहा।

"यह राग तो मेरी मृत्यु के साथ ही बन्द होगा। मै किसी को लूटने नही जाता, किसी के साथ जबरदस्ती नही करता, फिर लोग मेरे साथ क्यो ज्यादती करे ?"

"हमे सिर नीचा करके रहना चाहिए।"

"हम कहाँ सिर आसमान पर रखते है ? लोगो से मीठी और नम्र, साफ बात करते है, किसी की लल्लो-चप्पो नही करते; अपने आपको मनुष्य समझते है—बस, यही हमारा अपराध है !"

"मगर हमारे दूसरे जाति-भाई भी तो है ! वे तो कभी परेशान नही रहते।"

"हाँ, वे अपमान और अत्याचार सहने के आदी हो गये है। वे अपने मानवीय अधिकारों को समझते ही नही। वे समझते है कि हम दूसरों के जिलाये जीते है और उनके मारे मर जायँगे। परन्तु बात ऐसी नही है। हम सब एक ही परमेश्वर के पैदा किये हुए है। उसके सामने हम सब बराबर है। उसने हम सब को मनुष्यता के बराबर अधिकार दिये है। यह सब भेद-भाव मनुष्यो ने ही अपने स्वार्थ के लिए बना लिये है। यदि हम अपनी इस दुर्दशा के विरुद्ध आवाज़ न उठायेंगे तो हमारा नाश हो जायेगा।"

"मगर तुम्हे ही क्या पडी है कि पुरखो से चली आई रीति के विरुद्ध खड़े हो ? कोई दूसरा क्यो न लड़े ? जब बहुत से लोग तुम्हारे जैसे हो जायँ तब तुम भी उनमें मिल जाना।"

"यह नहीं हो सकता। मेरी खुद की भी तो कुछ हस्ती है ? मै क्यो सहूँ ? रही समाज की बात, सो जो-कोई भी पहले-पहल आगे आयेगा उसी को इस प्रकार की मुसीबते सहनी पड़ेगी। और मैने तो अभी दूसरो के लिए

कोशिश करना शुरू ही नही किया। मै स्वयं मनुष्य के समान रहन का प्रयत्न करता हूँ। मेरी बच्ची है और तुम हो। तुम दोनो को भी मै मनुष्य के समान रखना चाहता हूँ। मेरी छाती मे भी दिल है, मै भी दूसरो के समान महसूस करता हूँ। मै चाहता हूँ कि तुम भी समाज में अपनी योग्यता के अनुसार स्थान पाओ, मेरी बच्ची ऊँची शिक्षा पाये, अच्छे-अच्छे काम करने का उसे मौका मिले . .।"

"और, तुम्हारे यह सब हवाई किले हमारी और भी दुर्दशा करा रहे है। हमें न अपनी जाति अपनाती है और न दूसरी जातियाँ। हमारी जाति के लोग हमारी ओर उँगली उठाकर कहते है कि ये हमे छोडकर दूसरो मे मिलने का प्रयत्न कर रहे है। इसलिए, वे हम से दूर होते जाते है। दूसरे लोग हमे नीच और अछूत मानते ही है। अब तक उनकी हम पर दया रहा करती थी, परन्तु तुम्हारे तौर-तरीको से वे हम से रोज़-ब-रोज़ नाराज़ होते जा रहे है। इस प्रकार हम दोनों ओर से छूट रहे है।"

"यह सब हमारी कसौटी है। हम खरे उतरे तो ये दिन जल्दी निकल जायँगे। तुम्हे धैर्य के साथ मेरा हाथ बँटाना चाहिए।"

"मुझे अपना कष्ट तो कुछ भी नही मालूम होता। तुम्हारे पैरो के पास रहकर और बच्ची का मुँह देखकर मै सब कुछ भूली रहती हू। परन्तु जिस पर तुम्हारा सबसे ज्यादा प्यार है, जिसके लिए तुम इतना सिर धुन रहे हो, उस चचला की हालत देख देखकर मुझ से रहा नही जाता। जब पास-पड़ोस के बच्चे खेलने मे अछूत कहकर उससे घृणा करते है और उसे मार मार-कर भगा देते है और जब जाति के लडके भी उसे दूर-दूर करते है और जब वह उदास होकर या रोती हुई घर आती है तब मेरी छाती फटने लगती है। तुम अगर उसके दिमाग मे बडी-बडी बाते भरने का प्रयत्न न करते तो यह बेचारी ऊँची जाति के बच्चो के साथ खेलने का प्रयत्न ही न करती और न हमारी जाति के बच्चे ही उससे अलगाव रखते। अब तो वह दोनो मे से किसी भी जगह की नही है?"

"तुम ठीक कहती हो; मगर यह सब कष्ट बहुत दिनो तक न झेलने पड़ेंगे। अगर हम साहस के साथ अत्याचार का मुकाबला करते चले गये तो एक-न-एक दिन उसका अन्त अवश्य होगा। सिर झुकाये रहने से तो कभी भी उससे मुक्ति न मिलेगी।"

"क्या पता कितने दिन लगें?"

"दिन कितने भी लगें, किन्तु उद्धार होगा निश्चय। हमारे इस जन्म

में नही तो अगले जन्म में सही, परन्तु यह अमानुषिक अत्याचार अपनी गति को प्राप्त होगा अवश्य ।"

शिवरानी ने प्यार भरी मीठी चुटकी लेते हुए हँसकर कहा—"ओह ! तो जनाबआला अगले जन्म मे भी अछूत ही होने की योजना बना रहे है !"

"हाँ," रामलाल ने गौरव और दृढता के साथ उत्तर दिया, "मै परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि जब तक इस सारे समाज का उद्धार न हो जाय तब तक मैं इसी समाज में पैदा होता रहूँ और हर बार मै इसी की सेवा मे जीऊँ और इसी की सेवा मे मरूँ !"

कहते-कहते रामलाल की आँखें भर आई और कंठ रुँध गया । शिवरानी के नेत्रो और कठ ने भी तुरन्त साथ दिया । फिर थोड़ा सँभलकर वह भावुकता के साथ गीली आवाज़ में बोली—"और मेरे लिए क्या प्रार्थना करते हो ? मुझे भी हर बार अपनी दासी बनाकर रखोगे ?"

रामलाल ने अपने दोनो हाथों से उसे अपने पास खीच लिया, फिर उसके दोनो गालो पर अपने हाथ रखकर उसकी आँखे अपनी आँखो की ओर घुमाकर अत्यन्त प्रेम भरे शब्दो मे कहा—

"दास भी दासी रखन की ढिठाई कर सकता है, प्रिये ? या तो तुम मेरी रानी होगी या सहयोगिनी . !"

शिवरानी ने मुसकराकर लज्जा से सिर नीचा कर लिया—मानो अनन्त काल तक के लिए अपने पति के साथ सहयोग की हामी भर दी हो ।

३

बीजावाप

अछूतो के सम्बन्ध मे महात्मा गाधी के महान् उपवास के फलस्वरूप अखिल भारतीय हरिजन सेवक सघ की स्थापना हो चुकी थी। उसकी शाखाएँ देश-भर मे खुल रही थी। उदार और समझदार जनता ने अछूतो का नया और अर्थगर्भित नामकरण—'हरिजन'—उत्साह के साथ स्वीकार कर लिया था।

जेल से छूटने के बाद महात्मा गाधी ने हरिजनो की सेवा के उद्देश्य से सारे देश का जो दौरा किया उससे हरिजनों को मिलाने और उनकी सेवा करने के उत्साह की एक अभूतपूर्व लहर फैल गई। जहाँ-जहाँ महात्मा गाधी पहुँचे वहाँ का तो पूछना ही क्या, परन्तु जहाँ वे नही पहुंचे वहाँ स्वय जनता ने उत्सव मनाये और हरिजनो की सेवा के लिए धन इकट्ठा किया।

उज्जैन में भी इसी प्रकार का एक जलसा हुआ। मध्यभारत के प्रमुख गाधीवादी नेता श्रीकृष्णभाई ने एक सभा मे भाषण देते हुए जनता से अनु-रोध किया कि आप लोग हरिजनों के दुःख दूर करने और उनके साथ भाईचारे का मानवोचित व्यवहार करने का अनुष्ठान करें। हरिजनो को भी स्वच्छ रहने तथा गन्दी आदतें छोड़ने का उपदेश किया गया। नगर मे एक नये जीवन की उमग-सी दीख पडने लगी।

रामलाल दिन-रात परिश्रम करके अपनी जाति के लोगों तथा दूसरे हरिजनों को जीवन का यह नया सदेश सुनाने लगा। उसके आत्मगौरव का अब ठिकाना न रहा। जिस शुभ अवसर की वह वर्षो से प्रतीक्षा करता आ रहा था वह आखिर आ पहुँचा था। जिस दिशा मे उसने वर्षों पूर्व क़दम रखने का महत्वाकांक्षापूर्ण प्रयत्न किया था उसमें आज उसे एक महत् प्रकाश दिख-लाई दे रहा था।

उस दिन से उसका घर और भी स्वच्छ रहने लगा। वस्त्रो और रहन-

सहन मे भी यथासम्भव स्वच्छता बढ गई । प्रतिदिन प्रात काल उठकर वह स्वय अपने घर के सामने का मैदान साफ़ कर डालता और यदि आस-पास के घरो के सामने गन्दगी होती तो, बिना उनमें रहनेवालों से कुछ कहे, उसे भी साफ़ कर देता । उसकी नन्ही-सी चचला अपने छोटे-छोटे हाथो में झाड लेकर अपने पिता की मदद करती । वह उसे एक छोटा-सा स्थान बता देता और जब तक वह अपना सफाई का काम पूरा करता तब तक चचला भी अपनी जगह झाडकर कूडा एक जगह लगा देती । फिर दोनो मिलकर सारा कूड़ा घूर में फेंक आते । शिवरानी इस बीच घर के अन्दर की सफाई कर डालती । इसके बाद स्नान करके तीनो लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में जाकर दर्शन और पूजा करते । इस परिवार ने अपने अनेक जाति-भाइयो में अपने विचारो और भाव नाओ का प्रचार करके उन्हे साथी बना लिया । रोज सध्या समय रामलाल के घर के सामने रामायण पढ़ी जाने लगी और इस प्रकार उसकी लोकप्रियता और उसका महत्व बढने लगा । वह अपनी जाति का ही नही, वरन् नगर के समस्त हरिजन समाज का नेता माना जाने लगा । सवर्णो ने भी उसके प्रति उपेक्षा तथा तिरस्कार की भावना का सयमन किया । इस प्रकार उसके जीवन मे एक सुख का समय आता हुआ दिखलाई पड़ने लगा । वह हृदय से सात करोड़ हरिजनो के उद्धारक महात्मा गाधी की भक्ति करता और परमेश्वर के प्रति परम कृतज्ञता प्रदर्शित करता । इस अवसर पर उसने अपनी सेवा-वृत्ति को, अपने समस्त हीन भावो से छुटकारा लेकर, मुक्त रूप से खेलने दिया ।

रामलाल के साथ-साथ चचला की ओर भी लोगो का ध्यान गया । उसकी सरलता, उसके संस्कारो तथा उसके गुणो को देखकर लोग उसे बहुत होनहार मानने लगे । उसकी प्रशसा सुनकर उसके माता-पिता का हृदय फूला न समाता। दोनो ही उसे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने के अवसर की आतुरता के साथ प्रतीक्षा करने लगे । इसी बीच रामलाल ने उसे अक्षरो और अको का ज्ञान दे दिया । उसकी पैनी बुद्धि एक ही बार के बताने मे माता-पिता की शिक्षा ग्रहण कर लेती । थोडे समय मे उसने छोटी-छोटी पुस्तकें पढना सीख लिया । संगीत, गृहकार्य तथा कला में भी उसकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय मिलने लगा । उज्जैन की कन्या-पाठशालाओ के द्वार हरिजन बालिकाओ के लिए खुल जाने पर वह एक शाला की दूसरी कक्षा मे भरती करा दी गई ।

× × ×

"वह किसकी लडकी है ?"—कन्या-पाठशाला के वार्षिकोत्सव के

अवसर पर आये हुए प्रान्त के कॉंग्रेसी नेता श्रीकृष्णभाई ने प्रधान अध्यापिका से पूछा।

"रामलालभाई की ..."—उत्तर मिला।

"उनका गायन बहुत अच्छा रहा। अभिनय और नृत्य तो बिल्कुल बेजोड़ था।"

"उनके लिए कई पारितोषिक आए हैं। उनकी घोषणा करनी है।"

"बहुत होनहार है।"

"हरिजन होती हुई इतनी विलक्षण बुद्धि की है। अगर कही "

"हरिजन! रामलालभाई तो सिलावट है न?"

"जी हाँ। परन्तु यहाँ के ऊँची जातिवाले अभी तक उन्हे छूते नही थे। इस जाति के हाथ का पानी तो कभी नही पिया जाता था।"

"कितने दिनो से यहाँ सिलावट अस्पृश्य माने जा रहे हैं? आप बता सकती हैं?"

"मेरे बचपन मे तो ऐसा नही था।"

"आगरे की ओर तो वे अब भी अस्पृश्य नही माने जाते।"

"यहाँ यह ढोंग इसी पीढ़ी मे शुरू हुआ है। अब तो सरकारी कागजात मे भी इन्हे परिगणित जातियो मे सम्मिलित कर लिया गया है।"

श्रीकृष्णभाई के हृदय पर एक गहरा आघात हुआ। उनकी भावुकता जाग्रत हो उठी। वे मन-ही-मन मथन करने लगे कि जो समाज अपने ही बन्धु-बान्धवो के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करता हो वह कितने दिन तक जीवित रह सकता है? यदि मनुष्य मनुष्य के साथ मानवता का व्यवहार नही करता तो वह अपनी मौत को आप ही निमत्रण देता है। आखिर कितने दिनों तक महान् वर्णाश्रम धर्म का यह शव भारत मे पड़ा सड़ता रहेगा? एक दिन था जब कि मानव-हृदय की समस्त करुणा तथा सद्भावना से प्रेरित होकर हमारे ऋषि-मुनियों ने इस वर्णाश्रम धर्म की नीव डाली थी, समाज का सगठन कैसा सुन्दर और दृढ बना दिया था! परन्तु आज सारा ही उसके उलटा है! जो धर्म हमारी उन्नति का साधक था वही आज हमारी अवनति का कारण बन गया है।

चंचला की प्रतिभा उनके मन पर जम गई थी। उन्होंने उसकी उन्नति में अधिक-से-अधिक सहायता पहुँचाने का निश्चय कर लिया।

× × ×

"बधाई, रामलालभाई!" श्रीकृष्णभाई ने रामलालभाई के घर के

सामने एक पुरानी किन्तु मरम्मत की हुई खाट पर बैठते हुए कहा—"आपकी पुत्री ने तो कल कमाल कर दिया !"

"यह तो आपका अनुग्रह है, भाई जी ! हम लोग किस लायक है ? मै तो बहुत छोटा आदमी हूँ । बड़े-बडे लोगो के सभ्य और सुसंस्कृत बच्चों के साथ रहने से ही चचला कुछ सीख गई होगी । उसकी शिक्षिकाओं की उस पर विशेष कृपा है..."—रामलालभाई ने आत्मगौरव अनुभव करते हुए कहा ।

"बिना स्वाभाविक गुणो के शिक्षा इतनी जल्दी ऐसा चमत्कार नहीं दिखाती, भाई साहब ! यदि संगति और शिक्षा मात्र का इतना परिणाम होता तब तो बहुत-से बच्चे असाधारण बन जाते । आप विश्वास कीजिये, मै चचला की व्यर्थ प्रशसा नही कर रहा हू । उसके अन्दर सच्ची योग्यता छिपी हुई है । इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं ।"

रामलालभाई प्रशसा के भार से झुक गये । पर्याय से वह प्रशसा तो उनकी ही थी । वे कुछ उत्तर न दे सके । श्रीकृष्णभाई ने शान्ति भंग करते हुए पूछा—"आपका इस बालिका के बारे मे क्या इरादा है ?"

"मै क्या इरादा कर सकता हूँ !" रामलालभाई ने हिचकते हुए और दिल को मसोसते हुए कहा—"एक तो मै हरिजन, दूसरे गरीब ! अगर बच्ची दो-चार किताबें पढ ले और उसका विवाह किसी सुपात्र के साथ हो जाय तो मै समझूँगा कि बहुत हो गया ।"

"आप खिन्न न हो । हरिजन होना कोई अपराध नही है । और फिर आप तो सचमुच हरिजन है भी नही, जबरन हरिजनो में सम्मिलित कर दिये गए है । रही गरीबी सो उसकी चिता हम लोग कर लेगे ।"

रामलालभाई को राहत मिली । उन्होने कृतज्ञतापूर्वक कहा—"मै आपका अहसानमन्द हूँ ।"

"तो बताइये, आप चंचला को अच्छी तरह पढाना चाहते है ?"

"मेरी यही एकमात्र अभिलाषा है ।"

"आपने क्या सोचा है ?"

"यदि मै उसे गुरुकुल भेज सकता !" कहते-कहते वह रुक गये ।

"कहिए, कहिए । गुरुकुल मे भेजने की व्यवस्था तो हो जायगी ।"

"परन्तु मै तो किसी योग्य नही हूँ । आपका इतना बडा अहसान मै कैसे उठाऊँगा ?"

"इसमे अहसान जरा भी नही है । जिस समाज ने सदियो से लोगो को कुचल रखा है उसी को उनकी मदद के लिए भी आना होगा ।"

"आपका मतलब ?"

"हरिजन सेवक संघ बालिका को छात्रवृत्ति देगा।"

"परन्तु उससे मदद लेने के लिए तो असख्य लोग मौजूद है ? मै उससे मदद कैसे लूँ ?"

"पात्रता का माप-दण्ड एक ही नहीं होता। मेरा विश्वास है कि आपकी बच्ची मदद की पात्र है। आप सकोच छोडकर उसकी जिम्मेदारी मुझे सौंप दीजिए।"

"जैसा आप कहे !"

"तो बस, उसे गुरुकुल भेजने की तैयारी कीजिए। रुपयो की व्यवस्था मुझ पर रही।"

रामलालभाई के दिल का भार मानो मनो हलका हो गया।

× × ×

गुरुकुल पहुँचने के समय चचला की आयु आठ वर्ष से कुछ अधिक थी। रामलालभाई स्वय उसे वहाँ पहुँचाने गये थे। आचार्या के हाथो में अपनी नन्ही-सी बालिका को सौंपते हुए तत्काल उन्हे आनन्द और सतोष अवश्य हुआ, परन्तु बाद को स्नेहातिरेक के कारण उनका हृदय बहुत दिनो तक शांत न रह पाया। इससे पूर्व कभी भी उन्होने अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य मर्यादाओ को इतनी स्पष्टता से महसूस न किया था। यद्यपि गुरुकुल में सामाजिक भेद-भाव—स्पृश्यास्पृश्य—के लिए कोई स्थान नही था, तथापि उनका मन आशंकाओ से मुक्त न रह सका। वे चिन्ता करते रहते कि बालिका बहुत छोटी है, उसे अकेले इतनी दूर भेजकर मैंने अन्याय किया। यदि वहाँ भी स्पृश्यास्पृश्य का भाव छिपा हुआ हो तब तो उसका जीवन नरक से भी बदतर हो जायगा।

इसके विपरीत, कभी-कभी वे यह भी सोचते कि अच्छा ही हुआ उसे वहाँ भेज दिया। जीवन का क्या ठिकाना ? पता नहीं किस दिन हम ससार से कूच कर जायें। ऐसी अवस्था में हमारी बच्ची, जिसे हम जीवन का सबसे बड़ा आशीर्वाद समझते है, दर-दर की भिखारिन न होगी।

उनके मन में आशा और आशंका का द्वंद्व अनवरत चलता रहता। कभी वह चंचला के जीवन की बड़ी-बडी कल्पनाएँ करने में मुग्ध रहते, कभी भय उनके हृदय को उद्विग्न बनाए रहता।

स्फूर्तिमय क्षणों में भविष्य का एक सुन्दर हरा-भरा, सजीव चित्र उनके

नेत्रों के सम्मुख झूलने लगता। वे देखते—उनकी पुत्री युवा हो चुकी है। गुरुकुल की स्नातिका हो जाने के बाद उसने समस्त देश मे दौरा करके सम्पूर्ण नारी-समाज में जाग्रति उत्पन्न कर दी है। देश-भर में उसका सम्मान है और बड़ी-बड़ी सभाओं मे उसे नारी-समाज की उद्धारिका के रूप में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया जाता है। उसके व्यक्तित्व और उसकी वाणी का असर श्रोताओ पर जादू के समान होता है। उसकी सरलता, निरभिमानता, उसके देश-प्रेम, उसकी प्रतिभा, उसकी भावुकता, उसकी कर्त्तृत्व-शक्ति—सभी की मुक्त कठ से प्रशसा होती है और प्रशसा के सम्मुख शील और सकोच से वह अपना सिर नीचे झुका लेती है . . ..

फिर एक दूसरा चित्र उनके सम्मुख उपस्थित होता—चंचला के पिता के नाते उनकी भी खूब ख्याति हुई है। उनके जीवन पर अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने लेख और पुस्तके लिखी है। चचला के विकास और उसकी महत्ता का सारा श्रेय उन्हे ही दिया जाता है। पत्रकारो और प्रशसको का उनके पास तॉता बँधा रहता है। उनके तथा उनकी पत्नी और पुत्री के सम्बन्ध मे उनसे अनेकानेक प्रश्न किये जाते है, जिनका उत्तर पत्थर पर टॉकी लगाते-लगाते वे हँस-हँसकर देते है। कभी-कभी रूठकर कह बैठते है, "भाई, अब मुझे काम करना है, तुम लोग मुझे बहुत सताते हो। जाओ, मै काम न करूगा तो खाऊँगा क्या ? क्या चचला को खिलाऊगा और क्या उसकी मा खायेगी ?"

चचला की मा का स्मरण करते ही वे भावनाओ में बह जाते—सोचने लगते उस बेचारी ने बडे कष्ट सहे है! उस जैसी स्त्री मुझे मिली इसके लिए मै भगवान का सदैव कृतज्ञ रहूँगा ! अपने चित्र के साथ वे अनिवार्यत. चचला की मा शिवरानी का भी चित्र देखते। वह सीता और सावित्री से भी महान् दिखलाई पडती। सीता और सावित्री तो राजाओ की पुत्री, राजाओ की पुत्रवधू और राजाओ की पत्नी थी, शिवरानी दीन और दलित और तिरस्कृता हरिजन स्त्री है, फिर भी इतनी महान्! उनमें कर्म की जो कमी थी वह भी इसमें पूरी है . .

किन्तु, निराशा के क्षणो में उनके ये सब चित्र धुल जाते। वर्तमान जीवन की वास्तविकता उनके सामने उन्मत्त होकर अट्टहास करने लगती। वह सोचने लगते कि ससार मे छोटे-बडे सदैव ही रहते आये है। हम छोटे है। हमें कहॉ बडप्पन का दुर्लभ सौभाग्य ? हमारी सब आकाक्षाओ की पूर्ति आकाश कुसुम की प्राप्ति के समान है! जो कुछ हो जाय वही बहुत है। अपना कर्त्तव्य यत्रवत् करते जाना ही हमारा काम है।

४

बहन........?

एक के बाद एक कई वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन गृहव्यवस्थापिका ने चंचला को बुलाकर पूछा—"जीवन चन्द्र नाम का कोई लडका तुम्हारा रिश्तेदार है ?" चचला कुछ समझ न पाई। उसने उत्तर दिया—"नही तो।"

"तुम इस नाम के किसी लडके को जानती हो ?"

"जी हाँ !" चचला ने कुछ सोचकर उत्तर दिया।

"वह कहाँ रहता है और क्या करता है ?"

"उज्जैन के हाईस्कूल मे पढता है।"

"उससे तुम्हारा परिचय कैसे हुआ ?"

"वह हमारा पडोसी है। हमारी जाति का भी है। हम दोनो बहुत बचपन से साथ-साथ खेले हैं। बडा स्नेह भी है। हमारे पड़ोस में वही एक लडका था जिसके साथ मैं खुलकर खेल सकती थी। दूसरे बच्चे हमारे साथ नही खेलते थे... ." कहते कहते चचला का गला भर आया।

व्यवस्थापिका अकथित भाव को समझ गईं। कोमल भावनाओ को बिना छेडे उन्होने सहानुभूति के साथ पूछा—"वह अच्छा लडका तो है ?"

"जी हाँ, जहाँ तक मै जानती हूँ। मगर आप यह सब मुझसे क्यो पूछ रही है ?"

"तुम्हारे नाम उसका पत्र आया है।"

चचला निर्दोष प्रसन्नता से खिल उठी। उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख अतीत का सारा चित्र भूल गया। जब से वह यहाँ आई उसे जीवन का कोई विस्तृत समाचार न मिला था। वह प्रायः उसे भूल चुकी थी। आज सहसा उसकी याद से वह उसके सम्बन्ध में मीठी-मीठी कल्पनाएँ करने लगी। एक क्षण के लिए तो जैसे वह अपने घर ही पहुँच गई। वह उसका छोटा-सा कच्चा

मकान और वह जीवन की झोपडी ! जीवन के साथ उसका खेलना, लडना-झगड़ना और फिर एक हो जाना, मानो उसे परोक्ष से प्रत्यक्ष में उतार लाया .. ..परन्तु अब तो जीवन बडा हो गया होगा ! मै चौदह वर्ष की हो गई, जीवन मुझ से बड़ा है, वह पन्द्रह-सोलह का होगा .. ..!

चंचला कुछ क्षणों तक इन सुखद विचारो और स्मृतियों में डूबती-उतराती रही और गृह-व्यवस्थापिका उसके मुख-मडल पर प्रतिबिम्बत होने वाले भावो का अध्ययन करने में मग्न रही। चंचला को पत्र पाने के लिए अतीव उत्सुक देखकर उनके मन में विनोद करने की इच्छा जाग्रत हो गई। उन्होने कहा—"परन्तु मै सोचती हूँ कि वह पत्र तुम्हे न दिया जाय।"

चचला हतप्रभ-सी हो गई। उसकी मुद्रा एकदम बदल गई। खिन्नता-भरे उलाहने के स्वर मे उसने पूछा—"क्यो ?"

"देना नियमों के विरुद्ध होगा"—व्यवस्थापिका ने और छेड़ा।

"क्या उसमे कुछ खराब बात लिखी है ?" चचला कुछ-कुछ उग्र हो चली।

"नही, परन्तु तुम्हारे पिता की दी हुई सूची में उसका नाम नही है।"

"तो, मत दीजिए"—रूठकर चचला ने कहा और वह चलने लगी। व्यवस्थापिका ने शायद महसूस किया कि मामला बिगड़ रहा है। बादल और वर्षा का सामना करने की हिम्मत उन्हे न हुई। उन्होने उसे बुलाकर हँसते हुए कहा—"नाराज हो गई !"

चचला ने कोई उत्तर न दिया। वह उदास भाव से सिर लटकाए खड़ी रही।

व्यवस्थापिका ने फिर कहा—"तो क्या नियम-विरुद्ध काम किया जाय ?"—और वह बराबर मुसकराती रही।

"जी नही, मुझे पत्र नही चाहिये"—वैसी ही खिन्नता के साथ चंचला ने उत्तर दिया। उसकी आँखों से मोतियों के समान दो आँसू उसके कपोलों पर ढुलक गये।

व्यवस्थापिका ने विनोद के अतिरेक को समझ लिया। वह उठीं और प्यार से उसे पकडकर उन्होने अपनी साडी के पल्ले से उसके आँसू पोंछते हुए कहा—"पगली, इतना-सा विनोद भी नही समझती !"

चंचला का बाँध फूट पडा। न जाने कितने दिनों की घनीभूत पीड़ा छल-छल करती हुई आँखो की राह बह निकली। माता-पिता की याद हो आई। कदाचित् वह महसूस करने लगी कि इतने बड़े समाज में रहती हुई भी,

अध्यापिकाओं और सखियो का प्रेम प्राप्त होने पर भी, बिना माता-पिता के मै यहाँ एकाकी हूँ !

व्यवस्थापिका ने उसे छाती से चिपटा लिया। उनका हृदय भी मानो पुत्री के दु:ख से व्याकुल हो उठा। वह बालकपन से ही बड़े प्रयत्न के साथ वैधव्य की वेदना अपने हृदय में छिपाए आ रही थी। अपने वात्सल्य-भाव की तृप्ति वह छोटी-छोटी बालिकाओ की सेवा से ही कर लिया करती थी। जब कभी उनके हृदय की करुणा को आँसू बनकर निकलने का अवसर मिलता तब वह अपने आपको धन्य समझती। ऐसा एक अवसर विनोद मे ही उन्हे आज मिल गया। उनका बाँध भी रोके न रुका। उन्होंने चचना को बलपूर्वक अपने वक्ष में दबा लिया और उसके सिर पर टप-टप-टप अनेक आँसू ढाल दिये।

दोनो क्षण भर निस्तब्ध रही। बाद को व्यवस्थापिका ने अपने आपको सँभालकर, चुपके से अपने आँसू पोछकर, चंचला के आँसू पोछ दिये।

चंचला अपना पत्र लेकर चली गई, परन्तु व्यवस्थापिका को यह अवसर कई दिन बाद मिला था, अतएव उन्होने अपने कमरे का द्वार बन्द कर बहुत देर तक उसे नही खोला। कदाचित् हृदय में सचित व्यथा को निकालने में ही उन्हे इतना समय लगा होगा।

"प्रिय बहिन !"—पत्र में यह सबोधन देखते ही चचला का हृदय उछल पड़ा। उसके न कोई भाई था और न बहन। अनेक बार दिल मसोसते हुए उसने भाई-बहन के अभाव का अनुभव किया था। भइया-दूज और रक्षा-बधन जैसे त्यौहार तो मानो उसके हृदय के दैन्य को ही प्रकट करने के लिए आते रहे थे। आज उसे "बहिन" कहने वाले किसी भाई का आगमन-सा प्रतीत हुआ। उसने आगे पढ़ना शुरू किया—

"मै अपने जीवन में यह पहला पत्र डाक द्वारा भेज रहा हूँ। तुम जानती हो, ससार में मेरे लिए एक व्यक्ति भी ऐसा नही रहा जिसे मैं पत्र लिखता और जिसके सम्मुख इस साधन द्वारा अपने मनोभावो को प्रकट करता . . . .।"

चंचला के मन में करुणा का उद्रेक हुआ।

".. आज सुबह मै तुम्हे लिखने बैठा तो मेरे सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। मैं उलझन में पड़ गया कि तुम्हे क्या लिखकर संबोधित करूँ ! अनेक शब्द मेरे मन मे आये और चले गये। निर्णय पर आना असभव मालूम

पड़ने लगा। आरम्भ में ही इस उलझन में पड़ जाने के कारण जी में आया कि लिखने का विचार ही छोड दूँ। आख़िर कागज़-कलम अलग रखकर दूसरे कामों में लग गया .. ।"

चंचला जोर से हँस पड़ी। उसका हृदय बोल उठा—"खूब! आप अभी तक वैसे ही बुद्धू बने हुए है!" उसने पत्र आगे पढा—

" .. परन्तु तुम हँसोगी..... "

चंचला फिर हँसी। मन-ही-मन उसने कहा—"नहीं तो क्या रोऊँगी!" और फिर पढ़ना शुरू किया—

" परन्तु तुम हँसोगी—जैसे-जैसे मै अपनी इच्छा को दबाने की कोशिश करता वैसे-वैसे ही वह ज्यादा बढती जाती थी। आख़िर लिख डालने का संकल्प करके फिर से कागज़-कलम उठाकर बैठ गया। मन में थोड़ी-सी बहादुरी आई "

"बलिहारी इस बहादुरी की"—चंचला ने गुदगुदी के साथ महसूस किया। फिर—

" . मन में थोडी-सी बहादुरी आई और सोचा कि यह कौन-सा बड़ा भारी मसला है, सीधे-सादे नाम से ही क्यो न सम्बोधित करूँ? परन्तु यह बहादुरी भी बहुत देर टिक न पाई। फिर विचार बदल गया—केवल नाम से कैसे सबोधित करूँ? अब तो तुम बडी हो गई होगी। विशेषण जोड़कर "प्रिय चंचला" लिख देना भी बडा उद्धततापूर्ण और रूखा जँचा। इसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति तो होती ही नही! आख़िर 'प्रिय बहिन' पर आकर दिल रुका। क्षणभर के लिए बड़ा सतोष हुआ। परन्तु . .."

पढते-पढते चंचला खिन्न हो उठी—इसमें भी "किन्तु-परन्तु की गुंजाइश है ही। कितना अच्छा सबोधन! कितना अच्छा रिश्ता! इससे भी सतोष नहीं! ठीक ही है, बहन की कितने लोग कामना और चिन्ता करते हैं! बहन भले ही भाइयो के लिए प्राण देने को तैयार रहे ....!"

" परन्तु, वह केवल क्षण भर के लिए ही था। मुझे यह सम्बन्ध झूठा मालूम हुआ। दूसरे-दूसरे माता-पिता से उत्पन्न लड़कों और लड़कियों के बीच का यह रिश्ता पल सकता है? क्या इसके पालन के लिए उन्हे अनावश्यक —और फिर भी आवश्यक—घोर मर्यादाओं का पालन नहीं करना पड़ता? क्या ऐसा करने के लिए उन्हे दूसरों की कृपा पर निर्भर नही रहना पडता? और फिर, व्यावहारिक रूप में समस्त मर्यादाओं का पालन करते हुए, अपने स्वजन-

परिजनों और समाज की कृपा प्राप्त करके भी ऐसे कितने बहन-भाई जीवन मे एक दूसरे के काम आ सकते है ? "

चचला की आँखो पर से मानो पर्दा हट गया। उसके मन ने पत्र में व्यक्त तर्क का समर्थन किया। उसके चेहरे पर निराशा की एक स्पष्ट रेखा खिच गई। उसने पढना जारी रखा —

" . तुम महसूस करोगी कि इस रिश्ते के मूल मे ही निराशा की शिला प्रस्तुत है। काश बहन होती ! मन ने एक बार फिर झोका खाया। उस रिश्ते के विचार को खदेड भगाने की इच्छा ने ज़ोर पकडा। किन्तु, यह नही तो क्या ? कोई दूसरी बात सूझ न पडी। यह रिश्ता निराशामय है, अशत झूठा और विडबनामय है, फिर भी दूसरे तमाम रिश्तो से अधिक काम-चलाऊ और सरल है। इसलिए, तमाम त्रुटियो को महसूस करते हुए भी मैंने इसी को स्वीकार कर लिया .. ।"

बालिका की निराशा अब पूर्ण हो गई—सचमुच ही यह रिश्ता कच्चे धागे के समान कमज़ोर बना दिया गया है। आह ! यदि लडको और लडकियो के बीच भाई-बहन का रिश्ता भी मज़बूती के साथ न गँठ सके तो और कौन-सा रिश्ता सच्चा हो सकता है ? दूसरे किस रिश्ते में इतनी पवित्रता और सरलता है ? संसार का दुःसाध्य त्याग, मानव की कठिन तपस्या, हृदय की तरल सद्-भावना, प्रकृति का सरल-सुलभ प्रेम—सभी तो एक साथ इस रिश्ते में भरा हुआ है। फिर भी मनुष्य इसे सहन क्यो नही कर सकता ? मनुष्य का हृदय इतना शंकित और इतना संकुचित क्यो होता है ? .. ...लम्बी ऊहापोह के पाश्चात् पत्र-वाचन आगे बढ़ा—

"तो आखिर, 'प्रिय बहन !' यह भूमिका बहुत लम्बी हो गई। तुम पढ़ती-पढ़ती ऊब गई होगी। क्षमा करना। इधर मैं कई दिनो से बराबर सोच रहा था कि तुम्हें एक पत्र लिखूँ। परन्तु न जाने क्यों लिख न पाया। आज लिखने बैठा तो उपर्युक्त रिश्तेदारी की भावनाओं में बह गया। उन्हे रोका तो अब सूझता ही नही कि क्या लिखूँ ? सोच रहा हूँ कि जब कोई बात लिखने को थी ही नहीं तो इतना उत्सुक क्यों हो रहा था। कुछ भी हो, अब इस पत्र को भेज अवश्य दूँगा।"

"तुम्हें वहाँ गए छः वर्ष व्यतीत हो चुके है। इस बीच तुम एक बार भी घर नही आईं। जब कभी तुम्हारे पिता जी से तुम्हारे समाचार मिलते है तो बड़ी प्रसन्नता होती है। इस बार जब से वह तुम से मिलकर आए तब से तुम्हारी बहुत प्रशंसा करते रहते है। तुम्हारे बारे में बातें करते करते वह गद्गद् हो जाते

है। वह महसूस करते है कि पूरी शिक्षा लेकर जब तुम वहा से निकलोगी तब सारे देश मे तुम्हारी ख्याति फैल जायगी ।"

चचला की भावनाएँ उमड़ पडी। माता-पिता का रूप उसके सामने आ गया। उनके प्रति उसका हृदय प्रेम और कृतज्ञता से ओतप्रोत हो गया। बचपन से अब तक का अपना सारा जीवन उसने याद किया—पिता ने मेरे लिए कितने कष्ट सहे हैं। और मा का मुझ पर कैसा अक्षय प्रेम है! भगवन्! मेरे माता-पिता की मनोकामना पूरी करो। मुझे शक्ति दो मैं उनकी इच्छा के अनुकूल बनूं! मेरे कारण मेरे माता-पिता गौरवान्वित हो और दीर्घकाल तक सुखमय जीवन व्यतीत करे!—पत्र मे आगे लिखा था—

" तुम्हारे पिता जी की बातो से मेरे सामने हम दोनों के बालकपन की तमाम स्मृतियाँ मूर्त्त रूप मे आकर खड़ी हो जाती हैं। हम दोनो के बीच की लडाइयाँ, बार-बार तुम्हारा रूठना और मेरा तुम्हे मार-मारकर भाग जाया करना आज सोचने में बड़ा मधुर मालूम होता है। तुम्हे भी तो याद आती होगी? परन्तु मुझे भय है कि तुम एकदम गंभीर न बन गई हो। और कही मुझे भी भूल न गई हो। क्या तुम पत्रोत्तर दोगी?—तुम्हारा भाई, जीवनचंद्र।"

चचला ने पत्र समाप्त करके उसे यत्न से रख दिया और वह दूसरे कामो मे लग गई। परन्तु किसी काम में उसका मन न लगा। एक गहरी वेदना और व्याकुलता से उसका हृदय भर गया। कभी वह अत्यन्त खिन्न दीख पडती, कभी सहसा प्रसन्न। उसके अन्तर में कोई गम्भीर मथन होता रहा।

आखिर पत्र मे कौन-सी ऐसी बात थी जिससे वह इतनी उद्विग्न हो गई? उसने दुबारा पत्र को पढ़ा, तिबारा पढा और फिर कई बार पढ़ा, परन्तु किन स्थलों पर पहुँचकर उसका मन अटकता था? उसका मन संतुष्ट क्यो नही होता था?

चंचला चौदह वर्ष की हो चुकी थी। स्वस्थ और भावुक थी। प्रकृति के सौदर्य और उसकी मादकता ने उस पर अपना असर डालना शुरू कर दिया था। फूलो और पत्तियो में, बाग और तड़ाग में अब वह रस ढूँढने लगी थी। कौए की कॉव-कॉव अब स्पष्टत: उसे कर्कश मालूम होती, किन्तु जब कही कोयल बोल जाती तो उसका हृदय उसके सदेश को समझने के लिए आतुर हो उठता। टाँके में पड़ी हुई रग-बिरंगी मछलियाँ, बाग में नाचने वाले मोर और क्रीडा करते हुए सरसो के युग्म अब उसके अन्दर सकोच पैदा कर देते। मेघो से, चाँदनी से, अँधेरिया से, सूर्य की किरणो से अब वह एक ही प्रश्न करना चाहती—तुम अपने अदर कौन-सा रहस्य छिपाए हुए हो? एकान्त उसे प्रिय

लगने लगा था, परन्तु जब कभी वह एकान्त मे होती और उसके पास कोई आ जाता तो वह चौक पडती और फिर झिझक जाती ।

ऐसी थी चचला की अवस्था । फिर क्या आश्चर्य कि वह अपने शैशव के साथी का, जो अब तरुण है, प्रथम और भावुक पत्र पाकर आकुल हो उठी ?

हाँ, उसने सोचा कि जीवन कितना अच्छा लिख लेता है । परन्तु बहन-भाई के रिश्ते के सबंध मे उसने जो कुछ लिखा है वह क्या ठीक है ? क्यो भला यह रिश्ता पाला नही जा सकता ? बादशाह हुमायूँ ने कितनी अच्छी तरह मेवाड की महारानी कर्मवती के साथ अपना भाई का रिश्ता निभाया था ! खडग बहादुरसिंह का किस्सा तो अभी ताजा ही है ।

वह अपने कमरे के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमने लगी । कोई सामने आ जाता तो उसे अच्छा न लगता, इसलिए उसने कमरे का दरवाजा बद कर दिया । अब उसे विचार करने के लिए अच्छा मौका मिला ।

वह अपने मन की व्याकुलता को स्पष्टत समझने लगी । उसने सोचा, पत्र मे ऐसी बात ही कौन-सी है कि मै बेचैन हो जाऊँ ? बहिन मानना न मानना जीवन के अधिकार मे है । वह मुझे कुछ भी माने, मुझे इससे क्या ? परन्तु क्या मुझे अधिकार है कि मै उसकी भावनाओ का उत्तर न दूँ ? उसने मुझे प्रथम पत्र लिखा है । बडी आशा से वह उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता होगा । केवल सभ्यता के नाते भी तो मुझे उसको उत्तर देना ही चाहिए । मालूम होता है, मेरे माता-पिता उसे प्यार करते है । कही उनकी ही प्रेरणा से उसने मुझे लिखा हो तो ?

माता-पिता का स्मरण होते ही बड़ी-बड़ी आकाक्षाएँ उसे धरती से उडा चलीं । क्या मै सचमुच बापू और अम्मा की आशाओ को पूरा कर सकूँगी ? मे जरूर करूँगी । पढ-लिखकर मै पैसा कमाऊँगी और बापू से कहूँगी—बापू, मुझे ही आप अपना लडका समझिये । मेरे भाई नही है तो क्या हुआ ? मै स्वय ही लड़के की सब जिम्मेदारियाँ अदा करूँगी । और जब बापू कमाने के कष्ट से मुक्त हो जायँगे तब मुझे कितना आनन्द होगा ! रोज रात को मै अम्मा और बापू के पैर दावा करूँगी । कितना सुख होगा उन्हे ! परन्तु अम्मा क्या उस समय भी मेहनत करने से छुट्टी न पायेगी ? उन्होंने कितना कष्ट सहा है ! नही, मै स्वयं घर का सब काम कर लिया करूँगी । अम्मा और बापू सिर्फ . ! तो वे बैठे-बैठे अपना दिन भर का समय काटेंगे ? यह तो उनके लिए सजा हो जायगी ! घर मे कोई बच्चे भी तो नही . ! परन्तु मेरा तो विवाह हो जायगा ! फिर भी क्या मै बापू और अम्मा की सेवा

कर सकूँगी ? कौन जाने कैसा घर मिलेगा ! मेरी चलेगी कि नही ! तो क्या मैं कुछ भी न कर सकूगी ? नही, यह नही हो सकता । मै उनकी सेवा अवश्य करूँगी । यदि मै विवाह करूँ ही न तो ? बापू से कहूँगी कि आप अपना कमाना-धमाना छोडकर हरिजनो की सेवा में लग जाइये । अम्मा भी स्त्रियो के बीच काम करेगी । उन दोनो को क्या इससे सतोष न होगा ?

भोजन का समय हो चुका था । सभी बालिकाएँ भोजन-गृह मे पहुँच चुकी थी । आज परोसने की जिम्मेदारी चचला पर थी, परन्तु उसने घंटी सुनी ही नही । वह अपने विचार और कल्पना के सागर में निमग्न रही । एक बालिका ने आकर जब उसका द्वार खटखटाया तो वह चौक उठी । जल्दी से पत्र को तकिया के नीचे छिपाकर उसने दरवाज़ा खोला और फिर कृत्रिम हँसी हँसती हुई शीघ्रता के साथ वह उसके साथ बाहर निकल गई ।

× × ×

चचला ने जीवन को पत्र लिख दिया—

प्रिय जीवनचन्द्रजी,

सादर नमस्ते ! आपका कृपा-पत्र मिला । मैने स्वप्न में भी कभी आपका पत्र पाने की आशा न की थी । अतएव सहसा उसे पाकर आनन्द भी हुआ और कौतूहल भी ।

आपने भाई-बहन के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है । यो तो इस रिश्ते से अच्छा कोई दूसरा रिश्ता है ही नही, किन्तु आपको मै बाल-सखा ही मानना चाहती हूं । मेरे कोई सहोदर नही है । यह अभाव मेरे मन में एक लालसा जाग्रत रखता है । आपको बन्धु-रूप मे पाकर कही वह नष्ट न हो जाय । इसलिए मेरा और आपका जो सम्बन्ध है वही कायम रहे । कृपा कर आप मुझे नाम से ही सबोधित किया कीजिये ।

आपकी शुभेच्छुका,
चचला

५

रंग में भंग

गुरुकुल में वसन्तोत्सव की तैयारियाँ हो रही थी। वहाँ के छोटे-से ससार में वसन्त मानो सजीव रूप धारण करके उपस्थित हो गया था। जगह-जगह लगे हुए पौधे मस्ती बिखेर रहे थे और मदमाती हवा उमगो और कल्पनाओ का नया ससार निर्मित कर रही थी। वसती रग के वस्त्र पहने हुए छात्राएँ ऐसी मालूम होती थी मानो वसत का साम्यवादी सदेश पूरा कर रही हों।

सभा-भवन में एकत्रित होकर कुछ छोटी-छोटी छात्राएँ सगीत एवं नाट्य के कार्यक्रम की तैयारी कर रही थी। कुछ छात्राएँ तोरण और बन्दनवार बाँध रही थी, कुछ भवन को सजा रही थी और कुछ रगभूमि की रचना में निमग्न थी।

एक छोटी बालिका सुमधुर कंठ से मनोहर अभिनय के साथ गीत गा रही थी। चंचला सितार बजाकर उसे सिखा रही थी। नाचते हुए चारो ओर घूमकर और हाथ फैलाकर बालिका ने गाया—

"फिर फूलो वाली ऋतु वसन्त की आई।'

चचला ने कहा—"बहुत ठीक। थोडा और धमक के साथ शुरू करो।

बलिका ने उसके कहने के अनुसार फिर गाया। इस बार उसने अँगुलियों को जरा गोल करके फूलो की मुद्रा भी दिखाई। चंचला बहुत प्रसन्न हुई और बालिका दूसरे चरण पर बढ़ी—

"फिर फूलो वाली ऋतु वसन्त की छाई।"

बालिका ने चारो ओर घूमने की गति मन्द कर दी और 'छाई' पर अपने दोनो हाथ खोलकर दाहिनी ओर से बाईं ओर को लहराये। चंचला ने प्रसन्न होकर कहा—"खूब!" अब दोनो कड़ियो को एक साथ गाओ। बालिका ने आज्ञा का पालन किया और गीत आगे बढ़ा—

"आई दक्खिन से हवा हरस की माती।
भर गई पुलक से दुनिया भर की छाती।
आगमनी सुख की कोयलिया ने गाई॥ फिर फूलो ..॥"

गायन सुनकर बहुत-सी बालिकाएँ वहाँ एकत्रित हो गई और सब अपना-अपना आनन्द व्यक्त करने लगी। बालिका ने गाया—

"हँस पड़े फूल, खिल गईं कली रस-भीनी।
टेसू ने शोभा कमल दलो की छीनी।
छूकर सरसो का गात वात लहराई॥ फिर फूलो ॥"

अभिनय में कोई त्रुटि नही थी। चचला ने कहा—"अपने चेहरे को और भी प्रसन्न रखो।" बालिका आगे बढी—

"भर गया किरन के साथ लहर मे सोना।
हो गया अनोखा जग का कोना-कोना।
हर दिशा सुधा से मानो गई नहाई॥ फिर फूलो ..॥
लो, उतरा सुख का कटक आम के वन मे।
बस गई मौर की महक हमारे मन मे।
बज उठी अचानक भौंरो की शहनाई॥ फिर फूलो .॥"

'शहनाई' के बाद बालिका ने ऐसा अभिनय किया मानो वास्तव में शहनाई बज रही हो। उसे देखकर उपस्थित बालिका-समाज खिलकर हँस पड़ा। बालिका ने गायन जारी रखा—

"हर जगल ने मगल का साज सजाया।
अपनी पृथ्वी से नभ भी आज लजाया।
मधु-ऋतु ने इसको विजयमाल पहिनाई॥ फिर फूलों. ॥
हम चले सुने कोयल की मधुरी बोली।
खिल उठे कली की तरह हमारी टोली।
भर जाय हमारे गीतो से अमराई॥ फिर फूलों ..॥"

गायन समाप्त हुआ और उपस्थित बालिका-समाज ने जोरो से तालियाँ पीटी। चचला ने दौड़कर बालिका को हृदय से लगा लिया।

एक बालिका ने चंचला की प्रशंसा करते हुए कहा—"बहन, आपने इसे खूब सिखाया है!"

"वाह-वाह!" चंचला ने उत्तर दिया—"गुणी को एक ओर रखकर आप सगी-साथियो की प्रशसा कर रही है! क्या वह मेरे सिखाने से इतना अच्छा नाचती-गाती है? यह तो उसकी स्वाभाविक कला है।"

"तो क्या आपके बिना सिखाये ही वह यह सब सीख गई ?"

"बेशक ! मैंने तो जरा-सा सहारा-भर दिया है ।"

इतने ही मे एक दूसरी छोटी लड़की बोल उठी—"दीदी, कल आपकी वर्षगाँठ है न ?"

चचला को स्वीकार करना पडा ।

"तो आपका भी कल नृत्य करना होगा।"—और सब बालिकाओ ने इस आग्रह मे अपना स्वर मिलाया । चंचला ने बहुत खिसकना चाहा पर उसकी एक न चली । आखिर उसने हामी भर दी ।

उत्साह मे उत्साह की वृद्धि हुई । आतुरता के साथ 'कल' की प्रतीक्षा होने लगी । और वह कल आया । बहुत-सा कार्यक्रम सम्पन्न हो गया । सारे समाज में आनन्द का स्रोत उमड रहा था । बालिका के गायन और नृत्य ने दर्शको को मुग्ध कर दिया था। अब चचला की रगभूमि पर आने की बारी थी।

समारोह की सयोजिका ने रगभूमि पर आकर घोषित किया—"अभी-अभी जो नृत्य और सगीत हो चुका है और जिसने आपके हृदयो मे आनन्द की लहर दौडा दी है उसकी तैयारी का श्रेय हमारी जिन चचला बहन को है वह स्वय अब रंगभूमि पर आकर अपनी वर्षगाँठ के उपलक्ष मे कला का प्रदर्शन करेंगी।"

दर्शकगण उत्सुकता के साथ चचला के रगभूमि पर आने की प्रतीक्षा करने लगे । धीरे-धीरे रंगभूमि के अन्दर से घुघरुओ की झंकार आनी शुरू हुई । एक बार ज़ोर की झंकार के बाद पट उठाना शुरू हुआ । रंगभूमि पर घुँघरू बँधे हुए दो चंचल चरण दिखलाई दिये । पट और उठा । गति बढाते हुए चरण कुछ और अधिक दिखलाई पड़े । पर उनके साथ अब शीघ्रता से प्रवेश करने वाले दो चरण और उपस्थित हो गये । कुछ बात हुई । सन्नाटा हुआ । पर्दा फिर से गिर गया ।

गुरुकुल की आचार्या रंगभूमि के बाहर दर्शको के सामने आकर खड़ी हुईं । उनकी मुखाकृति पर असाधारण गम्भीरता और क्लेश की छाया थी । उन्होंने टूटे हुए शब्दो में दर्शको से क्षमा माँगते हुए कहा—"चचला अपना कार्यक्रम पूरा न कर सकेगी । उसके घर से अभी-अभी तार आया है । उसके पिता हैजे से सख्त बीमार हैं । उसे तुरन्त बुलाया गया है । गाडी के लिए बहुत थोड़ा समय बाकी है । उसे इसी समय यहाँ से रवाना होना होगा । ."

सारे समाज में निराशा तथा उदासी छा गई । थोडी देर के लिए उत्सव

रुक गया। बाद को वह फिर शुरू हुआ परन्तु तब न उसमे रस शेष रह गया था और न उत्साह।

चचला के हृदय पर असावधानी में यह वज्राघात हुआ था, जिसकी पीडा से वह अत्यन्त विकल हो उठी थी। वह गई। उसकी सखियाँ भरे दिल से उसकी याद करने लगी। उन्हे उसके शीघ्र ही लौट आने की आशा थी। आशा ! तू कितनी वचक है !

× × ×

रेलगाडी धड-धड करती जा रही थी और चचला के मन के अदर एक दूसरी रेलगाडी ठीक उसी तरह धडधडा रही थी। उसकी दृष्टि के सम्मुख अनेकानेक वृक्ष, तार के खभे, खेत, खलिहान, नदी और जगल आते और चले जाते और उसका मन एक गुह्य वेदना से पीडित होकर महसूस करता कि यह सब दृश्य कितना क्षणिक है ! साँस लेते-लेते कितनी चीजे दृष्टि से गुजरती चली जाती है। किसी-किसी दृश्य पर जाकर उसका मन अटकना चाहता, परन्तु ऐसे दृश्य मानो और भी जल्दी दृष्टिपथ से ओझल हो जाते। जो प्यारा है वह जल्दी जाता है ! उसका हृदय एक बार काँप उठा। क्या यह सच है कि जो प्यारा है वह जल्दी जाता हे ? नहीं नही ! जो प्यारा है उसे पकड़कर रखने का हक होता है। उसका सन्निकर्ष चिरतन होता है। कोई शक्ति उसे छिपा नही सकती। जो प्यारा है उसके लिए बलिदान किया जाता है। बलिदान अनेक को एक में परिवर्तित कर देने की शक्ति रखता है। वह खोई हुई वस्तु से साक्षात्कार करा देता है, अँधेरे मे प्रकाश और अभाव मे भाव उत्पन्न कर देता है।

एक स्टेशन पर गाड़ी ठहरी। एक पिता अपनी नव-विवाहिता पुत्री को उसके पति के साथ विदा करने के लिए स्टेशन पर आया था। बेटी को चचला के डिब्बे मे बैठाता हुआ वह रो पड़ा। बेटी अपने घूँघट के अन्दर से हृदय चीरकर निकाल रही थी। देखते-देखते गाडी ने सीटी दे दी। युवक दामाद से नितान्त दीनता और करुणा-भरे स्वर मे ससुर ने कहा—"बेटा, यह लड़की मुझे बहुत प्यारी है; इतनी छोटी उम्र मे ही मुझसे अलग हो रही है; अब यह तुम्हारे हाथ में है; इसे अच्छी तरह रखना !"

चंचला ने सोचा—आह ! पिता-पुत्री के हृदय मे विछोह की कितनी वेदना है ! कितना प्रेम है इनमे ! और यह बालिका अभी कितनी छोटी है ! क्या एक दिन मै भी ऐसे ही जाऊँगी ? क्या मेरे माता-पिता भी इसी तरह दुखी होगे ? नही नही; मै नही जाऊँगी। मै विवाह ही नही करूँगी। मेरे

बहुत देरी है; और उज्जैन भी तो वह अपने समय पर ही पहुँचेगी ? हडबडाहट करने से क्या लाभ ?

चचला को होश हुआ कि वृद्ध महाशय ठीक तो कहते है। परन्तु वह रेलगाडी पर और उसके प्रबन्धको पर मन-ही-मन नाराज होने लगी। क्यों रेलगाडी इतनी देरी से रवाना होगी ? क्यों ड्राइवर उसे जल्दी नही चला देता !

और वह गाडी पर बैठ गई। और बहुत देर की आतुर अपेक्षा के बाद गाड़ी चल दी। उसने ठंढी साँस ली। अब वह तार के खम्भे गिनती, बीते हुए और बाकी मार्ग का हिसाब लगाती हुई चली। एक दो . ... .. सात . ..अब एक मील रास्ता और कट गया। अब छः स्टेशन बाकी रहे। और इसी प्रकार वह आगे बढने लगी।

एक बच्चा प्यासा था। एक स्टेशन पर पानी पीने लगा। चचला बोल उठी – जल्दी पी लो, भाई !—मानो उसके पानी पीने के कारण गाडी रुकी हो ! उसे होश हुआ तो लज्जित हुई।

और उज्जैन स्टेशन जैसे-जैसे निकट आता गया, उसकी आतुरता बढती ही गई ! उसके मन में झलक-सी आई—कही पिताजी . . ! और उसने अपने मन को झिडककर वही रोक दिया। कैसी अशुभ बात सोचती हूँ मैं ! सभी लोग बीमार होते है, फिर क्या उनके बारे मे ऐसी ही अशुभ बात सोचना चाहिये ? बापू अच्छे होगे। वह मुझे लेने स्टेशन पर आयेगे।

उसका मन फूल उठा।

उज्जैन स्टेशन आ गया। गाडी ठीक तरह से खडी भी न हुई थी कि वह नीचे कूद पडी और गिर पडने से उसके पैर में जो चोट लग गई थी उसे बिना देखे ही खड़ी हो गई और अपना बिस्तर उठाकर, इधर-उधर आतुरता के साथ अपने पिता को खोजने लगी। दूर पर उसे एक साफा दिखलाई पडा। उसने सोचा – वही है, पिताजी स्टेशन पर आ गये है। हाँ, वही है। वही चाल है, वही कद है। वैसे ही हाथ बढा-बढाकर किसी से बातें कर रहे है। वह पुलकित हो उठी और दौड पड़ी। दूर से ही उसने पुकारा—बापू ! और वह व्यक्ति कुली के सिर पर वहाँ पड़ा हुआ सामान रखाने लगा। चचला ने निकट पहुँचने पर देखा कि वह कोई दाढी वाले वृद्ध थे, जो इसी गाडी से आये थे। वह स्तब्ध रह गई। बाद को इधर-उधर नजर फैलाकर जल्दी-जल्दी स्टेशन से बाहर ताँगा के पास पहुँच गई।

× × ×

तॉगा, जैसे सैकडों कोसो की राह काटता हुआ, घर के सामने जा पहुँचा। चचला ने दूर से ही देखा कि मा बाहर के दरवाज़े के पास नाली के किनारे बैठी कुल्ला कर रही है। उसने दूर से ही पुकारा—अम्मा ! और दौड़-कर उसकी देह से लिपट गई। मा का मुख सूख गया था। चंचला से मिलकर कुछ बातें करने के बदले, उसने अपनी आँखों से आँसू ढालने शुरू कर दिये।

"अम्मा, तुम कितनी दुर्बल हो गईं !" रुँधे हुए कठ से चंचला ने कहा।

"मेरी क्या बेटी ! जा, अपने बापू से मिल ले। हम पर ऐसी मुसीबत कभी न आई थी।"

"बापू कैसे है ?"

"तू खुद जाकर देख ले। मै भी अभी आई।"

चचला तुरन्त अन्दर चली गई। मा फिर नाली के किनारे जा बैठी। परन्तु वह वहा क्यो बैठी—यह उससे कौन पूछता ? जो भी थे उन सबका ध्यान रामलालभाई की ओर था। कौन जानता था कि प्रेम रस्सी के दोनो छोरों को चुपके-चुपके समेट रहा है ? शिवरानी को दुबारा उलटी हुई और जिस गड्ढे में उसने उलटी की थी उसे मिट्टी से भर के, मुँह-हाथ धोकर, जल्दी-जल्दी वह अन्दर चली गई।

चचला रामलालभाई की खाट के पास पहुँची तो देखा कि वे मूर्च्छिता-वस्था में हैं। उसके हृदय की ठेस सौगुनी बढ गई। कुछ देर वह सन्नाटे में आकर खड़ी रही और फिर अधीर होकर उसने अपने दोनो हाथो से पिता के मुख को अपनी ओर घुमाकर पुकारा —'बापू !' परन्तु 'बापू' को होश कहाँ था कि वह उत्तर देते ! चंचला के मन मे एक साथ अनेक विचार दौड़ गये। आशकाओं और कुशंकाओं से वह हिल उठी। क्या बापू गए ? नही, यह नही हो सकता। बापू जा नही सकते। मै उन्हे न जाने दूँगी। उसने उनके गाल पर अपना गाल लगाकर फिर थोड़ा हिलाकर कहा—"बापू ! आँखे खोलिये। मै आ गई।"

रामलालभाई ने आँखें थोडी खोली। चचला ने किंचित् प्रसन्न होकर फिर कहा—"बापू ! मै आ गई।"

रामलालभाई ने प्रयत्न करके बडे कष्ट के साथ उसकी ओर देखा और बोले—"कौन ? बेटी ? आ गई ? मै बहुत खुश हूँ।" उनकी आवाज़ ठीक तरह से सुनाई भी न पडी और उन्होंने फिर आँखें बन्द कर लीं।

चचला हताश होकर वहाँ से जरा सरकी तो देखा कि मा खड़ी-खडी आँसू बहा रही है। दोनों के पास मानो एक ही सम्पत्ति थी और वे उसे अजस्र रूप से खर्च कर रही थी। आखिर माँ ने कहा—"जा बेटी, तू स्नान कर

ले, तब तक डाक्टर आते होंगे ।"

और चंचला जैसे ही अन्दर चली, वैसे ही पिता ने अपनी कमजोर और टूटी हुई आवाज़ में उसे याद किया । वह दौड़कर उनके पास पहुँच गई । पिता ने कहा—"बेटी !" उन्होंने बडे प्रयत्न से अपना हाथ उठाकर उसके सिर पर रखा और कहा—"खुश रहो !" फिर उन्होंने अपनी पत्नी की याद की । वह सामने ही खड़ी थी । उसकी तरफ देखकर उन्होंने कुछ कहना चाहा, परन्तु शब्द होठो से न निकले । एक ज़ोर की हिचकी आई और उनकी आँखे विस्फारित हो गईं और वे शिवरानी पर जम गई ।

शिवरानी एक ज़ोर की चीख मारकर उनसे लिपट गई ।

चचला चीखकर जमीन पर गिर पड़ी ।

जीवन के साथ डाक्टर आये तो उन्होंने कहा—यह तो गये ही, परन्तु अब पत्नी और बच्ची को बचाना ज़रूरी है । शिवरानी की हालत नाजुक दीखती है ।

६

'विवाह न करूँगी'

रामलालभाई की मृत्यु से शहर और आस-पास के गरीबों ने महसूस किया कि उनका कोई सगा-सम्बन्धी बिछुड गया है। उन पर शोक की गभीर छाया छा गई। गरीबो मे एक तो सहज ही सहानुभूति अधिक होती है, दूसरे रामलालभाई ने अपना सारा जीवन उनकी सेवा में अर्पित कर दिया था। सेवा में ही उनका जीवन अटका था। जिस दिन अपनी बीमारी के कारण सेवा से वह वचित हुए उसी दिन उनका दिल टूट गया। उठने-बैठने की शक्ति न होने पर भी वे उजागर को न भूल सके थे। अनेक बार उन्होंने व्यग्र होकर पूछा था—"उजागर की हालत कैसी है? उसकी शुश्रूषा की ठीक व्यवस्था है या नहीं?" शहर में हैजा बहुत जोरो से फैला हुआ था। गरीबो के घर तो उसके भीषण ताण्डव की रगभूमि ही बन गये थे। धनिकों और मध्यम श्रेणी के लोगो के घरो से भी दो-चार व्यक्ति रोज उठ जाते थे। रामलालभाई दौड-दौडकर सबकी सुध लेते और यथा-साध्य सबकी सेवा करते थे। उजागर की सेवा करते-करते ही उन्हे खुद हैजे ने धर दबाया था और उज्जैन में जितनी अच्छी चिकित्सा हो सकती थी उतनी होने पर भी उनके प्राण-पखेरू उड ही गये।

धनिको और मध्यम श्रेणी के लोगों को उनकी मृत्यु से दु ख नहीं हुआ—ऐसा कहना गलत होगा। रामलालभाई के कारण हरिजनों और गरीबों के मुहल्ले, घर आदि साफ रहने लगे थे। वे धीरे-धीरे अच्छा व्यवहार करना सीख रहे थे। ईमानदारी और परिश्रमशीलता की भी उनमे वृद्धि हो रही थी। इससे लोगो को आराम मिलता था, लाभ होता था। केवल भय इतना ही था कि वे सगठित भी हो रहे थे, अपने अधिकारो को भी समझने लगे थे, इस-लिए भविष्य मे कभी कोई उपद्रव न खडा करें। सो, यह डर व्यक्तिगत रूप से लोगो को नही था, केवल उनके प्रतिक्रियावादी नेता चिन्तित थे। परन्तु

रामलालभाई की मृत्यु के इस दुःखद अवसर पर सब ने ही शोक प्रकट किया।

परन्तु, इस बीच उनकी पत्नी और पुत्री की ओर भी क्या किसी ने ध्यान दिया ? हाँ, डाक्टर साहब दो-तीन बार आए और वह शिवरानी को देख कर दवा की व्यवस्था करते रहे। चंचला को उन्होने शुश्रूषा के विशेष आदेश दे रखे थे और उसे सक्रमण से सावधान रहने की शिक्षा भी दी थी।

बेचारी चंचला ! सोलह वर्ष की अनुभवहीन बालिका ! कितना धैर्य रखती और कितनी परिचर्या करती ? दो राते जागते बीत चुकी थी। पेट मे अन्न तो दूर, एक बूँद पानी भी नही गया था। ऐसी बात नही कि वह अकेली हो, घर मे इस बीच अनेक स्त्री-पुरुष आये और जब एक चला जाता तो दूसरा आ ही जाता। ऐसा भी नही कि घर मे अन्न न हो या दूसरो ने भोजन भेज देने की आवश्यकता महसूस न की हो। परन्तु वह पिता कहाँ था जो इस घर मे असीम स्नेह से उसे अपने साथ बैठाकर खिलाया करता था ? और माता भी कहाँ अपने वात्सल्यपूर्ण रोष और आग्रह के साथ उसे परोसकर खिलाने को तैयार थी ? अब तो आग्रह की बारी उसकी थी; सो भी भोजन के लिए नहीं, दवा के लिए। अब प्रेम की भी बारी उसकी ही थी। और, क्या उसके प्रेम का प्रत्युत्तर कही से मिलता था ?

पिता ने धोखा दिया। जब वह उससे प्रेम करते थे तो वह तुरन्त उसका प्रत्युत्तर देती थी। परन्तु आज जब वह स्वयं उनके प्रेम और उनकी स्मृति मे व्याकुल हो रही है तब पिता कहाँ उसे प्रत्युत्तर देते हैं ? उसका प्रेम क्या व्यर्थ नही हो रहा है ? परन्तु क्या प्रेम व्यर्थ होता है ? लोग तो कहते है कि प्रेम आकाश को छेदकर उसके उस पार तक पहुँच जाता है। वह नई सृष्टि कर सकता है। फिर उसका प्रेम क्या उसके पिता के पास तक नही पहुचता ? क्या उसका प्रेम कमजोर है ? तो वह और क्या करे ? कैसे उसके पिता का प्रत्युत्तर उसे मिले ? तपस्या ? हाँ, निस्संदेह प्रेम के साथ तपस्या मिलनी चाहिए और वह तपस्या करेगी। वह अपने पिता का बच्चा हुआ काम पूरा करेगी। फिर भी क्या पिता उसके प्रेम का प्रत्युत्तर न देंगे ? यह हो नही सकता !

परन्तु स्वय पिता ने ही उसे क्यों भुला दिया ? उसके प्रेम में शक्ति नहीं तो उनके प्रेम में तो है ? उसमें तो तपस्या की भी कमी नही ? शायद वह अपनी अधीरता के कारण पिता की पुकार सुन ही नहीं पाती। पिता तो लगातार उसे पुकार रहे है। वह लगातार प्रत्युत्तर दे रही हे। परन्तु यह सब स्पष्टता के परे हो गया है। अपने स्थूल और परिमित शरीर को त्याग-कर पिता सूक्ष्म और अपरिमित में जा बसे है। उनका प्रेम भी सूक्ष्म और

अपरिमित मे परिणत हो गया है। वह उसे देखते हैं। उनका प्रेम उसके हृदय का स्पर्श करता हे, परन्तु वह उसे पहचानने मे असमर्थ है। पहचानने के लिए सूक्ष्म को देखने, सूक्ष्म को महसूस करने की शक्ति चाहिए।

और मा ? वह बेचारी पडी हुई अपने जीवन के पल गिन रही है। उसके प्राण उडकर वहाँ जाना चाहते है जहाँ परसो ही उसके जीवन की सब से बडी निधि पहुँच चुकी है। उस निधि के बिना वह यहाँ रह ही कैसे सकती है ? और वह आनन्दित है। इस लोक मे रहते हुए उसके और उसके प्राण-धन के बीच बहुत-सी वस्तुएँ, बहुत-से झमेले आ जाया करते थे। अब वह उन समस्त विघ्न-बाधाओ से मुक्त हो जायगी। अब वह अकेली अपने स्वामी की स्वामिनी बनेगी। विवाह के पहले दिन से ही वह कामना करती आई थी कि हम दोनो मे विछोह कभी न हो और अपनी इस लोक की यात्रा समाप्त करके हम दोनो एक ही साथ प्रभु के सम्मुख जाकर अपने कार्यों का लेखा-जोखा दें। उसकी यह उत्कट इच्छा पूरी होने को ही है। कदाचित् तुम उसे स्वार्थी कहोगे। शायद कहोगे कि वह कायर है। परन्तु क्या आत्म-समर्पण में स्वार्थ और कायरता होती है ? ससार विविधतामय है, असीम है। केवल सिरो की संख्या गिन-गिन कर ही उसमे हृदय का प्रेम वितरित नही किया जाता। साधारण मनुष्य के लिए यह भ्राति का मार्ग है। जो दिखाई देता है और समझ और पहुँच के अन्दर है, उसे प्रतीक मानकर जो ससार से प्रेम करते हैं वे व्यावहारिक व्यक्ति हैं। जो किसी प्रतीक के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देते हैं—चाहे वह प्रतीक अपने भौतिक रूप मे कितना ही स्वल्प क्यों न हो—वे अतीव महान् हैं।

शिवरानी को आनन्द-ही-आनन्द था ? सो बात नही। पति पर अपना ध्यान केन्द्रित करती हुई, बीच-बीच में वह उनके एकमात्र भौतिक चिह्न, एकमात्र मूर्त्त और प्राणमय सस्मरण चचला पर भी मँडलाती थी। वह सोचती, चचला को बीच धार में निराधार करके छोड जाने से मेरा आत्मार्पण पूर्ण नही होगा। उसके लिए मुझे जीना चाहिए और उसका यथा-सभव पालन करते हुए अपनी परम-निधि को भी प्राप्त करना चाहिए। फिर वह स्मरण करती कि मृत्यु भी अपनी लम्बी और आमत्रणमयी भुजाएँ फैलाकर मेरा स्वागत करने आ ही पहुची है। तब वह सुख में विभोर हो जाती। ऐसे ही किसी सुखमय क्षण में, होठो पर अपने अतर का आह्लाद विकसित करती हुई, वह मूर्छा के स्निग्ध अंचल में सरक गई।

माता-पिता की इस रुग्णावस्था में चचला को बहुत से लोगो से थोडी-बहुत सहायता मिली थी। मा की दशा ज्यादा बिगड जाने पर डाक्टर

साहब ने एक शुश्रूषकी को भी भेज दिया था, जिसने बड़े मनोयोग के साथ उसकी सेवा की। परन्तु चचला को जिस व्यक्ति की सहायता से सर्वाधिक धैर्य और संतोष प्राप्त होता, वह था उसका बाल-सखा जीवनचन्द्र।

जब माता की समवयस्का शुश्रूषकी ने समवेदना के साथ चंचला को धैर्य बँधाते हुए कहा कि बेटी, अब तुझे अपनी माता का चिर-वियोग सहन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए तो वह स्तब्ध हो गई। चार दिन पूर्व ही पिता की मृत्यु के कारण उसके हृदय का समस्त जल नेत्रो के मार्ग से प्रवाहित हो चुका था। अब वहाँ केवल अग्नि-ही-अग्नि शेष थी और वह भीतर-ही-भीतर धू-धू करके उसे जला रही थी। शुश्रूषकी की बात सुनकर मानो वह अग्नि भी शान्त हो गई और चचला नितान्त जड़वत् होकर बैठ रही। कण्ठ मे स्वर नही, शरीर में क्रिया-शक्ति नही, मस्तिष्क मे चेतना नही। सिर पकड़े वह जमीन पर कितनी देर तक वैसे ही बैठी रही, सो देखने का अवकाश किसे था?

सहसा जीवनचन्द्र ने पुकारा—चचला!

और चचला को सुध हुई। उसने उन्मुख होकर देखा। जीवन का चेहरा उतरा हुआ था। वह कुछ बोल न सकी और जीवन के मुख से भी कुछ देर तक कोई शब्द न निकला। कदाचित् दोनों बोलने के लिए एक-दूसरे का सहारा ढूँढ रहे थे। अन्त में जीवन से साहस बटोरकर कहा—"तुम्हे मा याद कर रही है।"

मा याद कर रही है! वह विद्युत्-गति से उठकर खड़ी हो गई। उसके मुख-मण्डल पर अकस्मात् एक दीप्ति दौड़ गई। एक बार उसे लगा मानो मा अच्छी हो गई। और वह इस विश्वास को छोड़ न सकी। जीवन से बात करने की उसे फुरसत नही थी। मा के कमरे को दौड़ी और सीधी उसके सिरहाने जाकर खड़ी हुई। बड़े प्यार से उसने मा के मुख पर झुककर कहा—"अम्मा! मैं आ गई। तुमने बुलाया है?"

मा ने कोई उत्तर न दिया। वह निर्निमेष नेत्रो से उसकी ओर देखती रही। चचला ने धीरे से अपना सिर उसकी छाती पर रख दिया और रुद्ध कंठ से कहा—"अम्मा! बोलो!" परन्तु हमेशा के अनुसार मा ने अपना हाथ उठाकर उसके सिर को छुआ भी नही। चचला के विश्वास को अब धक्का लगा—कहाँ मा अच्छी हो गईं! वह तो बोलती ही नही है!

"अम्मा! बोलो न!"—उसने हार्दिक अनुरोध और वेदना-मिश्रित स्वर में फिर कहा। परन्तु मा फिर भी एक ओर ही शान्त और निश्चल दृष्टि

से देखती रही। चचला ने परिताप के कारण इधर-उधर देखा। जीवन को वह उलाहना देना चाहती थी कि अम्मा ने तो मुझे बुलाया नही, फिर तुमने झूठ क्यो कहा। परन्तु जैसे ही वह पीछे की ओर मुडी, उसने देखा कि जीवन और शुश्रूपकी दोनो ही खडे चुपचाप आँसू ढाल रहे है। यद्यपि वह कुछ समझ नही सकी फिर भी एक छिपी हुई आशका से काँप उठी। उसने पूछा—जीवन, तुम रो रहे हो ? शुश्रूषकी बहन, आप भी ?

शुश्रूषकी तुरन्त वहा से दूसरे कमरे मे चली गई। उसने मुँह से कोई उत्तर नही दिया। जीवन ने रोते हुए कहा—चचला, मा अच्छी हो गई; वह सदैव के लिए अच्छी हो गई . !

चचला का हृदय धक् से हो उठा। गिरते-गिरते उसे जीवन ने सँभाल लिया। परन्तु उसे तुरन्त होश मे ले आना जीवन की शक्ति के बाहर था।

× × ×

चचला के पिता और माता की मृत्यु का समाचार पाकर उसके चाचा-चाची इन्दौर से आ गये थे। चचला ने समझा था कि मै अब चाचा-चाची की गोद मे रहकर उनका स्नेह पा सकूँगी। यह आशा असत्य सिद्ध न होती, यदि उसे माता-पिता तथा गुरुकुल की शिक्षा से आधुनिक प्रगतिशीलता के संस्कार प्राप्त न हुए होते। चाचा और चाची में नये की अपेक्षा पुराने सस्कार अधिक थे। वे समझते थे कि वह विवाह के योग्य हो गई है अतः यदि शीघ्र-से-शीघ्र उसका विवाह कर दिया जाय तो वह माता-पिता के वियोग को बहुत कुछ भूल जायगी। जातिजन और रामलालभाई के हितैषी जब उनसे चचला के भविष्य के सम्बन्ध मे कोई चर्चा करते तो उनका बस एक ही उत्तर होता—"भाई और भौजाई ने उसे आँखो की पुतली के समान पाला है। उनके न रहने से एकाएक उस पर वज्र टूट पडा। उसकी जिंदगी ही बदल गई। मुझ में क्या सामर्थ्य है कि उसे उनके ही समान पालूँ ? भाई रहते तो कोई राजा जैसा लड़का ढूँढकर धूमधाम से उसका ब्याह करते। अब जैसा भी हो, मुझे ही तो करना है। उनकी बर्षी के बाद निबटा दूँगा ।"

लोग उनकी इस शुभकामना मे हृदय से सम्मिलित होकर उनकी प्रशसा करते। कोई-कोई उन्हे लडको की सूचना देना भी आवश्यक समझते।

चचला की चाची भी पास-पडोस की स्त्रियो से आँसू बहा-बहाकर जेठ-जेठानी की प्रशसा करती और चचला के प्रति प्रगाढ़ स्नेह प्रदर्शित करती हुई इसी आशय की बाते करती।

चाचा और चाची के इन भावों मे सचाई थी, वेदना थी,—इसमे जरा भी सन्देह नहीं। चचला ने भी कभी इस पर शंका नही की। फिर भी धीरे-धीरे वह उनसे बचने लगी। चाचा-चाची ने उसके इस रुख को देखकर समझा कि मा-बाप की याद उससे भुलाई नही जाती। उसके इस अलगाव के अन्दर छिपी हुई कोई दूसरी वेदना भी हो सकती है, सो उनकी समझ के परे थी।

चचला मन-ही-मन कहती, बापू तो मुझे उच्च शिक्षा दिलाकर सेवा के मार्ग पर लगाना चाहते थे, परन्तु यहाँ तो शिक्षा का कार्य-क्रम समाप्त होता दीखता है। चाचा-चाची तो मुझे वापस गुरुकुल भेजने की कभी चर्चा ही नही करते। वे मेरा विवाह करके कदाचित् भार-मुक्त होना चाहते है।

विवाह की चर्चा उसे बिल्कुल अच्छी न लगती। परन्तु मन की वेदना बँटाने के लिए उसके पास कौन था? आठ वर्ष की उम्र से ही बाहर रहने के कारण यहाँ कोई उसका अतरग न हो सका था। ले-देकर हर बात के लिए जीवन ही था। सो, खुद होकर चचला ने उसका भी सम्पर्क कायम रखने का प्रयत्न नही किया। यदि वह स्वयं उसे पत्र न लिखता और उसके माता-पिता की बीमारी मे उनकी सेवा न करता तो चचला ने तो उसे भुला ही दिया था। अब, जब कभी जीवन उसे मिल जाता—और वह बहुधा मिलता रहता—तो वह अपने दिल का थोडा-बहुत दु.ख-दर्द उसे सुना देती और इस प्रकार उसे कुछ राहत अवश्य मिलती। जीवन हर तरह से उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता।

ऐसे ही अवसर पर गुरुकुल की आचार्या का बुलावा आ गया और चचला ने अपने चाचा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

"अब तुम मेरे ही साथ रहना, बेटी! लिख दो कि मै न आ सकूँगी।"—चाचा ने स्नेह दिखाते हुए कहा।

"थोडे दिनों के लिए और चली जाती तो अच्छा होता।"

"बेटी, तुम्हारे बापू के रहते हुए"—कहते-कहते चाचा का हृदय भर आया—"सब-कुछ सभव था, मै तो बहुत छोटा और ग़रीब आदमी हूँ।"

चचला ने गहरी साँस ली और फिर उसने कुछ सोचकर कहा—"अभी तो मेरी पढाई का बहुत खर्च नही होता। श्रीकृष्णभाई की कृपा से छात्रवृत्ति भी जारी है। सिर्फ चार-पाँच रुपयों की जरूरत बाकी रहती है—"

"मै तेरे लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ। भइया के चरणों के पास रहकर, उनका स्नेह प्राप्त करके, उन्ही की कृपा से मै पढा-लिखा हूँ। यह उनकी ही कृपा का प्रसाद तो है कि मै आज इज्जत के साथ चार पैसे कमाकर

अपना और बाल-बच्चो का पेट-पालता हूँ। तू उनकी एकमात्र यादगार है। मै तेरे लिए सब कुछ करता, परन्तु चार-पॉच रुपये माहवार भेजने मे भी तेरे छोटे-छोटे भाई-बहनो पर उसका असर पडे बिना न रहेगा। फिर भी तेरी इच्छा हो तो मै तुझे भेजने को तैयार हूँ।"

चचला कुछ कहना ही चाहती थी कि जीवन ने आकर उसके चाचा को अभिवादन किया। उसने बताया कि श्रीकृष्णभाई आये है और बाहर प्रतीक्षा कर रहे है। उनके साथ काशी के सेठ गंगाप्रसादजी भी है।

श्रीकृष्णभाई की सेवाओ के कारण उस प्रान्त का बच्चा-बच्चा उनके नाम से परिचित था। सभी उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। सेठ गगाप्रसाद की सेवाएँ अखिल भारतीय थी। उनके नाम से भी प्राय. सभी परिचित थे।

चंचला के चाचा शीघ्रता के साथ उठकर बाहर गये। उनके पीछे-पीछे चंचला भी चली गई। दोनो नेताओ ने उनके दु'ख से दु खी होकर उन्हें धैर्य देने का प्रयत्न किया। किन्तु सहानुभूति के इस लेप ने हृदय के घावों को तत्काल तो केवल उकसाने का ही काम किया। सारा वातावरण शोक से भर गया।

सेठ गंगाप्रसाद के मन पर चंचला की सरलता, सुबुद्धि और शील का बहुत अच्छा असर पड़ा। उन्होंने द्रवित होकर कहा—"बेटी, तेरा दुःख बहुत बडा है। मै उसे महसूस करता हूँ। परन्तु उससे घबराकर निराश नही होना चाहिए। ससार मे इसी प्रकार होता है। जो कुछ अनिवार्य है, उसे बिना विचलित हुए भोग लेने में ही बुद्धिमानी है। रो-रोकर जिंदगी काटने से केवल भार ही हाथ लगता है। संसार ऐसे लोगों से दूर भाग जाता है। क्या तुम मुझे अपना पिता नहीं मान सकती ? मेरे बहुत-सी लड़कियाँ है। उनमें तुम्हे भी शामिल-करके मुझे बहुत प्रसन्नता होगी. . .।"

चचला ने डूबते हुए आधार पा लिया। संतोष तो नहीं, परन्तु धैर्य उसे अवश्य मिला।

सेवा ही सेठ गंगाप्रसाद के जीवन का उद्देश्य और व्रत था। महात्मा गांधी के अनन्य भक्त, त्याग और तपस्या की सजीव मूर्त्ति, सरल, सौम्य, मृदु-भाषी—सेठजी की दृष्टि जहाँ भी जाती, ऐसे लोगों की खोज करती रहती जो देश की सेवा में अपना जीवन अर्पित करने के लिए उत्सुक हो। मनुष्य को एक निगाह से पहिचान लेना उनका सहज गुण था। वह कभी किसी के अवगुणों को बड़ा न मानते। गुण और अवगुण सभी में होते है और वह कहा करते कि गुणो में सहायक होना मेरा काम है, उनका उपयोग कर लेने की

मुझे जरूरत है। अवगुणों को देखते रहने से लोक-सग्रह हो ही नही सकता। उनकी सेवाएँ जैसी विस्तीर्ण थी वैसी ही बहुमुखी भी थी। खादी, ग्रामोद्योग गो-सेवा, राष्ट्रीय शिक्षा आदि अनेक क्षेत्रो मे पूर्ण लीनता के साथ काम करते हुए भी जब कभी देश की पुकार होती तो वह निर्लिप्त भाव से, मूक आज्ञाकारी के समान युद्ध-क्षेत्र में कूद पडते। महात्मा गाधी के विचारो को कार्यान्वित करने के लिए उन्होने काशी मे एक वनिता आश्रम खोल रखा था। सारे भारत से महिलाएँ और बालिकाएँ आकर उसमे विद्या प्राप्त करती थी। छात्राओ को सेठजी अपनी पुत्रियाँ मानते और उनके सुख-दुख, लाभ-हानि मे पिता के समान ही सम्मिलित होते थे। छात्राएँ उनका स्नेह प्राप्त कर और उनके सरक्षण में रहकर अपने आप को धन्य मानती।

निश्चय हुआ कि चचला सेठजी के वनिता आश्रम मे अध्ययन के लिए जायगी। वे स्वय उसे अपने साथ ले जायँगे। यह समाचार शीघ्र ही सब लोगो में फैल गया। अधिकाश लोगो ने इसका स्वागत किया, परन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्हे अपने-अपने कारणो से यह अच्छा न लगा।

और जीवन को ?

जब से चंचला घर आई थी, जीवन के व्यवहार में एक नया परिवर्तन दीख पड़ने लगा था। प्रत्येक कार्य के लिए उसमे अभूतपूर्व उत्साह था। जब चंचला सामने होती या उसकी इच्छानुसार उसे कोई काम करना होता तब तो उसके उत्साह की सीमा ही न रहती। उसके माता-पिता की बीमारी में उसने जी तोड़कर, अपने आपको खतरे में डालकर भी, उनकी सेवा की थी। कभी-कभी आपस के लोग उसे बचकर काम करने का उपदेश देते, परन्तु वह सारा उपदेश बहरे कानों पड़ता। इन दिनों उसमें कुछ कविता फूटने लगी थी। सगीत और काव्य का प्रेम बढ गया था। विद्यालय में वह अन्यमनस्क रहने लगा था, इसलिए उसकी पढ़ाई भी शिथिल पड़ गई थी। एक-दो अत्यन्त प्रिय मित्रो से एकान्त मे बातें करते रहना उसे अच्छा लगता था। उनके बीच कभी वह गीत गाने लगता और कभी कोई स्व-रचित कविता सुनाने लगता। बीच-बीच में वह कुछ खिन्न भी दिखाई देता। मित्रों के पूछने पर कोई मिस बताकर वह पल्ला छुडा लेता। रात को जल्दी लेट जाना परन्तु देर तक बिस्तर पर करवटें बदलते रहना और प्रातः देर से उठना भी उसमे नई बात थी। यह सब परिवर्तन क्यों हुआ ?

और जब से उसने सुना कि चंचला फिर बाहर जा रही है तब से वह कुछ अधिक खिन्न रहने लगा था। छोटी-छोटी बातों पर वह चिढ़ जाता और

फिर भी यत्रवत् चचला के जाने की तैयारी मे सहायता पहुँचाता रहा।

अनेक बार उसने चचला से कुछ बाते करने की इच्छा की। अनेक बार वह दृढ निश्चय करके उसके पास गया। परन्तु उसके सामने जाते ही वह अपनी बातें भूल जाता और दूसरी ही दिशाओ मे बह जाता। इससे उसके अन्तर का द्वंद्व बढता ही गया। परन्तु उसके मन मे कौन-सी ऐसी बातें थीं जिन्हे कहने के लिए उसे साहस की इतनी कमी मालूम होती थी?

चचला के जाने के एक दिन पूर्व वह उसके पास गया। घर में एकांत था। मौक़ा पाकर उसने बात निकाली—

"चचला, तुम्हारी पढाई का प्रबन्ध तो अच्छा हो गया?"

"हाँ, जीवन! डूबते को तिनके का सहारा ही बहुत होता है।"

"तुम हताश क्यो होती हो? सेठजी की पुत्री बनकर तो तुम अपनी सब महत्वाकाक्षाएँ पूरी कर सकती हो।"

"शायद!"

"शायद क्यो? निश्चय। तुमने सेठजी को पहचाना नहीं।"

"अच्छी परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए अच्छा भाग्य भी तो चाहिए, जीवन!"

"भाग्य कौन देख आया है? भाग्य अच्छे न होते तो यह सुअवसर आता ही नही।"

"और यदि वहाँ भी हरिजन होने के कारण मेरा निरादर हुआ?"

"इसका सामना बहादुरी से करना।"

"लाचारी के परावलम्बन के साथ बहादुरी नही चलती, जीवन!"

"पहले से ही बुरी कल्पना करके खिन्न क्यो हुआ जाय? उत्तम भविष्य की आशा करके उत्साहपूर्वक वहाँ क्यों न जाओ?"

चंचला कुछ चुप हो गई। जीवन ने प्रकरण समाप्त हुआ समझ, दूसरा शुरू करने के लिए उपयुक्त शब्दो और वाक्यो की उधेड़-बुन शुरू कर दी। परन्तु जब वह कुछ कहने ही वाला था तब चचला बोल उठी—"तुम तो इस वर्ष मैट्रिक पास हो जाओगे। आगे के लिए क्या विचार है?"

जीवन को यह बाधा अखर गई। फिर भी उत्तर तो देना ही था। बात को यहीं समाप्त कर देने और अपनी बात शुरू करने के विचार से उसने कहा—"इसका विचार पास होने के बाद करूँगा। परन्तु तुमने तो आगे के लिए भी सोच रखा है। सुनूँ भला, क्या करने वाली हो?"

"मैने तो जो कुछ सोचा था वह बापू और अम्मा के साथ चला गया" - चंचला ने उदास होकर उत्तर दिया।

"परन्तु तुम तो बापू के काम को पूरा करने को कहती थी न ?"

"वह विचार तो मेरे रक्त मे भिद गया है।"

"और विवाह . .. ?" जीवन के मुँह से सहसा प्रश्न निकल गया। तुरन्त ही वह अपनी अशिष्टता पर लजा गया—न यह कोई अवसर था, न ठीक ढग ही ! अपने मन मे आन्दोलन करने वाले भाव को किसी भी प्रकार प्रकट कर देने के लिए वह अधीर हो रहा था। चचला कदाचित् उसे अवसर ही नही देना चाहती थी और वह डर रहा था कि कही कोई आ गया तो मन की बात मन मे ही रह जायगी। परन्तु इस भद्दे ढग से पूछने की अपेक्षा यदि पूछा ही न होता तो कितना अच्छा होता ! मन हुआ कि चचला के सामने से भाग जाय, परन्तु उसके पैर मानो ज़मीन मे गड गये थे। वह ऊपर आँखे उठाकर देख भी न सका।

परन्तु चचला ने साधारण ढग से कह दिया—"विवाह नही करूँगी।"

उत्तर के ढग और अर्थ से जीवन की स्थिति और भी दयनीय हो गई। विवाह करना या न करना चचला का नितांत व्यक्तिगत प्रश्न था। उसमे हस्तक्षेप करने का किसी को क्या अधिकार था ? फिर भी उत्तर सुनकर जीवन स्तब्ध हो गया। अब उसे अपने प्रश्न का और भी पछतावा होने लगा। यदि वह प्रश्न किया ही न होता तो यह उत्तर क्यों मिलता ? परन्तु वह क्यो भिन्न उत्तर पाने की अपेक्षा करता था ?

चचला ने बात आगे बढाई—"जीवन, जब से मै यहाँ आई तब से तुमने अपना सारा समय मुझे मदद करने में ही लगाया हे। इससे तुम्हारी पढाई का तो बहुत हर्ज हुआ होगा ?"

"मै पढ़ता ही कितना हूँ ! स्कूल की पढाई तो मुझे काटने दौडती हे।"

"फिर उत्तीर्ण कैसे होते जाते हो ?"

"यह मैं खुद नही जानता।"

"यह तो अजीब बात है ! परन्तु कुछ भी हो मैं तुम्हारे उपकार को कभी भूल नही सकती।"

जीवन को अच्छा न लगा। उसे इसमें बहुत अधिक शिष्टाचार का आभास हुआ। चंचला को वह जितना अपने निकट समझने लगा था उतनी निकटता में शिष्टाचार के लिए स्थान नहीं हो सकता था। उसने कुछ विरक्त और कटु होकर कहा—"कोरा उपकार तो सभी मान लेते है।"

परन्तु ज्यो ही यह शब्द मुँह से निकले त्यो ही उसे ज्ञान हुआ कि मैंने कुछ अनुचित कह डाला। मन-ही-मन सोचने लगा कि आखिर वह इससे अधिक कह ही क्या सकता था। एक क्षण मे चंचला की सारी परिस्थिति उसकी आँखो के सामने भूल गई। उसके माता-पिता का आकस्मिक वियोग और उसका वज्रपाततुल्य-दुःख उसे याद आया। उसने महसूस किया कि मैंने चचला के दुःखी हृदय को ठेस पहुँचाई है। उसके वश मे होता तो अपने शब्दो को चचला के कानो तक पहुँचने के पहले ही गिरफ्तार कर लेता, परन्तु वे तो सेंध लगा चुके थे।

चंचला ने मर्मस्पर्शी स्वर मे उत्तर दिया—"जीवन, मेरी जैसी अभागी लडकियाँ इससे अधिक क्या कर सकती है?"

जीवन ने तुरन्त बात सुधारने का प्रयत्न किया—"मै चाहता ही क्या हूँ, चचला? तुम मेरे साथ इतने शिष्टाचार का व्यवहार न करती तो मुझे कितना आनन्द होता?"

चचला के भावो को दूसरी दिशा मिली। उसने कहा—"माफ करो, अब ऐसा न होगा।"

जीवन को सन्तोष हुआ, परन्तु अभी काफी नही। इसलिए उसने विनोद किया—ऐसे नहीं, बाकायदा माफी माँगो। हाथ जोडकर सामने खडी हो और सिर झुकाकर कहो—"महामान्य जीवनचन्द्र जी, मुझ से गलती हुई। मुझे अपनी बात पर पछतावा है। अब मैं ऐसा कभी न करूँगी। आप महा कृपालु है। अपनी सहज कृपा से मुझे क्षमा कीजिए।"

चचला ने विनोद मे पूरा भाग लिया। वह हाथ जोडकर खड़ी हुई और सिर झुकाकर बने हुए स्वर में बोली—"म हा मा नी जी व न च न्द्र जी .."

जीवन ने बात काटकर कहा—"महामानी नहीं, महामान्य कहो!" और वह हँस पडा।

"अच्छा भई, ऐसा ही सही," चचला ने व्यग्य के स्वर में कहा—"महामान्या .. "

"अरे! महामान्या क्या? क्या मैं लडकी हूँ?" जीवन ने फिर बात काटी और दोनों खिलखिलाकर हँस पडे और चंचला ने फिर कवायद शुरू की।

"अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा—महामान्य जीवनचन्द्र जी "

"हाँ, यह ठीक है।" जीवन ने विनोद-विजयी की तरह महत्व के कृत्रिम स्वर मे कहा। और चचला आगे बढती गई—

"मभ से ग ल ती हु ई। प छ ता वा है। अ ब मै ऐ सा क भी न क रूँ गी। अ र्था त्, मा फी न माँ गूँ गी--"

जीवन जोर से हँस पडा और चचला भी उसमे दिल से शामिल हुई। थोडी देर के लिए विनोद और आनन्द का समाँ बँध गया। एक बार फिर से आठ-दस वर्ष पूर्व की स्मृतियाँ उन्हे हो आई।

चचला के रवाना होने के दिन जीवन प्राय: उसके साथ ही रहा। उस दिन दोनो के मन उदास थे और उनकी वाणी ने भी उनका साथ नही दिया। जीवन बार-बार कुछ कहने की इच्छा करता, परन्तु उसके मुह से शब्द न निकलते। उसके मन पर सकोच का दबाव था और मुद्रा पर वेदना की स्पष्ट छाप। दूसरी ओर चचला महसूस कर रही थी कि माता-पिता की मृत्यु के बाद जिस उज्जैन मे पल-पल काटना दूभर हो रहा था उसी उज्जैन को छोडते हुए आज कितना कष्ट हो रहा है!

आखिर इंजन ने सीटी दी और गाडी धक्-धक् करती चल पड़ी। जीवन और चंचला अब तक एक-दूसरे के चेहरे को देख-देखकर मूक भाषा में, आँखों से और भाव-भगी से ही बातें कर रहे थे। सीटी बजते ही दोनो के मुँह से एक साथ निकल पड़ा—"पत्र लिखना" और गाडी उष्ण वाष्पमय श्वास से वातावरण में वियोग-पीड़ा-संकुल आर्द्रता पूरित करके तेज हो गई।

७

वनिता आश्रम

"सुषमा, तेरे आश्रम के लिए मैं एक नई बहन लाया हूँ। तू प्रसन्न होगी न ?" सेठ गगाप्रसाद ने वनिताश्रम की मन्त्री श्रीमती सुषमा-देवी से कहा।

"बधाई, काका जी ! आपके दौरे सदैव इसी प्रकार सफल होते रहे !" सुषमादेवी ने श्लेष की भाषा में उत्तर दिया और हँस पडी।

बात यह थी कि सेठजी जब कभी दौरे पर जाते—और व्याख्यानो तथा रचनात्मक कार्यों के लिए उनके दौरे निकला ही करते थे—तभी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की एक-दो लड़कियो को अपने आश्रम के लिए ले आते थे। इस कारण सुषमादेवी बहुधा उनसे हँसी में कहा करती थीं कि आप जो दौरे करते है, लडकियों को लाने के लिए ही करते है। और धीरे-धीरे यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई थी। संयोग से जब उनके साथ कोई लडकी न आती तो सेठजी के अंतरंग सुषमादेवी की भाषा में उनसे परिहास किया करते कि आपका दौरा इस बार असफल रहा। परन्तु सेठजी इतना ही करके सन्तुष्ट हो जाते हो, सो नही। 'सन्तोष' शब्द उनके शब्दकोश में था अवश्य, परन्तु उसका सम्बन्ध भूत और पूर्ण वर्तमान से था। भविष्य जीवन के सम्बन्ध में सन्तोष का अर्थ बडे-बडे शब्दो में लिखा था—मृत्यु। और जीवन को वह मानते थे असन्तोष-जन्य कर्मण्यता। उनमे अद्भुत शक्ति और योग्यता थी। देश के लिए तो वह अपना सर्वस्व ही अर्पण कर चुके थे। व्यक्तियो की छोटी-छोटी समस्याओ में भी वह गहरी दिलचस्पी रखते और उन्हे हल करने मे सक्रिय रूप से सहायता करने का निरन्तर प्रयत्न करते थे। दूरदर्शी इतने थे कि असफलता उनके निकट से न निकलती। दौरों के समय अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी जब कभी कोई ऐसी महिला उनकी दृष्टि में पड जाती जो देश-सेवा के कार्य में उपयोगी सिद्ध हो तो उसे वे ध्यान में रखते और उसकी कठिनाइयो

को हल करके उसे अवसर देने में कभी न चूकते। इस प्रकार उन्होंने नारी-समाज का एक खासा परिवार बना लिया था। वह व्यवहार-कुशल थे, अत: बालिकाओ के विवाह का प्रश्न भी भूल जाना उनके लिए सम्भव न था। स्त्रियो के समान ही पुरुष कार्यकर्ताओं का भी उन्होने भारी सग्रह किया था। प्रत्येक की मनोवृत्ति और परिस्थिति का परिचय वे रखते थे। जब कभी कोई युवक अथवा युवती विवाह के योग्य होती तो मन-ही-मन वह उसके लिए उपयुक्त पात्र सोच रखते। जिनके वे स्वयं पिता बने होते उनकी पूरी जिम्मेदारी ओढ लेते और उसे पूरी तरह निभाते। परन्तु जिनके माता-पिता अथवा अभिभावक मौजूद होते उन्हे वे अनुभवी बुजुर्ग के समान बराबर सहायता करते। अभिभावको को विश्वास मे लेकर युवक-युवतियो के साथ उदार पिता का-सा व्यवहार करके तथा उनके मन के अन्दर घुसकर वे पूर्ण उपयुक्त युग्म खोजने का प्रयत्न करते। इस प्रकार उनकी सहायता से जो विवाह होते उनमे सिद्धान्त, आदर्श, नवीनता और, सबसे अधिक, देशभक्ति का भाव सन्निहित होता।

सो, सेठजी ने कृत्रिम रोष दिखलाते हुए सुषमादेवी को उत्तर दिया—"तो तेरा मतलब है कि मै इतने सारे दौरे इन लडकियो को बहका लाने के लिए ही करता हूँ ? अच्छा, अब किसी को न लाया करूँगा।"

"नही, काकाजी !"—और आश्रम के सभी लोग तथा बाहर के भी अनेक उन्हे 'काकाजी' ही कहकर सम्बोधित करते थे—"यह तो आपकी सफलता का प्रमाण-मात्र है"—फिर हँसकर सुषमादेवी ने कहा।

चंचला समीप बैठी यह सब देख-सुनकर प्रसन्न हो रही थी। उसने उन दोनो के स्नेह को महसूस किया। उससे उसका हृदय उछल पडा। नये स्थान की नवीनता-जन्य आशकाएँ एकदम बिलीन हो गईं। वह सोचने लगी कि यहाँ तो अपनापन खुलकर खेल सकता है। कदाचित् मुझे माता-पिता का वियोग उतना अधिक महसूस न होगा।

और बस, उसकी भावनाओ ने पलटा खाया—माता-पिता की याद आते ही वह बरबस उनकी ओर बह चली। उमडते हुए क्षीर-सागर में स्वच्छन्द विहार करती हुई सहसा वह किसी प्रच्छन्न शिला से जा टकराई। वह याद करने लगी कि बापू मुझे इससे भी अधिक प्यार करते थे। वह होते तो मेरा जीवन कितना सुखमय होता ! और मा ? तुम तो साक्षात् देवी थी ! कल तक जिस प्रेम की मुझ पर अविरल वर्षा हुआ करती थी, आज मै उसकी भिखारिन हूँ। बापू ! अम्मा ! .. ...

इन भावनाओ और आवेगो मे निमग्न चंचला आस-पास की दुनिया के प्रति नितान्त अन्यमनस्क हो गई। इसके चेहरे के भाव अनजाने बार-बार बदल रहे थे। सेठजी ने उसे देखा तो वे ताड गये परन्तु किसी सुकुमार विषय को छेड़ना उन्होने उचित न समझा। उन्होंने उसे पुकारा, परन्तु कौन सुनता ? चचला के अन्दर जो सुनने वाला था वह तो भगवान् की सृष्टि के न मालूम किस कोने की सैर कर रहा था। सेठजी ने दुबारा बुलाया और फिर वही परिणाम हुआ। सुषमादेवी यह देखकर हँस पडी और सेठजी से बोली —"आप तो, मालूम होता है, एक दार्शनिक को ले आये है !"

सेठजी कुछ उदास भाव से बोले, "हाँ, सुषमा, उस पर जैसा सकट आ पडा है वैसे सकट में सभी दार्शनिक हो जाते है।"

सुषमादेवी का विनोद फीका पड़ गया। बिना विचारे कुछ कह जाने पर वे लज्जित हुई और सोचने लगीं कि यदि यह किसी सकट की मारी है तो इसके प्रति परिहास का भाव प्रकट नही होना था। उन्होंने सेठजी से उसकी कहानी पूछी तो सेठजी ने बाद को बताने का संकेत करते हुए कहा—"इसे प्रेम और सहानुभूति का वातावरण चाहिए। बहुत होनहार बालिका है। कुम्हलाने न पाये।"

चचला का ध्यान टूट चुका था। उसके नेत्र शून्य से वापस आ चुके थे, परन्तु उनकी चंचलता में अब भी शिथिलता थी। उसने सेठजी का आखिरी वाक्य सुना और सिर नीचा किये बैठी रही।

× × ×

चचला को छात्रावास के एक कमरे मे स्थान मिल गया। नई बहन का आना सुनकर बहुत-सी छोटी बड़ी छात्राएँ उससे मिलने और उसका स्वागत करने आईं।

"तुम्हारा नाम क्या है ?" एक छोटी छात्रा ने पूछा।

"चचला।"—उत्तर मिला।

"और तुम्हारी जाति ?" एक दूसरी छोटी तथा नई छात्रा पूछ बैठी।

चचला अड़चन मे पड गई कि क्या कहूँ। इतने मे ही निर्मला नाम की एक बडी छात्रा ने प्रश्न करने वाली छात्रा को टोककर कहा—"तू कितनी खराब लड़की है ! अपने आश्रम में भला किसी की जात-पॉत पूछी जाती है ? हम सब हिन्दुस्तानी है।"

वातावरण स्तब्ध हो गया। चंचला का मन भी ज़रा शान्त हुआ। वह मन-ही मन निर्मला को आशिष देने लगी।

सब बहनो के चले जाने के बाद निर्मला ने चंचला को दैनिक क्रम से अवगत कराया और स्नान करने के बाद दोनो भोजन के लिए गई।

भोजन की घंटी हो चुकी थी। विशाल भोजन-गृह में सब छात्राएँ एकत्रित हो गई थी। निर्मला के साथ चंचला जब ठिठकती और सकुचाती हुई वहाँ पहुँची तो स्वभावत ही सब बहनो का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। चंचला एक संकोच भरी निगाह से सब की ओर देखकर निर्मला के पास के पटे पर जा बैठी।

परोसने वाली बालिकाओ ने परोसना शुरू किया। एक बालिका ने रोटी परोसते हुए चंचला के सामने पहुँचने पर ठठोली के स्वर मे निर्मला से कहा—"आज तो यह खायँगी नही, इसलिए आधी बस होगी, निर्मला बहन ?"

निर्मला ने अविलम्ब करारा उत्तर दिया—"वह बिहारी बहू थोड़े-ही है, जो घूँघट निकालकर आश्रम आई हो !"

आस-पास की लडकियाँ हस पडी। परन्तु परोसने वाली कोई कच्ची मिट्टी की बनी हुई नही थी। उसने फिर वार किया—"मै तो सचमुच बहू हूँ, परन्तु मध्यभारत की तो कुमारियाँ ही बहू बनी जा रही है !"

एक दूर बैठी हुई बहन को भी कुछ कहने की इच्छा हो उठी। उसने कहा—"ए वसुधा बहन ! अपने इस ननँद-भौजाई के झगड़े में हम सबको भूखा रखोगी क्या ?"

एक बार फिर से भोजन-गृह हास्य की ध्वनि से गूँज उठा और वसुधा उसमे अपना हार्दिक स्वर मिलाती हुई रोटियाँ परोसने लगी।

हँसी-खुशी से भोजन समाप्त हुआ। आज सचमुच ही चंचला अच्छी तरह भोजन नही कर सकी। और यह बात किसी से छिपी भी न रही। आराम के समय में वसुधा किसी कार्य-वश निर्मला के पास आई तो निर्मला ने उसे खूब आड़े हाथो लिया। उसने कहा--तू तो, बहन, न समय देखती है, न मिज़ाज, जब तरग आ गई हँसी करने लगती है। तेरी हँसी के कारण ही संकोच में पडकर आज नई बहन भूखी रह गई।

वसुधा ने निर्मला की सारी बातो को विनोद मे उड़ाकर कहा—"विनोद तो अपनी जान है। 'कोई निन्दौ, कोई वन्दौ,' परम पुनीता, परम प्राचीना पाटलिपुत्र-नगरी-निवासिनी श्रीमती वसुधादेवी तो विनोद करेंगी, करेंगी। चंचला बहन का बुभुक्षित रह जाना तो क्या, यदि सम्पूर्ण मध्यभारत

एक सप्ताह का आमरण अनशन कर डाले तो भी वसुधा देवी की विनोद-वृत्ति आकण्ठ आहार करेगी ही।"

"तू बड़ी दुष्ट है, वसुधा !" निर्मला ने खीभकर कहा।

"षट्-दश आणक अनृत ! द्वि-पचाश तोला चतुर्थांश रत्ती असत्य ! वसुधा देवी आपत्ति करती हैं। उनकी निन्दा करना महा पाप है। उसे देवता सहन नही करते ! सारी सृष्टि का भार अपने वक्ष पर सँभालने वाली वसुधा देवी, सारी सृष्टि का पालन करने वाली वसुधा देवी दुष्ट अथवा दुष्टा हो ही नही सकती।"—कहती-कहती वसुधा चली गई और निर्मला हँसती हुई अपने काम में लग गई।

चचला अपने कमरे में विश्राम का समय व्यतीत कर रही थी। कभी वह अपने लकड़ी के तख्त पर लेट जाती, कभी उठकर बैठ जाती और कभी घूमने लगती। उसके मन में अवश्य ही कोई बेचैनी थी।

समय जैसे-जैसे बीतता गया, चंचला अपने माता-पिता के वियोग-शोक को दबाने में समर्थ होती गई। सेठजी तथा आचार्य मानवशंकर का उस पर विशेष प्रेम था और वे बहुधा उसे अपने पास बुलाकर उसका सुख-दु.ख पूछ लिया करते थे। अन्य अध्यापक और अध्यापिकाओं की दृष्टि भी उस पर विशेष थी। आश्रम का उद्देश्य सेवा था और सेठजी की सहृदयता के कारण उसमें दु.खी छात्राओ की सख्या ही अधिक रहती थी। कोई विधवा होती, कोई आश्रयहीन। और गरीब तो प्राय. सभी होती। ऐसी छात्राओ का सम्पूर्ण व्यय-भार आश्रम ही वहन करता। परम्परा के अनुसार आश्रम में आने वाली प्रत्येक नई बहन पर तब तक विशेष ध्यान दिया जाता था जब तक कि वह वहाँ के वातावरण मे एकात्मभाव महसूस करने न लगे। पश्चात् सभी बालिकाओ के साथ समान व्यवहार होता था।

एक दिन आचार्य मानवशकर ने सूचना दी कि मगलवार के दिन सभी छात्राएँ महात्मा रामदास के दर्शनार्थ सारनाथ जायँगी। काशी से सारनाथ तक पैदल जाना होगा। सवारी का प्रबन्ध केवल छोटी, कमज़ोर और बीमार बहनों के लिए किया जायगा।

सारे आश्रम मे आनन्द और उत्साह की लहर दौड गई। महात्माजी के दर्शनो की चर्चा तथा यात्रा के आनन्द की कल्पना से उत्कण्ठा का वातावरण निर्मित हो गया। पुरानी छात्राएँ इस प्रकार का आनन्द अनेक बार ले चुकी थी और उनके मन की गति उस सरिता के प्रवाह के समान थी जो सिन्धु से मिलकर अपने जीवन को उसमें उँडेल देने और उससे एकात्म हो जाने के लिए

सतत व्याकुल रहती है। उसमें नवीनता नही होती किन्तु पूर्व-परिचय की आतुरता होती है। नई छात्राएँ नई कल्पनाएँ करती थी और उनमें वे सद्य-उत्थित पहाडी झरने के समान स्वच्छन्द गति से, विघ्न-बाधाओं को तोड़ती-फोडती बह रही थीं। सीमा उनके परे हो गई थी और मर्यादा उनकी शरण में।

नई छात्राओ की मन.स्थिति मे चचला तरह-तरह के मंसूबे बाँध रही थी। उसने गुरुकुल की याद की। उस सस्था और उसकी कार्यकत्रियों के प्रति उसके मन मे अगाध श्रद्धा थी। वहाँ की अपनी सहेलियो को भूल जाना उसके लिए असम्भव था। ऐसे अवसर बहुधा आ चुके थे जब कि वह वहाँ की स्मृतियो से बेचैन हो उठी थी।

आज वह इस आश्रम से उसकी तुलना करने लगी। गुरुकुल एक आदर्श संस्था है और उसमे रहकर मैंने जीवन पाया है। परन्तु उस जीवन और इस जीवन में कितना अन्तर है! वह हिन्दुओ की सस्था है और आर्य-धर्म उसकी बुनियाद है। धार्मिक दृष्टिकोण चाहे जितना भी उदार हो उसकी अपनी मर्यादाएँ और परम्पराएँ होती ही है। दूसरे धर्म के अनुयायियो के लिए उसमें या तो स्थान हो ही नही सकता या सन्तोषजनक नही हो सकता। धर्म वहाँ ग्रन्थों से प्रसूत होता है और वाणी द्वारा सिखाया जाता है। परन्तु यह संस्था दरिद्र-नारायण की सेवा के लिए है। यहाँ मानव-धर्म प्रधान है और उसे हम जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सीखने का प्रयत्न करती हूं। कितना विशाल, कितना व्यापक धर्म है यह! और हम मानव-धर्म के कैसे श्रेष्ठ पुजारी के निकट है! ..

"चचला !" वह इसी प्रकार अपन विचारो में लीन थी कि आचार्य मानवशंकर ने उसे पुकारा।

"जी !" उसने सहसा उत्तर दिया।

"तू पैदल चलेगी या गाड़ी पर ?"

"पैदल।"

"चल सकेगी ? कभी मौका आया है ?"

"चल सकूँगी।"

"अच्छा, थक जाओ तो गाडी पर बैठ जाना। एक गाडी साथ रहेगी।"

"अच्छा। और सुनिये न ! निर्मला को मेरे साथ जाने के लिए कह दीजिए।"

"मगर उसे तो प्रबन्ध के लिए पहले जाना है ?"

"तो मै भी उसके साथ ही चली जाऊँगी ?"

"अब प्रबन्ध करना कठिन होगा। महात्माजी के पास उन बहनों के

नाम जा चुके हैं। तू उसके साथ के लिए ही क्यों उत्सुक है ? और भी बहनें तो साथ रहेंगी।"

चंचला कोई उत्तर न दे सकी।

आचार्य ने फिर कहा—"अभी से कोशिश करो कि सब बहनों से मेल-मुलाकात और प्रेम हो जाय।" वे थोड़ा मुसकराये और बोले—"तुम लड़कियों का कोई ठिकाना तो रहता नहीं। आज आती हो और कल चल देती हो। एक ही बहन से प्रेम रखोगी तो उसका विछोह बहुत खटकेगा। हृदय से तो काम लेना ही चाहिए, मगर थोड़ा बुद्धि को भी चलाओ न ?" और वे ज़ोर से हँस पड़े। चंचला भी हँस पड़ी और फिर लज्जा से नीचे देखती हुई पैर के अँगूठे से जमीन कुरेदने लगी।

चलने के दिन तीन बजे रात को घंटी हुई और सब बहनें बिस्तर छोड़ कर उठ बैठीं। नित्य-कर्म के पश्चात् सब आँगन में एकत्रित हुईं। आकाश बादलों से घिरा हुआ था और पृथ्वी पर से अंधकार का काला पर्दा अब तक उठा नहीं था। हाथ-कंडीलों के प्रकाश में बालिकाएँ पंक्ति बनाकर खड़ी हुईं और आज्ञा मिलते ही रवाना हो गईं। नीली किनार की शुभ्र साड़ियाँ पहने हुए जब वे सारनाथ की सड़क पर चलीं तो उनकी साड़ियों की उज्ज्वलता ने अंधकार को चीर दिया। रह-रहकर वातावरण राष्ट्रीय नारों के घोष से गूँज उठता था। अनेकानेक मृदुल कण्ठों से एक साथ निकलती हुई राष्ट्रीय संगीत की ध्वनि उस निर्जन एवं सुषुप्त मार्ग को जाग्रत करती जाती थी। सुकुमारियों के उत्साह की कोई सीमा थी ? उनके हृदय से निकलते हुए नव-जीवन के संदेश क्या आकाश में जाकर व्यर्थ ही विलीन हो गये ?

इस सबके बीच चंचला ने अनुभव किया कि निस्संदेह वह अकेली नहीं है। इधर कई महीनों से जो संसार बराबर उसे काटने दौड़ता था, वही आज उसे जीवन का संदेश सुनाने लगा। महीनों बाद आज पहली बार उसने सामूहिक जीवन का आनन्द अनुभव किया। निर्मला की अनुपस्थिति अब उसे खटक नहीं रही थी। अपने-अपने ढंग की निराली बहनों की इस अप्रतिभ टोली में उसे आदर्श, उत्साह और आनन्द की कमी दिखलाई न पड़ी। वह मन-ही-मन पछताने लगी कि इतने दिनों में मैंने निर्मला के अतिरिक्त कोई सहेली नहीं बनाई। निर्मला निस्संदेह असाधारण लड़की है, परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि मुझे दूसरी बहनों से मेल-जोल और अपनेपन का सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए। इनके अन्दर कैसे-कैसे रत्न छिपे हुए हैं, इसका मुझे क्या पता ?

और अब संगीत बन्द हो गया। पंक्तियाँ तोड दी गईं। बालिकाएँ एक-दूसरी से बातें करती हुई चलने लगी। इस बीच वसुधा एकाएक चिल्ला उठी—"साँप ! साँप !"

आस-पास की छात्राएँ चौककर भागने लगीं। उन्होंने भयभीत होकर सब ओर देखा, परन्तु कुछ भी दिखलाई न पडा। वसुधा दौडकर आगे निकल गई और बिना किसी की परवाह किये, मुँह-ही-मुँह हँसती और इठलाती हुई चलने लगी। छात्राओं ने उसका यह ढग देखा तो उन्हे शक हुआ कि वसुधा ने कोरा चकमा दिया।

गिरिजा तिनककर बोल उठी—"ए वसुधा बहन, इस तरह डराती क्यों हो झूठ बोलकर ? सब बहनें चौक गईं !"

"श्रीमती वसुधा देवी असत्य भाषण नही करतीं। अन्वेषण करो तो शेषनाग के वशज देवता अवश्य दर्शन देने की कृपा करेगे। जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ !" वसुधा ने मुखाकृति को बरबस गम्भीर बनाते हुए और इठलाते हुए कहा।

राह चलना फिर यथावत् जारी हो गया था। सब छात्राएँ वसुधा के चकमे मे आ गईं, इसमे अब किसी को शंका नही थी। सब शर्मिन्दा थी और अब मिलकर वसुधा से बदला लेने के मसूबे बाँध रही थीं। मीनाक्षी ने धीरे से अपनी साथ की बहनो को सुनाते हुए कहा—"ठहर जाओ, बीबीजी ! सारनाथ तक पहुँचते-पहुँचते इसका ऐसा बदला पाओगी कि जन्म भर न भूले !"

कान्ता ने व्यंग्यपूर्वक वसुधा को उत्तर दिया—" 'गहरे पानी पैठ' कर साँप ही निकालती हो, वसुधा बहन ?"

"वह तो वसुधा है, साँप उसे धारण किये हुए है, फिर उसे और क्या सूझेगा ?"—विमला ने योग दिया।

वसुधा अब जाल में फँसती जा रही थी। परन्तु वह हारनेवाली नही थी। वह कुछ कहना ही चाहती थी कि थोडी दूर पीछे जया ने पुकारकर कहा—"बहनो, जरा धीरे चलो। मुझे आ जाने दो।" सबका ध्यान उसकी ओर खिच गया और वसुधा पर होने वाली शर-वृष्टि भी रुक गई। जया लँगडाती-लँगड़ाती सब में आ मिली। उसे लँगडाती देखकर वसुधा ने फिर चोट की—"क्यो दाई, अभी तो दो मील ही आई है, इतने ही में लँगडाने लगीं ?"

जया बहुत सुकुमार बालिका थी। उसकी उम्र भी बहुत कम थी।

उत्साह और बड़ी बहनों के सग के लोभ से रास्ते में अपने साथ की बालिकाओं को छोडकर वह इन छात्राओं में आ मिली थी।

वसुधा की बात का उसने कोई उत्तर न दिया। उसकी आँखों से आँसू ढलकर उसके कपोलों और वस्त्रों को भिगोने लगे। प्रकाश अभी मंद ही था, अतएव उन्हें कोई देख नहीं पाया। परन्तु कान्ता को वसुधा की हँसी अच्छी नहीं लगी। उसने तनिक खीजकर कहा—"तू कैसी है, वसुधा! तुझे किसी की तकलीफ पर भी दया नहीं आती। केवल मजाक ही सूझता है!"

वसुधा ने अपने सहज व्यंग्यात्मक स्वर में उत्तर दिया—"सुनो, कान्ता! विनोद मनुष्य के सामाजिक जीवन का रस है। उसके बिना मनुष्य 'शुष्को वृक्षः' के समान है। मै तो विनोद में ओत-प्रोत होकर ही अपना भव-सागर पार करूँगी और जब मेरे मूल्यवान प्राण इस तुच्छ देह का त्याग करेंगे और यह मृत्तिका की देह अग्निदेव के सुपुर्द की जायगी तब भी एक बार अट्टहास करके रोनेवालो की ओर उँगली उठाकर कहूँगी—'तुम मूर्ख हो ...!' और रही दया, सो उसका तो मेरी इस छोटी-सी देह के अन्दर सरोवर भरा है। कहो तो तुम्हारी जया को गोद में लेकर महात्माजी के आश्रम तक पहुँचा दूँ ?"

और उसने सचमुच ही झपटकर जया को गोद में उठा लिया और प्यार दिखलाती हुई उसके मुँह पर हाथ फेरने लगी। परन्तु ज्यो-ही उसका हाथ उसके गीले गालों पर पडा और उसे पता चला कि वह रो रही है, उसने बड़प्पन और स्नेह से भरी वाणी में कहा—"पगली, रोती क्यों है ? थक गई है तो गाडी में बैठ जा!"

जया ने तिनककर अपने आपको वसुधा के हाथो से छुडाते हुए कहा—"अलग हटो! तुम मुझ से मत बोलो!" और वह खुलकर रोने लगी।

वसुधा सहम गई। जया का रोष उसकी समझ में न आया।

चंचला अब तक चुपचाप थी। जया को रोते देख उसका हृदय द्रवित होकर उमड़ आया। वह उसके पास जाकर उसे समझाने और उसके रोने का कारण पूछने लगी तो मालूम हुआ कि वसुधा के 'साँप' कहकर चिल्लाने पर वह डरकर कूद पडी थी, और उसका पैर गड्ढे में पड़कर जोर से लचक गया है। अब दर्द के कारण उससे बिल्कुल चला नही जाता।

वसुधा मन-ही-मन पछताने लगी। वह जया के पास आकर बडे दुःख और दीनता के साथ अपनी सफाई देने लगी। परन्तु जया को चोट लगने से प्रायः सभी छात्राओं को बुरा मालूम हुआ था इसलिए गौरी बोल उठी—"जो

लोग सोच-विचारकर काम नही करते उनसे ऐसे ही अनर्थ होते है।"

वसुधा लज्जा और पछतावे के मारे जमीन मे गड़ी जा रही थी, फिर भी उस पर दूसरा आक्रमण हुआ। चम्पा ने कहा—"अक्ल तो उन्होने ताक पर रख छोड़ी है, मगर अब भी शिक्षा ले ले तो गनीमत !"

वसुधा के लिए यह आघात असह्य हुए जा रहे थे। किन्तु वह उत्तर क्या देती ? उसने क्या कभी इस अनर्थ की कल्पना की थी ? लोगो को छेड़ देना और उनकी चिड़चिडाहट से आनन्द ले लेना उसके विनोद में सम्मिलित था। परन्तु आज तो बात कुछ गम्भीर होती जा रही थी। वह स्वय ऐसे उत्साह के समय जया को चोट लग जाने से दु:खी और लज्जित थी। उसकी चोट अच्छी करने के लिए आज वह सब-कुछ करने को तैयार थी, परन्तु वह लाचार हो गई।

छात्राओं की कटूक्तियाँ चंचला को न्यायपूर्ण न मालूम हुईं। उन्हे समझाते हुए उसने कहा—"वसुधा बहन पर इतना नाराज़ हो जाने की क्या जरूरत है ? विनोद में कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है। उन्होने जान-बूझकर थोड़े ही चोट पहुँचा दी है।"

"यह उनकी हमेशा की आदत है।"—चम्पा ने कहा।

"मगर यह समय पुरानी बातो को याद करने का नही है। वसुधा बहन खुद दुःखी है। जया को सँभालिये और आगे बढ़िये।"—चचला ने फिर उत्तर देते हुए समझाया।

गाड़ी कुछ पीछे रह गई थी। उसके आने तक सबको उसी स्थान पर रुकना पड़ा। चचला इतनी देर तक जया के पैर की मालिश करती रही। गाड़ी के आ जाने पर उसे उस में बैठाकर सब आगे बढी।

परन्तु वसुधा खिन्न हो गई थी। वह सबसे अलग चलने लगी। थोड़ी देर में चचला उससे जा मिली। चचला के साथ से वसुधा के मन को कुछ राहत मिली।

सभी बहने वसुधा से नाराज़ हो सो बात नही, कुछ को उसके प्रति उतनी ही सहानुभूति थी, जितनी जया के प्रति करुणा। परन्तु गौरी और चम्पा का मन साफ न हो सका और वसुधा भी उनके प्रति खिन्न और विरक्त हो गई।

वसुधा के प्रति चंचला का उदार व्यवहार गौरी और चम्पा को अच्छा न लगा। उधर वसुधा ने अत्यन्त खिन्न होकर चचला से कहा—"कहीं मै जानती होती कि मेरी हँसी इस तरह विष बन जायगी !"

"मगर जो हो गया सो हो गया। अब उसे सोचते रहने से क्या लाभ ?"—चचला ने समझाते हुए उत्तर दिया।

"दिल तो दुखता ही है बहन, कितने उत्साह के समय यह दुर्घटना हो गई ! और अभी इसके पुछल्ले तो बाकी ही है।"

"पुछल्ले कैसे ?"

"गौरी अभी नमक-मिर्च लगाकर इसका प्रचार करेंगी।"

"नतीजा क्या होगा ?"

"विनोद का नतीजा गम्भीर तो हो नहीं सकता, परन्तु मेरी लज्जा मे लज्जा और मिलेगी।"

"जो होगा सो होगा। अभी तो उस बात को छोडो।"

वसुधा चुप हो गई। परन्तु उसकी उदासी नही गई। चचला ने भी उसे और अधिक नहीं छेडा। सारनाथ से थोडी दूर इधर आगे की बहनें पीछे रही हुई बहनो की प्रतीक्षा में रुक गई थी। यहाँ से फिर पक्तियाँ बनाकर आगे बढना था। चचला की टोली और उसके साथ की गाड़ी के वहां पहुँचने पर छात्राओं ने हँसी-मज़ाक़ का कोलाहल शुरू कर दिया। सबके मन में आनन्द था परन्तु वसुधा ने कोई आनन्द प्रकट नही किया। वह कभी उदास नहीं रहती थी। हँसने-बोलने और दूसरो को छेडने के लिए उसके पास विषय का अभाव कभी न रहता था। आज उसे उदास देखकर प्रायः सभी बहनो को आश्चर्य हुआ। कुछ छात्राओ ने उसे छेड़ने की कोशिश की, परन्तु वह व्यर्थ हुई।

सारनाथ पहुँचने पर जब जया को गाड़ी से उतारना पड़ा तब सारी घटना की चर्चा एक बार फिर हुई। गौरी और चम्पा ने उसे बढ़ाने में यथेष्ट रुचि दिखाई। चंचला ने जब सफ़ाई देने की कोशिश की तो अनेक बहनो का मन उसकी ओर से भी दुःखी हो गया।

सारनाथ में सब लोग तो यथास्थान डेरा डालकर अपनी-अपनी मौज में रम गये, परन्तु वसुधा और चंचला जया का पैर सेंकने में लग गईं।

एक लम्बे सेवा कार्य के बाद महात्माजी को प्रणाम करने के लिए सब बहनें नियुक्त स्थान पर जा बैठीं। महात्माजी के आने पर एक-एक बालिका ने क्रम से उन्हे प्रणाम करना शुरू किया। आचार्य मानवशंकर उनमें से हर एक का परिचय देते जाते थे।

सबसे पहले निर्मला ने प्रणाम किया। महात्माजी उसकी प्रवृत्तियो के कारण उसे अच्छी तरह पहचानते थे। उन्होने उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए

हँसकर कहा—"तू तो बहुत जल्दी-जल्दी बढती जाती है। मुझे तेरे विवाह की चिन्ता करनी होगी।"

निर्मला सकुचा गई और उछलकर अपने स्थान पर भाग आई। सारी मण्डली हँस पडी।

दूसरा नम्बर कान्ता का आया। वह निर्मला के समान ही छोटी उम्र में आश्रम मे आई थी। उससे महात्माजी ने कहा—"तू तो बढती ही नही, निर्मला से होड मे हार रही है।" परन्तु कान्ता चुपचाप सुन लेने वाली नही थी। उसने तुरन्त उत्तर दिया—"आप जल्दी से शादी जो कर देंगे!" और उसने बाजी मार ली। महात्माजी ज़ोर से हँस पड़े। उनके साथ सारी सभा में कहकहा मच गया।

इसी प्रकार एक के बाद दूसरी बालिका ने उठकर उन्हे प्रणाम किया। महात्माजी ने प्रत्येक से बात की और प्रत्येक प्रसंग पर कुछ-न-कुछ हास्य हुआ ही।

वसुधा की खिन्नता नही गई थी। प्रणाम करते समय भी उसके मन से आनन्द व्यक्त न हो सका। गिरिजा, गौरी, चम्पा, मनू, मीनाक्षी आदि के प्रणाम कर चुकने पर चचला का नम्बर आया। उसका परिचय देते हुए आचार्य मानवशकर ने कहा—"मध्यभारत मे इन लोगो को अस्पृश्य माना जाता है, परन्तु हमारे यहाँ ऐसा नही है।"

महात्माजी ने उससे कहा—"तू तो बड़ी अच्छी लडकी मालूम होती है। यह आश्रम अच्छा लगता है?"

"जी, हाँ!"—चचला ने सक्षेप में उत्तर दिया।

"कोई कष्ट तो नही है?"

"जी, नही।"

"तुम्हारी सखियाँ कौन-कौन है?"

"निर्मला, वसुधा, कान्ता ."

"हाँ! तब तो तुमने सब नटखट लडकियो को चुन लिया है।"—हँसते हुए महात्माजी ने कहा।

चचला मुसकरा दी।

महात्माजी ने फिर कहा—"अच्छा, खूब काम किया करो और मन लगाकर पढो।"

कई दिनों तक ये शब्द बराबर उसके कानो में गूँजते रहे।

८

कसौटी

जया के पैर का दर्द कई दिनों तक बना रहा। जब तक वह मिट नही गया तब तक वसुधा और चंचला बराबर उसकी सेवा करती रही। गौरी और चम्पा ने जया के मन को वसुधा की ओर से खराब करने की बहुत कोशिश की, परन्तु वसुधा की मूक, स्नेह तथा पश्चात्ताप-युक्त सेवा और चचला के समझाने से जया का मन उलटे वसुधा की ओर आकृष्ट हो गया। दोनों ने उसे पढने में भी सहायता की और रहते-रहते तीनों के बीच अटूट प्रेम हो गया। परन्तु गौरी और चम्पा का मन किसी भी प्रकार स्वच्छ न हो सका।

महीने के अन्त में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए छात्राओं की नई टोलियाँ बनी और टोली-नायिकाओ के चुनाव की तिथि निश्चित की गई। गौरी, चम्पा और उनकी सखियो ने वसुधा, चचला और उनकी सखियों में से किसी को भी नायिका न बनने देने के लिए गुप-चुप प्रचार करना शुरू कर दिया।

वसुधा को यह सब पता चला तो उसने चचला से कहा कि इस प्रचार का उपाय करना चाहिए।

"करने भी दो, उनके प्रचार से होता क्या है?"—चंचला ने लापरवाही से उत्तर दिया।

"होता कैसे नही ? इससे बहनों मे दलबन्दी हो रही है।"

"तो क्या इसमें हमारा हाथ बिल्कुल नहीं है ? अप्रत्यक्ष रूप से हम भी तो इस दलबन्दी मे योग देती रहती हैं।"

"कैसे ?"

"गिनी-चुनी छात्राओं में अपना मिलना-जुलना सीमित रखकर। सब बहनो से सम्बन्ध जोडने का हमने प्रयत्न ही कब किया ?"

"इसका अर्थ है कि हमारे विरुद्ध झूठा-सच्चा प्रचार किया जाय ?"

"मेरा आशय यह था कि इस तरह हम स्वय दलबदी को प्रोत्साहन देती है, इसलिए हमे उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नही है।"

"तो क्या हम लोगो की खुशामद ही किया करें? हमे दूसरा काम है ही नहीं?"

"मिलना-जुलना और खुशामद करना एक ही बात नही है, वसुधा!"

"हमारे पास समय नही है!"

"तो फिर जो कुछ आ पड़ता है सो खुशी से भोगो। शिकायत क्यों करती हो?"

"इसलिए कि वे झूठा प्रचार करती हैं।"

"और लोग उसे सच मान लेते है—न?"

"हाँ।"

"क्यों?"

"क्योंकि हम चुपचाप रहते हैं।"

"तुम क्या करना चाहती हो?"

"अपनी सफाई देना।"

"कब तक सफाई देती रहोगी?"

"जब तक लोगों को हमारी बात पर विश्वास न हो जाय।"

"और यदि वे नित नई बाते कहे .!"

"हमें सफ़ाई देनी ही होगी।"

"अर्थात्, हमारा यही एक काम हो गया।"

"यह ज़रूरी है।"

"और तुम्हे भरोसा है कि इससे काम चल जायगा?"

"कोशिश करना हमारा काम है।"

"क्या खूब! आई हो यहाँ अध्ययन करने और फँस जाओ सफाइयाँ देने में।"

"आखिर उपाय क्या है?"

"उपाय दो हैं। एक तो यह कि उनकी बातों की परवाह न करो, केवल अपने व्यवहार को अच्छा रखने का ध्यान रखो। दूसरा यह कि मूल छोड़कर पत्तों के पीछे मत दौडो। बहनों से सम्बन्ध बढ़ाओ। जब वे तुम्हारी अच्छाई-बुराई पहचान लेंगी तो स्वयं ही गलत बातो पर विश्वास न करेंगी।"

"परन्तु इस आश्रम में रहकर कोई असत्य बात करे ही क्यो? प्रति-

दिन सत्य और अहिंसा का श्लोक[1] दुहराती है, उसके अनुसार आचरण क्यों नही करती ?"

"हमारे ऊपर यह आक्षेप लागू नही होता क्या ? हमने सब कुछ सीख लिया है।"

"मै झूठ नही बोलती।"

"यही वे भी कह सकती है। निर्णय कौन करे ?"

"जो बात साफ है उसके निर्णय की क्या जरूरत है ?"

"साफ तुम्हारे सामने है। इसी तरह उनके सामने भी हो सकती है। देखो, वसुधा, यह तो तुम्हारी हठ है। दुनिया में सब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार काम करते है। कुछ काम गलत हो सकते है, परन्तु उनमें असत्य का आरोप तुम कैसे कर सकती हो ?"

"दुनिया की बात छोडो। यह बात साफ है या नही ?"

"यदि वे सचमुच ही हमें अच्छा न समझती हो तो ?"

"तो सीधे हम से बाते क्यों न करें ?"

"जो तुम स्वय नही करती, वह दूसरे से क्यो कराना चाहती हो ?"

"हम किसी के आडे नही आते। कोई हमें छेड़ेगा तो हम उसे ठीक कर देंगे।"

"शाबास ! जैसे भगवान् ने तुम्हे ही दो हाथ दिये हों ! और महात्माजी के उस दिन के उपदेश से तुमने खूब लाभ उठाया। याद है, उन्होंने क्या कहा था ?"

"सब याद है।"

"क्या ?"

"यही कि किसी को हानि पहुँचाने का विचार ही नही करना चाहिए।"

"नही, उन्होने यह भी कहा था कि मनुष्य को अपनी विशेषताएँ क़ायम रखते हुए सामूहिक जीवन बिताना सीखना चाहिए। सामूहिक जीवन की कुंजी है सहानुभूति, सहयोग, सेवा, सहिष्णुता, सरलता और स्वार्थ-त्याग। निष्कपटता और मृदु सत्य इन गुणो के आधार-स्तम्भ है। प्रेम और

१. "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह।
शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जना ॥
सर्व धर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श-भावना।
ही एकादश सेवावी, नम्रत्वे, वृत-निश्चये ॥"

निष्ठा इनकी प्रेरक शक्तियाँ है। आगे बढना मनुष्य का स्वभाव है, क्रियाशीलता और पराक्रम उसका जीवन है .. "

वसुधा को सारी बाते याद आ गई। उसकी सद्भावनाएँ जाग्रत हो गई। चंचला ने उपयुक्त मर्म को छेडा।

गम्भीर होकर वसुधा ने पूछा—"तो फिर हमे क्या करना चाहिए?" और अन्त मे निर्मला से सलाह लेने का निश्चय किया गया। निर्मला ने सलाह दी कि वसुधा गौरी और चम्पा से मिलकर मीठे तरीके से सब बातो को स्पष्ट करने की कोशिश करे।

वसुधा गौरी और चम्पा के पास गई और उसने शुरू किया—"आप लोग तो आजकल मुझ से बाते ही नही करती?"

चम्पा ने व्यग्य के साथ उत्तर दिया -"हम आपका कीमती समय क्यो ख़राब करे?"

वसुधा अपने मन का सन्तुलन बनाये रखकर बोली—"समय तो कीमती होता ही है, बहन, परन्तु परस्पर मेल-जोल रखने से, एक-दूसरे के काम आने से, उसकी कीमत घटती तो नही?"

चम्पा पर इसका कोई असर नही हुआ। उसने उसी तरह फिर कहा—"आप बडे घर की बहू है, हम ग़रीबो से मेल-जोल रखने का क्या मतलब?"

और वसुधा ने भी अपनी राह न छोड़ते हुए कहा—"ऐसी बातें कह कर मुझे लज्जित न करो, बहन!"

गौरी अब तक चुप थी। अब वह वसुधा की शान्ति सहन न कर सकी। बोल उठी—"लज्जित हो आपकी बला! आप तो दूसरों को लज्जित करने का आनन्द लूटिये।"

इससे वसुधा तिलमिला गई। वह उत्तेजित होकर कुछ कहना ही चाहती थी कि उसे अपने उद्देश्य का ध्यान हो आया और वह फिर अपने को सँभालकर गम्भीरतापूर्वक बोली—'मे आपके पास इसलिए आई हूँ कि यदि मुझ से कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा माँग लूँ।"

"माफी माँगने योग्य तो कोई बात दिखलाई नही पडती।"—चम्पा ने गौरी को बोलने से मना करते हुए कहा।

"बहन, हमारे आपसी व्यवहार की ओर सब बहनें उँगली उठाती है। कोई मेरा पक्ष लेती है, कोई आपका। सारे छात्रालय में अशान्ति और दलबन्दी की भावना फैल गई है। हमारे जैसे आदर्श आश्रम के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है।"

गौरी—"ओ हो ! बडी हितैषी आश्रम की !"

वसुधा अपनी बात पूरी करती रही—"इससे आश्रम की बदनामी होगी और हमारे आदर्श शिक्षा प्राप्त करने के मसूबे भी पूरे न होगे। महात्माजी को भी हमारे विषैले वातावरण से दुःख होगा।

चम्पा का दिल पिघलता हुआ मालूम पडा, परन्तु गौरी की भौंहे पूर्ववत् ही तनी हुई थी। वह चम्पा की ढील-पोल से अधीर हो रही थी। उसे परेशानी थी कि चम्पा दो-टूक उत्तर क्यो नही देती ! उसके वश में होता तो वह दो खरे शब्दो में उत्तर देकर वहाँ से चलती होती; परन्तु वह विवश थी। चम्पा के लिए उसके मन में आदर था। वह उसे हर बात में अपने से बडी मानती थी और उसी ने उसे बोलने से मना कर दिया था। उसका धैर्य टूटने ही पर था कि चम्पा बोल उठी—"परन्तु इसकी सारी जिम्मेदारी तो तुम्हारे ही ऊपर है ?"

"मुझे समझा दीजिये, मै प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ।"—वसुधा ने बेकली के साथ कहा।

एक बार चम्पा ने अपने मन को टटोला। उसे वसुधा के विरुद्ध कोई गम्भीर अभियोग न मिला। उसे अपने व्यवहार पर शका होने लगी—तो क्या यह सब मैंने ही किया है ? परन्तु इतनी जल्दी किसी निर्णय पर कैसे पहुँचा जाता ? वह अपने नाखून कुरेदती हुई कुछ देर तक सोचती रही।

इस बीच गौरी के लिए सारा मामला असह्य हो उठा। वह तिनककर बोली—"चुनाव के समय ही यह सब ज्ञान कैसे फूट पडा, वसुधा देवी ?"

यह आक्षेप अनपेक्षित नही था। परन्तु यदि इसका आघात आरम्भ में ही होता तो कदाचित् वसुधा उसे सरलता से झेल जाती। इधर जैसे-जैसे वार्तालाप बढता गया था वैसे-वैसे उसकी अन्तरात्मा की वेदना उसके शब्दो में उतरती गई थी। अन्तिम बात तो उसने इतने सच्चे और साफ दिल से की थी कि उसके बाद कोई आघात सहन करना उसके लिए कठिन हो गया था। ऐसे विषम अवसर पर जब उसके उद्देश्य पर आक्रमण किया गया तो वह तिलमिला उठी। फिर भी उसने अपने आपको रोककर शान्ति और दृढता के साथ कहा—"मै चुनाव के लिए खडी न हूँगी।"

चम्पा चुप थी। गौरी की बात सुनकर एक बार उसके मन में भी शंका उठी थी कि शायद यह सब नाटक चुनाव के लिए ही हो। परन्तु वसुधा की बात सुनकर वह शका विलीन हो गई। उसके मन की दुविधा समाप्त हुई

और वह बोल उठी—"नहीं, वसुधा ! यह नही हो सकता। तुम अवश्य नायिका बनोगी।"

इसके बाद वह सहसा उठकर चल दी। गौरी ने भी उसका अनुसरण किया।

उसी दिन सब आवासी छात्राओं की एक सभा हुई और गौरी तथा चम्पा ने उसमें बड़े जोरों से भाषण दिये। भाषण किस विषय पर हुए और उनमें क्या कहा गया, सो हमें नही मालूम; परन्तु उस दिन से गौरी और चम्पा के बीच मे पर्दा-सा आ जाने के स्पष्ट चिह्न दिखलाई पड़ने लगे।

चुनाव के दिन नायिकाओ के पद के लिए चम्पा ने स्वय निर्मला, वसुधा और चंचला के नाम प्रस्तुत किये। चचला ने चम्पा और गौरी के नाम सुझाये और वसुधा ने उनका समर्थन किया। मत लिये जाने पर चम्पा का नम्बर प्रथम रहा और गौरी का द्वितीय। निर्मला, वसुधा और चचला ने अपने नाम वापस ले लिये थे, अतएव अन्य स्थानो पर विजया, कुसुम और मीरा का चुनाव हुआ। मोहिनी प्रधान नायिका चुनी गई।

वसुधा गौरी की टोली में आग्रह के साथ सम्मिलित हुई और चंचला ने चम्पा की टोली में अपना नाम बदला लिया।

परन्तु चंचला के लिए चम्पा की टोली मे सम्मिलित होना उसकी दुहरी परीक्षा का कारण बन बैठा। विरोधी भावनाओ की नायिका की आज्ञा के अनुसार उसे चलना था और अपनी सचाई तथा सद्व्यवहार से उसके मन को जीतकर अपने वश मे करना था। आरम्भ में उसे एक भारी पराजय-सी प्रतीत हुई किन्तु शीघ्र ही वह सँभल गई। उसने अपने मन को धिक्कारा और सोचा कि चम्पा का मन तो साफ है, मेरा मन ही मैला था। चम्पा का विरोध सचमुच ही उसके सच्चे विश्वास के कारण था। ज्योंही वसुधा ने उसके विश्वास को गलत सिद्ध कर दिया, त्योंही वह हमारी बन गई और हमारे चुनाव की उसने स्वयं कोशिश की। उस दिन से उसने हमारे विरुद्ध किसी प्रकार का प्रचार नही किया।

यह सब सोचकर यद्यपि चचला के मन को बहुत-कुछ तसल्ली हुई, फिर भी एक दूसरी बात उसके सामने मुँह बाये हुए खड़ी थी। चम्पा की टोली को पाखाने और नालियो की सफाई का काम दिया गया था। सभी छात्राओं को बारी-बारी से यह काम करना पडता था, परन्तु चचला के मन में इससे ग्लानि उत्पन्न हो रही थी। वह सोचती, यह काम भगियो का है। जहाँ भंगी नही मिलते वहाँ यह दूसरे हरिजनों को करना पड़ता है। इसे करने

से मुझ पर तो हरिजन होने का सिक्का लग जायगा। मेरी जाति के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? और यहाँ की बहनें भी सोचेंगी कि इसकी तो जाति ही छोटी है, इसलिए इसे तो यह करना ही चाहिए। सवर्ण बहनें इसे करेंगी तो लोग उनकी प्रशंसा करेंगे—कहेंगे कि इनके मन में काम के प्रति आदर है, ये पाखना-सफाई को भी ओछा काम नही समझतीं। परन्तु मेरे लिए इस प्रकार कहने वाला कौन होगा ?

यह सब सोचकर चंचला काँप गई। आत्म-ग्लानि का प्याला लबालब भर गया। उसने चम्पा की टोली से निकल जाने का निश्चय किया।

निर्मला से उसने कहा—"मै चम्पा की टोली में न रह सकूँगी।"

"क्यों ?"—निर्मला ने आश्चर्य से पूछा।

"मेरा मन नही होता।"

"इसमें शामिल हुई हो तो कुछ दिन तो रहना ही चाहिए।"

"मै एक दिन भी न रह सकूँगी।"

"आखिर कोई कारण भी हो ? चम्पा क्या सोचेगी ? बनी-बनाई बात बिगड़ जायगी न ?"

"जो मुझ से हो ही नहीं सकता उसके लिए लाचार हूँ। जरूरत हुई तो मै गौरी की टोली में चली जाऊँगी।"

निर्मला ने कारण जानन का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जब किसी तरह सफलता न मिली तो उसने वसुधा और चचला की टोलियाँ आपस में बदलवा दीं। चम्पा और गौरी को यह परिवतन रहस्यमय मालूम हुआ और दोनों ही असन्तुष्ट हुईं।

परन्तु, क्या चचला को सन्तोष हुआ ?

गौरी की टोली को भोजन बनाने का काम दिया गया था। चंचला ने पहले ही दिन अन्यमनस्कता दिखलानी शुरू की। वह अपने मन से कोई काम न करती और जब उसे कोई काम करने को कहा जाता तो उसे इतनी अरुचि के साथ करती कि न वह समय पर पूरा होता और न अच्छे ढंग से ही होता। रसोई के अन्दर का काम वह भरसक टालती रहती और परोसने के समय भी या तो इधर-उधर चली जाती या एक ओर खडी होकर किसी की आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहती।

कई दिनो तक यह क्रम जारी रहा। चंचला का पूरा सहयोग न मिलने से टोली के काम में व्याघात पहुँचा। प्रधान नायिका और गृह-

व्यवस्थापिका के पूछने पर गौरी ने साफ-साफ कह दिया कि चंचला का हार्दिक सहयोग उसे प्राप्त नही है ।

एक दिन कुछ अतिथि आये हुए थे । टोली की सभी बालिकाएँ समय पर और अच्छा भोजन बनाने के लिए उत्सुक थीं । गौरी ने चंचला को दाल-भात पकाने की जिम्मेदारी सौपी और शेष बालिकाएँ उत्साह से अपना-अपना काम करने मे लग गई ।

चंचला ने दाल-भात चढा दिया और शीघ्रता करने के विचार से खूब आग जला दी । बाद में वह एक ओर बैठकर विचारो में मग्न हो गई । वह कितनी देर तक विचारों में डूबती-उतराती रही, सो कहना कठिन है । भात और दाल दोनो मे ही जब उफान आया और दोनो के ढक्कन बजने लगे और दोनो से ही पानी उफन-उफन कर आग को बुझाने लगा, तब उसने उठकर बर्तनो को देखा था ।

परन्तु कैसे ? वह चूल्हों के पास गई और उसने ढक्कनो को खोल देने के विचार से दो-तीन बार हाथ बढाये और हटा लिये । बार-बार वह विचार करती, बार-बार हाथ बढाती, बार-बार उसके हाथ बैरंग वापस आ जाते । पानी वैसे ही बहता गया, ढक्कन वैसे ही बजते गये, आग वैसे ही बुझती गई और चंचला भी अपनी किसी आंतरिक ऊहापोह मे पड़ी हुई वैसे ही करती गई । गौरी यह सब देख-देखकर क्षुब्ध हो रही थी । रहा न गया तो बोल उठी—"चंचला बहन, ढक्कनो को खोलती क्यो नही हो ? कितना पानी गिर गया, और तुम खडी-खडी तमाशा देख रही हो ।"

चचला जैसे सोते से जाग पडी । उसने चूल्हे से दूर खडी होकर, हाथ लम्बे फैलाकर चिमटे से ढकने खोल दिये । भाप से उसका हाथ झुलस गया और साडी चूल्हे की लपट में आती-आती बची । परन्तु इस सबकी उसने विशेष परवाह नही की । वह फिर अपने कोने में जा बैठी ।

बुझने पर भी अभी आग बहुत तेज थी । चंचला को इस आग की कोई परवाह न थी । कदाचित् उसके अन्दर कोई दूसरी आग धधक रही थी, जिसकी आँच इस बाहरी आग से बहुत अधिक तेज़ थी । परन्तु उसे बाहर से कौन देखता, कौन महसूस करता ?

दुबारा जब उसका ध्यान टूटा तो गौरी के फटकारने पर । गौरी ने कहा—"दाल जल गई और तुम वहाँ बैठी-बैठी न मालूम क्या सोच रही हो । इसी तरह काम करना है तो मेरी टोली से निकल क्यों नहीं जातीं ? मै अब तुम्हारी शिकायत किये बिना न रहूँगी ।"

गौरी खीजती हुई वहाँ से चली गई और मोहिनी तथा गृह-व्यवस्थापिका को बुला लाई। उन्होने आकर देखा कि दाल और चावल दोनो का ही पानी सूख गया था। जली हुई दाल की बास रसोईघर के बाहर भी दूर तक फैल गई थी और चावल कच्चे रह गये थे।

गौरी ने नाराजी से कहा—"यह मेरा काम बिगाड़ने के लिए ही मेरी टोली में जबरन आ गई है।"

किसी ने कोई उत्तर नही दिया। चचला के चेहरे से लज्जा और दुःख का भाव टपक रहा था। गृह-व्यवस्थापिका उसे अपने साथ लेकर वहाँ से चली गई और मोहिनी से कहती गई कि अतिथियों के लिए फिर से दाल और भात बना लो।

गृह-व्यवस्थापिका अत्यन्त स्नेहशीला महिला थी, परन्तु वह उतना ही कठोर होना भी जानती थी। चंचला जब उनके कमरे से निकली तो उसकी आँखें फूली हुई थीं। परन्तु गृह-व्यवस्थापिका ने स्नेह का प्रयोग किया या कठोरता का, यह किसी को मालूम नही हुआ।

६

प्रत्यावर्तन

महीनो-पर-महीने बीतते गये, परन्तु चंचला की मनःस्थिति में कोई सुधार न हुआ। काम से मानो वह डरती थी। छात्राओ का रुख भी उसकी ओर से बदलता गया और अन्ततः उन्होने उससे बातें करना तथा उसकी परवाह करना भी छोड दिया। यदि कभी कोई बात निकल ही आती तो उसमे व्यग्य और आरोपो के अतिरिक्त कुछ भी न होता। वह एकान्त पसन्द करने लगी और हँसी-खुशी उसके चेहरे से विलीन हो गई। पढ़ने मे भी उसका मन न लगता। कक्षा मे सबक तैयार करके वह शायद ही कभी जाती। प्रतिमा की जो दैवी देन उसे प्राप्त थी उसी के बल पर वह थोड़ी-बहुत उन्नति करती रही।

निर्मला, वसुधा और मीनाक्षी ने उसे समझाने और सँभालने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नही मिली। अपनी परम सखी की यह अवस्था देख-देखकर वे दु.खी होती; परन्तु जब उससे कोई बात पूछतीं तो उन्हे एक ही उत्तर मिलता—"मुझे अपने-आप पर छोड़ दो।"

परीक्षा का समय निकट आ गया। एक दिन इतिहास-शिक्षक ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—"मेहनत कर लो, नही तो उत्तीर्ण न हो सकोगी।"

चंचला सारा समय पढने में ही तो लगाती थी। बस, उसे याद कुछ नही रहता था। अब वह अपने-आपको लाचार मानने लगी थी। शिक्षक की बात सुनकर उसने चुपचाप सिर झुका लिया। अन्य शिक्षको ने भी उसे वही चेतावनी दी और उनके सामने भी उसकी वही अवस्था हुई।

विद्यालय से लौटने पर वह उदास भाव से लेट रही। भोजन का समय हो गया, परन्तु वह उठ न सकी।

आज कई दिन बाद जया ने उसके पास आकर स्नेहपूर्वक कहा—"दीदी, लेटी क्यों हो? भोजन के लिए भी नही गई?"

चचला सहसा उसे पाकर उलाहने के स्वर में प्यार से बोली—"तुम इतने दिनो तक मेरे पास क्यों नहीं आई ?"

जया ने लाड के साथ कहा—"तुम तो नाराज रहती हो। हमेशा अकेली बैठकर पढ़ती रहती हो। न किसी से बातचीत, न हसना-खेलना। मुझे बुरा मालूम होता है और डर भी लगता है।"

चचला मानो सोते से जाग उठी। जया की भोली बातो ने उसके मर्म-स्थल को छू दिया। उसकी विचार-सरणी जाग्रत हो गई—क्या ? मेरे रुख के कारण जया मुझ से विलग हो गई थी ? तो क्या और बहनें भी इसी कारण मुझ से उदासीन या अप्रसन्न हो गई है ?

उसने एक बार अपने पिछले जीवन पर दृष्टि फेरी। आने के बाद के सुखमय जीवन का प्रसन्न चित्र और चुनाव के बाद से अब तक का उदासीन और विडबनामय चित्र—दोनों एक के बाद एक उसके सामने आकर खड़े हुए। कोई निश्चय कर सकना उसकी शक्ति के परे था और समस्या को छोड़ देना भी सम्भव नही था।

वह फिर एकान्त चाहने लगी। उसने अपने हृदय का सारा बल एकत्र करके दीन और करुण स्वर में जया से कहा—"जयारानी, अभी मेरी तबीयत ठीक नही है। तुम थोडी देर बाद आओगी क्या ?"

जया को अच्छा न लगा। वह लाड-भरे रोष में उठ खडी हुई और बोली—"अब मै कभी न आऊँगी। आती हूँ तो बात भी नही करतीं, नहीं आती तो उलाहना देती हो।" और वह रूठकर चल दी। चचला ने मनाने की इच्छा से उसे बार-बार बुलाया, पर वह लौटी नहीं। एक बार उसके मन में आया कि जाकर पकड़ लाऊँ, परन्तु पैरो ने साथ न दिया। अपने विचारों की माला गूँथती रही—"आखिर यह परिवर्तन मुझ में क्यों हुआ ? उस चुनाव के पूर्व मेरे मन मे कितनी प्रसन्नता थी, कितना उत्साह था। उसके बाद कितने ही चुनाव हो चुके, एक बार भी वह प्रसन्नता पैदा न हुई। दिनो-दिनो जीवन भार होता जाता है। ऐसे जीवन से क्या लाभ ? इससे तो मर जाना ही अच्छा है। थोडी देर मे सब व्यथा मिट जायगी। . ...परन्तु क्या मै मर सकती हूँ ? और क्या मरने से सचमुच दुःख दूर हो जाते है ? यह भी तो हो सकता है कि दुःख और बढ़ जायें ? उस दिन आचार्य ने कहा था कि आत्महत्या महा पाप है। उसके बराबर कायरता दूसरी नही होती। क्या मै कायरता की शिकार हो जाऊँ ? नही, यह कदापि नही हो सकता। सब-कुछ हो सकती हूँ, कायर नही। बापू भी तो कायरता की बुराइयाँ बतलाया करते थे। उन्होने

अपना सारा जीवन संघर्ष में बिताया, सारी मुसीबतो का सामना बहादुरी के साथ किया। उनकी पुत्री होकर मै दुनिया से भाग नही सकती। नही, मै मरूँगी नही। परन्तु, फिर उपाय क्या है . ?"

इसी बीच उसे जया की याद हो आई—वह कहती थी, मुझे तुम से डर लगता है। ओह ! तो क्या मै भयावनी हो गई हूँ ? फिर क्या आश्चर्य कि दूसरी बहने भी मुझ से इसी कारण दूर-दूर रहती है ! गुरुकुल में तो कभी ऐसा नही हुआ ! यहाँ भी उस चुनाव से पूर्व सब ठीक था ! फिर अब क्या हो गया ? काम से मुझे डर क्यो लगने लगा ? पढाई में मै पीछे क्यो पड गई ?

इतनी माथा-पच्ची के बाद भी उसकी समझ में कुछ न आया। जितना अधिक मथन करती उतने ही अधिक उसके विचार उलझते जाते। अन्त मे उसकी उदात्त भावनाएँ जाग्रत हुई। वह अधीर हो उठी। परिणाम का विचार एकदम उसके मन से उड गया। उसने निश्चय किया—मुझे अपनी पुरानी हालत पर लौटना ही होगा। बहनों से मै उसी तरह प्यार करूँगी, पढाई मे मेरा नम्बर फिर पहला होगा, काम मै फिर मन लगाकर करूँगी !

उसने सामुदायिक-जीवन के सम्बन्ध मे महात्मा जी के उस दिन के उपदेश को स्मरण किया। उससे उसे साहस मिला। वह उठकर खडी हो गई। और सबसे पहले उसने जया के कमरे में जाकर उसे मनाया। तदुपरान्त वह उसे साथ लेकर निर्मला, वसुधा, मीनाक्षी आदि के कमरों में गई। उसके चेहरे पर आज मुसकान दिखलाई पडती थी, यद्यपि वह मुसकान विषाद की गहरी रेखा से मुक्त नही थी। कई दिन बाद—नही, महीनों बाद आज वह बहनों से मिलने गई थी। महीनो बाद बहनों ने एक बार फिर उसे हँसने का प्रयत्न करते देखा था। इस आकस्मिक परिवर्तन पर वे सहसा विश्वास न कर सकीं।

गौरी ने उसे देखा, तो मुँह फेर लिया। उसने अपने पास बैठी हुई एक बहन का हाथ दबाकर धीरे से कहा—अब कोई नई सनक सवार हुई है ! परन्तु जब चचला उसके पास जाकर बैठ गई तो उसे सभ्यता के नाते उससे कुछ बातें करनी ही पड़ी। चम्पा के व्यवहार में कुछ आत्मीयता, कुछ सहानुभूति की आर्द्रता दिखलाई पडी।

और जब वह वसुधा के पास गई तो वसुधा को कुछ नवीनता का आभास अवश्य हुआ, परन्तु उसने अपने स्वाभाविक विनोद के स्वर में इठलाते हुए कहा—"अनबोला रानी एक बार, बोली, दो डंके पर चोट !" और फिर जमीन तक झुककर, बार-बार उसे सलाम करते हुए और मुगल

दरबार में आये हुए बादशाह के स्वागत का अभिनय करते हुए, उसने उसे लाकर अपने 'तख़्त' पर बैठाया और फिर हाथ जोडकर उसके सामने खड़ी होकर बोली—"बांदी क्या ख़िदमत कर सकती है ?"

चंचला ने भी उसका साथ देते हुए कहा—"मुझे मनसा-वाचा-कर्मणा अपने मे लीन रखो—आज के लिए यही आदेश है।"

और वसुधा ने मानो इस 'आदेश' का अक्षरशः पालन किया।

१०

दयाविद्ध हरिणी

उस दिन से चंचला दृढतापूर्वक अपने नये परिवर्तन को स्थिर रखने का प्रयत्न करती रही। अब वह नियमपूर्वक बहनो से मिलती-जुलती और उनके हास-परिहास मे हिस्सा बँटाती। खेल के मैदान पर वह कभी अनुपस्थित न रहती। स्वाध्याय के समय वह बराबर अपना पाठ तैयार कर लेती। मन मे फिर शान्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वह सुखी हुई। वार्षिकोत्सव में उसने उत्साहपूर्वक भाग लिया और परीक्षा मे भी वह तीसरे नम्बर पर उत्तीर्ण हुई।

परीक्षा-फल प्रगट होते ही सारी बहनें घर जाने को आतुर हो उठी। अनेक तो परीक्षा-फल प्रगट होने के पूर्व ही चली गई थी और शेष शीघ्र-से-शीघ्र जाने के लिए तैयार बैठी थी। अतएव दुपहर को ही बिदाई की सभा और सायकाल बिदाई का सहभोज निबटा देना निश्चय किया गया।

सभा में आचार्य ने कुछ छात्राओ की प्रशसा की और कुछ के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। अपने भाषण मे उन्होने कहा—"हमारे आश्रम में भिन्न-भिन्न धर्मों, वर्गों और जातियो की बालिकाएँ मौजूद है। हमे अभिमान है कि वे सब आपस में बहनो के समान मिलकर रहती है और उनमें किसी भी प्रकार का भेदभाव नही है। हमारे आश्रम ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि दलित सम्प्रदायो की बालिकाएँ भी उचित शिक्षा मिलने पर अधिक-से-अधिक उन्नति कर सकती है। चचला इस सत्य का जीता-जागता उदाहरण है। हमें उस पर गौरव है। उसने जिस योग्यता और सास्कारिकता का परिचय दिया है, उससे दूसरी बहनों को स्फूर्ति ग्रहण करनी चाहिए."

जिन छात्राओ का मन अब तक चचला के सम्बन्ध में साफ नही हुआ था, उन्हे उसकी प्रशसा अच्छी नही लगी। किसी को उसके प्रति ईर्ष्या हुई, किसी को द्वेष हुआ, परन्तु उसकी सखियाँ प्रसन्नता से फूली न समाई।

जया को तो ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उसकी ही प्रशसा की गई हो। सभा समाप्त होते ही वह चंचला से लिपट गई और भावावेश मे आकर बोली—"दीदी ! मेरी दीदी !"

चंचला व्याख्यान सुनती-सुनती विचारो में निमग्न हो गई थी। उसके चेहरे पर फिर पहले जैसी गम्भीरता छाई हुई दिखलाई पडने लगी थी। उसकी जो प्रशंसा आचार्य ने की उसके बाद स्वभावत. ही अनेक छात्राओं ने उसकी ओर देखकर उसकी प्रतिक्रिया समझने का प्रयत्न किया था। उसकी गम्भीरता को देखकर एक छात्रा ने दूसरी छात्रा से कहा था—"अपनी प्रसन्नता को कैसे दबा लिया है !" दूसरी ने उत्तर दिया था—"वह है ही मनहूस !" तीसरी मुँह बिचकाकर रह गई थी।

परन्तु उसकी सखियाँ उसकी ओर देखकर मुस्कराई। जब उसने मुसकान का उत्तर मुसकान से न दिया तो मीनाक्षी ने अपनी दो अँगुलियाँ सीधी करके उसे इस प्रकार दिखलाई, मानो कह रही हो कि दोनो आँखे कोच दूँगी। वसुधा ने मुँह में हवा भरकर और दोनो गाल फुलाकर उसकी नकल करते हुए उसकी ओर देखा। और क्या-क्या नही हुआ ?

परन्तु क्या उन सब चेष्टाओ का चचला के ऊपर कोई परिणाम हुआ था ? क्या वह उनकी ओर आकृष्ट होकर अपने विचारों से विरत हो सकी थी ?

और जया के शरीर से लिपट जाने पर उसे प्रतीत हुआ, मानो वह जान-बूझकर उसे तंग कर रही हो। परन्तु जया पर क्रोध करने की शक्ति उसमें नही थी। उसके प्रति उसके हृदय में एकात्म्य उत्पन्न हो गया था। फिर भी जया का यह अत्याचार वह सहन न कर सकी और रूखे स्वर में बोली—"कैसी नष्ट है, री ! तू !" और वह उसे दूर हटाने लगी।

जया ने उसके रुख को बिना समझे ही उसे अपने बाहुपाश से छोडते-छोडते कहा—"दीदी, आज कैसा खुशी का दिन है !"

चचला ने तीव्रता से कहा—"खुशी का दिन है या रोने का !"

जया ने समझा कि बिदाई का दिन होने के कारण वह ऐसा कह रही है। उसे बात ठीक भी मालूम हुई और गलत भी। अतः उसने और भी मधुरता के साथ कहा—"दो महीने बाद ही तो फिर मिलना है, दीदी ! रोने की क्या बात है !"

और अब तक इधर-उधर बहनो को चिढ़ाती-चमकाती वसुधा वहाँ आ पहुँची। उसने जया की बात सुनली और बिना कोई बात किये ही यह

धारणा कर ली कि चंचला की उदासी का कारण विदाई ही है। उसने दोनों को छोड़कर और अभिनय करके गाना शुरू कर दिया—

"प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।"

और लोगो का ध्यान तो उसके गीत की ओर खिच गया, परन्तु चचला कुछ अधिक ही सतप्त दिखाई पडी। वसुधा हार माननेवाली नही थी। उसने चचला की ठुड्डी पर हाथ लगाकर, नृत्य-मुद्रा के साथ आगेगाया—

"प्रीति पतंग करी दीपक सो, आपै प्रान दह्यो ॥
प्रीति करि ..."

फिर भी चचला पर अनुकूल प्रभाव न पडा और वसुधा ने उसी प्रकार छड-छाड करते हुए अपना गीत समाप्त कर डाला—

"अलि सुत प्रीति करी जल सुत सों, संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जु नाद सो सनमुख बान लह्यो ॥
प्रीति करि.
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु दिन दुःख दूनो, नैननि नीर बह्यो ॥
प्रीति करि "

गीत समाप्त करते-करते वसुधा ने जया को गुदगुदा दिया और जया किलकिलाकर दूर भाग गई। इस पर चचला ने भी मुस्कराने की चेष्टा की, परन्तु इस बार दिखाई दे गया कि उसके हृदय मे कोई गहरी पीडा छिपी हुई है। इसी बीच गृह-व्यवस्थापिका ने वहाँ आकर कहा कि रात को जानेवाली बहनो को अपनी-अपनी तैयारी कर लेनी चाहिए। बहनें हू-हा करती हुई वहाँ से भाग गई।

चचला ने कोई तैयारी नही की। वह जाती भी कहाँ? उज्जैन में उसका घर खाली हो गया था। उसके चाचा इन्दौर वापस चले गये थे और उन्होंने इतने दिनो में उसे एक पत्र भी न लिखा था। उनके पास जाने का उत्साह उसके दिल में न हुआ। थोड़ी देर के लिए जीवन की ओर उसका मन आकर्षित हुआ। जीवन बराबर उसे पत्र लिखता रहता था। अपने अन्तिम पत्र में उसने बहुत आग्रह के साथ उसे उज्जैन आने का आमत्रण दिया था। इसे स्मरण करके उसे प्रसन्नता अवश्य हुई; परन्तु अब वह दुनिया की बातें समझने लगी थी, इसलिए उसका उत्साह बहुत देर तक क़ायम न रहा। वह विवश और शिथिल होकर अपने पाटे पर जा लेटी। उसका हृदय जैसे दुहरी मार से पीड़ित था।

सहभोज की तैयारी के लिए जब निर्मला, गिरिजा, मीनाक्षी, कान्ता और जया मिलकर उसे बुलाने आईं तो उन्होंने उसे लेटे हुए पाया। उसका चेहरा इतना उतर गया था, मानो महीनो से बीमार हो।

सब स्तब्ध रह गईं। निर्मला ने शान्ति भंग करते हुए पूछा—"क्या हो गया तुम्हे, चंचला ?"

"कुछ भी तो नही, यों ही पड़ी हुई हूँ।"—चंचला ने प्रयत्नपूर्वक उठते हुए छिपे दर्द की आवाज में कहा।

"फिर तुम्हारा चेहरा इतना सूख क्यों गया ?"

इस पर जया बोल उठी—"जाने वाली जो है।"

चचला ने कोई उत्तर न दिया। सहानुभूति और स्नेह की गलतफहमी से उसे और भी व्याकुलता हुई। हृदय उमडने लगा और बड़े प्रयत्न से उसने अपने-आपको सँभाला।

गिरिजा ने उसकी यह दशा बारीकी के साथ देखकर दर्द-भरे शब्दों में कहा—"अपने दुःख में तुम हमें कभी शामिल नहीं करती। हमें कितनी दूर मानती हो। इस प्रकार मन-ही-मन घुल-घुल कर हमारे प्रति अन्याय करती हो।"

"बताने योग्य कुछ हो तब तो बताऊँ, गिरिजा !"—चंचला ने अपने-आपको और भी सँभालते हुए कहा।

"तुम्हारे पास तो कुछ भी बताने योग्य नहीं रहता।"—जया ने उलाहना दिया।

और निर्मला ने भी छोड़ा नहीं—"ऐसी-कौन-सी रहस्य की बातें तुम्हारे पास है, जो हम से भी नही बताई जा सकती ?"

अन्तिम वार मीनाक्षी का था—"क्यों नही, प्रेम की . .शादी-ब्याह की ...."

और यह वार खाली न गया। चंचला ने उसकी बात पूरी होने के पहले ही उसके दोनो हाथ पकडकर, ढकेलते हुए कहा—"हट री !" और वह मुसकराई और फिर लजा गई। सब बहनें खिलखिलाकर हँस पड़ी।

सहभोज समाप्त होने पर प्रायः सभी छात्राएँ अपने जाने की दौड़-धूप में लग गईं। इधर निर्मला और चंचला के बीच बहुत देर तक बातें होती रही। छात्राओं को तो केवल इतना ही मालूम हुआ कि चंचला निर्मला के साथ इन्दौर जाकर अपनी गर्मी की छुट्टियाँ उसी के घर में बितायेगी। इस निश्चय से चंचला को प्रसन्नता हुई या नहीं, इसका पता नहीं चल सका।

जब वह निर्मला के घर पहुँची तो निर्मला की मा ने दोनो सखियो का बराबर प्यार के साथ स्वागत किया। परिचय के बाद मा ने कहा—"सिलावटो को तो अभी-अभी हरिजन माना जाने लगा है।"

चचला को इस विषय का उठना ही कडवा लगा, पर इसे रोक देना उसके हाथ की बात न थी। सिलावटो के घर में वह पैदा हुई थी, इससे तो इनकार किया ही नही जा सकता था। और यह भी सच था कि सिलावटो को अब अस्पृश्य माना जाता था। भाग निकलने की गुजाइश ही कहाँ थी? परिस्थिति का सामना करने से ही काम चलेगा। उसने निर्मला की ओर भेद-भरी दृष्टि से देखा और निर्मला ने बात को उठा लिया—"स्पृश्य और अस्पृश्य तो हमने ही बनाया है, मा! अब तो हमे यह सब बिल्कुल भूल जाना चाहिए। हम सब एक ही भगवान् के बनाये हुए है और सब बराबर है।"

"हाँ, बेटी! सो तो है ही।"—मा ने कहा—"ये लोग तो मुसीबत के मारे है और इसलिए भगवान् को और भी प्यारे है।"

दया और सहानुभूति के तीर से चचला विद्ध होने लगी। निर्मला अपनी पैनी दृष्टि से उसके चेहरे का परिवर्तन देख रही थी। उसने बात को बदलने के इरादे से कहा—"मा, यह मेरी सबसे प्यारी सखी है।"

"और है भी तो बहुत अच्छी! तुम दोनो एक थाली में भी खाओ तो मुझे कोई आपत्ति न होगी, परन्तु मुझे जरा बचा देना। अब थोड़ी उम्र बाकी है। जैसे इतनी कटी, वैसे ही बाकी भी कट जाने दो, बेटी।"

मा के हृदय मे कितना स्नेह था! और कितनी उदारता! परन्तु निर्मला जिस बात को टालना चाहती थी, उसमें वह सफल न हुई। यद्यपि चंचला ने आज तक स्पृश्यास्पृश्य के सम्बन्ध में उससे कोई बात नही कही थी, फिर भी वह उसके मनोगत भावों को महसूस करने लगी थी। मा के मुँह से अनपेक्षित रूप मे यह बात सुनकर उसका मन आशंकाओ से भर गया।

भोजन के समय मा ने चौके के बाहर दो पटे डाल दिये। दोनो के बीच दो-तीन हाथ का अन्तर था। निर्मला की छोटी बहन सरला ने दो परोसी हुई थालियाँ लाकर दोनो सखियो के सामने रख दी। भोजन करते समय दोनों के मुँह से एक शब्द भी न निकला। सरला यदि बीच-बीच में कुछ बातें करने का प्रयत्न करती तो उसे 'हाँ-नहीं' में उत्तर देकर दोनों चुप हो जाती। मा ने यह मौन देखा तो उन्हे शंका हुई कि शायद भोजन अच्छा नहीं बना। उन्होंने चौके से निकलकर और उनके पास आकर चंचला से

कहा—"आज जल्दी-जल्दी में मै अच्छी तरह भोजन नही बना सकी, बेटी ! तुम लोग अपने हाथों बनाती-खाती हो, यह भोजन अच्छा न लगा होगा।"

चचला ने यंत्रवत् कह दिया—"भोजन तो बहुत अच्छा बना है, मा ! हम लोग तो आश्रम में जैसा-तैसा बना लेती हैं।"

निर्मला ने भी मा को संतुष्ट करना जरूरी समझा, इसलिए कहा—"बिल्कुल अच्छा नही बना, मा ! शाक में घी-ही-घी है, दाल में नमक न कम है, न ज्यादा।"

मा हँस पडीं और बोलीं—"शाम को अच्छी तरह बनाऊँगी।"

दोनों सखियाँ यात्रा की थकी हुई थी। मा के आग्रह से एक कमरे में आराम करने लगी। मा को इससे अधिक सुख किस बात से मिलता है कि वह अपने बच्चो को सुखी और प्रसन्न देखे ?

परन्तु क्या चचला को आराम मिल सकता था ? चारों ओर से छिदते हुए काँटो के बीच फूल की कली कितनी खिल सकती है ? उसके हृदय मे धू-धू करके भट्टी जल रही थी। एक ओर समाज की दया और सहानुभूति थी, दूसरी ओर उसका व्यक्तित्व और उसकी महत्वाकांक्षाएँ। सिर से चादर ओढ़कर वह करवटें बदलती रही। बीच-बीच में वह जोर से निश्वास छोड़ देती थी, मानो अन्तरात्मा की अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाली आँधी को मुँह के मार्ग से निकालने का प्रयत्न करती हो।

वह मन-ही-मन तर्क कर रही थी—आखिर मै दुनिया में दया और सहानुभूति की पात्र क्यों हूँ ? क्यों लोग मेरे साथ बराबरी का सम्बन्ध नहीं रख सकते ? आश्रम में जितनी छात्राएँ है उनमें यदि मै कुछ से पीछे हूँ, तो कुछ से आगे भी हूँ। परन्तु समाज में तो मै हर हालत मे पीछे ही मानी जाती हूँ। यदि मै ब्राह्मण-क्षत्रिय के घर में पैदा नही हुई तो इसमे मेरा क्या दोष ? यदि मै सांस्कारिकता और सभ्यता से अछूती होती, बुद्धि में सबसे पीछे होती, मेरे व्यवहार से दूसरो को कष्ट होता, तब तो भले ही लोगों को मुझे दूर-दूर रखने का अधिकार होता; परन्तु बात तो इसकी उलटी है।

लोग मुझे हरिजन कहते है, परन्तु मै तो हरिजन नहीं हूँ ? मेरे पिता अपने बचपन में हरिजन नहीं माने जाते थे। जैसे-जैसे वह उन्नति करते गये, बढ़ते गये, वैसे-वैसे समाज उन्हे हरिजन बनाता गया। तीस-चालीस वर्षों में ही एक जाति-की-जाति हरिजन बन गई। ऐसी कितनी ही अभागी जातियाँ इस भीषण अस्पृश्यता का शिकार हुई है। उनकी भावनाओ और महत्वा-काक्षाओ को कुचलकर उन्हे अवनति के गर्त में जा गिरने के लिए बाध्य किया

गया है। यह सब क्यों किया गया ? इससे किसी का क्या लाभ हुआ ? समाज की व्यवस्था इससे छिन्न-भिन्न हुई। सगठन नष्ट हो गया। समाज ने अपने पैरो पर कुल्हाडी मारने के अतिरिक्त क्या किया है ?

लोगो की सेवा और सहायता करने का महान् कार्य हमारी-जैसी जातियो का रहा है। हमारी जातियो ने अपने कर्तव्य का पालन सदैव सचाई, दक्षता और धैर्य के साथ किया। इस सब का फल हमे यह मिला कि हम अछूत माने जाने लगे। किसी मनुष्य को किसी के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करने का क्या अधिकार है ?

बहुत देर तक वह इसी प्रकार के विचारो में डूबती-उतराती रही। निर्मला की माता की सहानुभूति ने आज उसके आत्माभिमान को जोर से झकझोर कर जाग्रत कर दिया था। उसके स्नेह मे उसे स्निग्धता अवश्य दिखलाई दी, परन्तु स्निग्धता के साथ भावनाओ का मेल ढूंढे न मिला। उस स्निग्धता मे उसने अपना प्रतिबिब देखा तो उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसका व्यक्तित्व टूटा-फूटा, विकृत और नष्टप्राय है। वह चौक पडी और इस स्निग्धता से दूर भाग जाने के लिए व्याकुल हो उठी।

निर्मला लेटी-लेटी सो गई थी। जब वह जागी तो चचला ने उससे कहा—"मुझे लगता है कि चाचा के घर में रहकर ही छुट्टियाँ बिताना अच्छा होगा।"

निर्मला के लिए चचला का यह विचार आश्चर्यजनक नही था। इधर कुछ दिनो से वह उसकी मनोवृत्ति समझने लगी थी। मा के व्यवहार का यही परिणाम होगा इसकी आशका उसे पहले ही हो चुकी थी। फिर भी बात को सँभालने के उद्देश्य से उसने कहा—"क्यो ? यह भी तो तुम्हारा ही घर है ?"

"नही निर्मला, मेरा घर एक ही है और वह हरिजनो की बस्ती में है।"

"ऐसा क्यों कहती हो ?"

"मुझ से समाज की दया और सहानुभूति सही नही जाती।"

"यह तो गलत तरीका है, चंचला ! छुआछत की प्रथा के कारण अब तक समाज ने अवश्य ही अपने एक अग पर बहुत अत्याचार किया है, परन्तु अब वह अपनी भूल को समझ रहा है। उसके व्यवहार में परिवर्तन आरम्भ हो गया है। क्रान्ति एक दिन में नहीं होती। धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा। इस बीच तुम्हे भी उदारता का परिचय देना चाहिए।"

बात बुद्धि को पटने योग्य थी परन्तु चचला तो भावनाओ के सरोवर में डुबकियाँ लगा रही थी। उसने कहा—"तुम्हारी बात ठीक है, परन्तु कटु

प्रसगो और प्रतिकूल वातावरण में रहकर मै अपने भावों पर नियन्त्रण नही रख सकती। थोडे दिनों की शान्ति के विचार में मेरा चला जाना ही अच्छा है।"

"तो क्या मै यह समझूँ कि हम लोग तुम्हारी अशान्ति के कारण है ?"

"ऐसी बात नहीं है, निर्मला ! तुम्हारी जैसी सखी पाकर मै सुखी और गौरवान्वित हुई हूँ। तुम्हारी माताजी ने भी मेरी भावनाओ का ख्याल रखा है। मेरा मन चोट खाया हुआ है, इसलिए छोटी-छोटी बातें भी मेरे लिए असह्य हो जाती है।"

"आखिर चाचाजी के साथ रहने पर भी तो समाज का सम्बन्ध आयेगा ही। वहाँ तुम सुखी कैसे हो सकोगी ?"

"मै थोडे दिन सवर्ण समाज से कोई सम्बन्ध न रखूँगी।"

"यह विरक्ति का मार्ग मेरी समझ में नहीं आता। जिस समाज के बीच सारा जीवन बिताना है उससे चार दिन के लिए अलग होने से क्या लाभ होगा ? क्यो न अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए बराबर उससे लड़ते रहा जाय ?"

"अभी तो मुझे भी थकान मालूम होती है। थोड़े दिनों के लिए जाना ही ठीक होगा।"

"जाना ही चाहती हो तो मैं तुम्हे रोकूँगी नही, परन्तु एक वादा करना होगा।"

"क्या ?"

"अपने मन की स्थिति से मुझे सदा अवगत रखोगी; कोई बात छिपाओगी नही !"

"प्रयत्न करूँगी।"

"प्रयत्न नही, सब-कुछ बतलाना होगा। करो वादा।"

चंचला ने कुछ सोचने के बाद वादा कर दिया। और थोड़ी देर बाद ही निर्मला की मा से आदर के साथ विदा लेकर वह अपने चाचा के घर चली गई।

मा ने बेटी से कहा—"हरिजन होती हुई भी कैसी भली लडकी है ! परन्तु कुछ दु.खी मालूम होती है।"

निर्मला ने गद्गद् होकर उत्तर दिया—"मेरी सबसे प्यारी सखी है, मा ! ऐसा लगता है, मानो तुम्हारे ही पेट से पैदा हुई हो। परन्तु तुम उसे भोजन कराने में दूर-दूर क्यो रही ?"

"क्या करूँ, बेटी ! जन्म-भर के सस्कार एक दिन में नहीं जाते। आगे मै और भी ध्यान रखूँगी।"

"तुम कितनी भली हो, मा !"—कहते-कहते निर्मला ने मा की गोद में सिर रख लिया। दोनो का दिल भर आया।

"तुम्हारी जोडी सदा बनी रहे, बेटी ! मुझे तुम्हारे सुख मे ही सुख है।"—मा ने अत्यन्त स्नेह के साथ निर्मला के सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया।

११

शिर ऊँचा उठा

उधर चचला अपने चाचा के घर पहुँची तो उसका बडे स्नेह के साथ स्वागत हुआ। चाची ने उसे हृदय से लगाया। चाचा ने प्यार के साथ उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"यह हमारे कुटुम्ब की रत्न है।" और जब प्रेम का प्रथम आवेग कुछ कम हुआ और चचला को सोचने का अवसर मिला तो उसका ध्यान उसके माता-पिता पर जा पहुँचा। अवश्य ही यदि माता-पिता जीवित होते तो उसे आज से सौ-गुना सन्तोष हुआ होता। स्वजन-परिजनों में से प्रायः सभी लोग उससे मिलने आये, वह भी प्रायः सभी के घर गई परन्तु जो सन्तोष माता-पिता के पास होता, उसका अनुभव कहाँ हो सकता था ?

कई दिन ऐसे ही बीत गये। जैसे-जैसे वह नई की पुरानी होती गई, वैसे-वैसे उसे थकान महसूस होती गई। अतः उसने आस पास के छोटे-बडे बच्चो को एकत्र करके उन्हे पढाना शुरू किया। घर-घर घूमकर वह स्त्रियो को भी शिक्षा देने लगी। इस कार्य में उसे आनन्द मिलने लगा। जीवन को भी उसने पत्र लिखकर इन्दौर बुलाया और उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा करने लगी।

और काम उसका बढ़ने लगा, और बढ़ता ही गया। चार-पाँच दिनों में ही सारे मोहल्ले में बात फैल गई कि उसने बच्चो की पाठशाला खोली है और सारे मोहल्ले के 'अवर्ण' बच्चे उसे घेरे रहने लगे। सवर्ण परिवारों में से भी कुछ के बच्चे आये। ढाई-तीन वर्ष से लेकर सात-आठ वर्ष तक के बच्चो की शाला बनी। बड़े लडके-लड़कियाँ भी मनोरजन के लिए आने लगे। वह कहानियाँ सुनाती, उन्हे तकली कातना, लिखना-पढ़ना, चित्र बनाना, नाचना, गाना, बजाना और खेलना आदि सिखाती। एक छोटे-से नाटक की तैयारी भी उसने शुरू कराई। बच्चो के साथ बडे प्रेम का व्यवहार करती। बच्चे भी उसे छोडना न चाहते।

समय कितनी जल्दी बीत गया, उसे मालूम भी न पडा। जीवन आया और कुछ दिन रहकर चला गया। बच्चो की पढाई और घर-घर जाकर स्त्रियो को पढाना जारी रहा। इस सबसे उसकी लोकप्रियता खूब बढी। स्त्रियाँ उसका आदर करती और पुरुष प्रशसा करते। चचला को इस सबसे बहुत सन्तोष हुआ। बार-बार वह महसूस करती कि जाति के ये लोग कितने प्रेमी हैं। बहुधा वह सभ्य कहलाने वाले समाज से इन दीन-हीन, प्रताडित और प्रवचित लोगो की तुलना करने लगती और सफेदपोश ससार के प्रति उसकी विरक्ति बढ जाती। प्रेम, सहानुभूति और सहिष्णुता की इन जीवित-जाग्रत मूर्तियो के आसपास ही उसे अपना स्थान दिखलाई पडता। इनकी प्रत्येक बात उसे आकर्षित करने लगी।

वह बड़े-बड़े महल देखती, सुन्दर गृह-सज्जा देखती, नहरे देखती, बाग-बगीचे देखती, रेलें और मोटरें देखती, और उसका सिर गौरव से उन्नत हो जाता—ये सब तो हम लोगों के ही बनाये हुए है। यदि हम न होते तो इन्हे कौन बनाता ? परन्तु विधि की विडबना ! जो लोग हमारी बनाई हुई वस्तुओ का उपयोग और उपभोग मात्र करते है, वे सभ्य कहलाते हैं, परन्तु उनके निर्माताओं को असभ्य, अस्पृश्य कहा जाता है !

उसकी दृष्टि जिधर जाती उधर ही उसे दलित समाज के हाथो और बुद्धि का चमत्कार दिखलाई पडता। अब तक हरिजन कहलाने मे वह अपना अपमान समझती थी, परन्तु इधर वह सोचने लगी कि यदि मैं हरिजन हूँ तो मेरी स्थिति कितनी महान् है। कितनी सेवा, कितने मूक बलिदान का श्रेय हरिजनो को है। आज भले ही समाज इसे स्वीकार न करे, परन्तु सदैव यह स्थिति क़ायम नही रह सकती।

हरिजन कहलाने का अनुताप उसे अब न रहा। उसे अब वह गौरव का तिलक मानने लगी। अब वह महसूस करती कि हरिजनो को अस्पृश्य माना जाता है तो उसका हृदय बैठता नही, वरन् विद्रोह करता।

सारा ससार—वह संसार जिसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे अपने परम्परागत अधिकार स्थापित कर रखे हैं और जो इन अधिकारो के बल पर दूसरो को पीडित करता रहता है—उसे शत्रु के समान प्रतीत होता। कभी-कभी वह सोचती कि जो कुछ भी है, उस सबको एक बार नष्ट कर दिया जाय और फिर से एक नये संसार का निर्माण हो—ऐसे संसार का, जिसमें कोई परम्परागत अधिकार न हों, सब मनुष्य बराबर हो और सबको उन्नति करने का बराबर अवसर मिले; जिसमें बालपन फूल-सा खिले, यौवन आँधी का वेग

धारण करके अदम्य गति से सत्पथ की ओर चले और जरा ज्ञान, अनुभव तथा साम्य का दण्ड लेकर दूसरो का मार्ग-प्रदर्शन करे।

इसी प्रकार के हृदय-मंथन में उसकी छुट्टियाँ समाप्त हो गई। जिस दिन वह रवाना होने लगी, उस दिन जाति की सभी स्त्रियाँ उससे भेट करने आई। बच्चों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। उस दिन का प्रेम उसके हृदय-पटल पर गहरा अंकित हो गया।

रेलगाड़ी पर निर्मला ने उससे विनोद किया—"तुम तो ऐसी उदास हो गई हो, जैसे मायके से ससुराल जा रही हो।"

"बात कुछ ऐसी ही है, निर्मला! मुझे सचमुच ही इन्दौर छोड़ना बहुत भारी पड रहा है।"—चचला ने निर्मला के विनोद को गम्भीर रूप देते हुए कहा।

"इन्दौर में कौन-सा ऐसा आकर्षण तुम्हे मालूम हुआ? यहाँ तो तुम पहले आना ही नही चाहती थी।"

"यहाँ मैने क्या नही पाया, बहन? भाई-बहन, सखी-सखा, सभी तो मिले। उनके बीच में रहकर जो प्रेम और अपनापन मैने महसूस किया, वह और कहाँ मिल सकता था? छोटे-छोटे बच्चे मुझे छोडना नहीं चाहते थे, बडे लोगों की आँखो में मुझे विदा करते हुए आँसू आ गये।"

"बस, तुम्हे तो एक ही वस्तु प्रिय है—आँसू! सोते-जागते, उठते-बैठते तुम आँसुओ से ही नहाती रहना चाहती हो। यदि तुम्हे आँसू न दिखलाई दें तो प्रेम का अनुभव होता ही नही।"

"तुम ठीक ही कहती हो, निर्मला! आँसू मेरे जीवन का सर्वस्व बन गये है। मेरा हृदय तुषाराक्रान्त है। रोष की उष्णता हो या प्रेम की, वह केवल द्रवित होता है। तुमने अनुभव नही किया, बहन, कि आँसुओ में कितनी करुणा और पवित्रता होती है।"

"रहने भी दो तुम अपना यह आँसू-पुराण। आँसुओ की प्रशसा करके तुम न-मालूम कितने कर्तव्य-निष्ठ और कर्मठ वीरो का अपमान कर रही हो।"

"नही, तुम गलत समझी। जिसे आँसू प्रिय है वह उदात्तता का अपमान कर ही नही सकता। आँसुओ से परे सच्ची वीरता हो ही नही सकती। आँसू करुणा के प्रतीक है। करुणा ही मनुष्य मे उदात्त गुणो का विकास करती है। पुराणो में राम और कृष्ण से लेकर इतिहास में प्रताप, शिवाजी आदि तक समस्त अप्रतिभ वीरो के जीवन को छान डालो, और वे तुम्हे करुणा से ही ओतप्रोत मिलेंगे। आँसू उनके नेत्रो में कदाचित् न मिलें, परन्तु उनके हृदय की परीक्षा करके देखो, वहाँ तुम्हे आँसुओ की मदाकिनी बहती मिलेगी।"

"तुम तो कविता करने लगीं। यह क्यो नही कहती कि आँसू दुर्बलता के, असहायता के चिन्ह है। आँस बहाकर मनुष्य अपने अन्दर की सारी उष्णता, सारी वीरता धो डालता है। जब तक वह आँसुओ को रोकना नही सीखता, तब तक कर्मठता उसके पास फटक भी नही सकती। कर्मठता कठोरता की सह-चरी है। उससे परित्यक्त होकर कर्मठता पगु हो जाती है।"

"शायद तुम्हारा कहना भी ठीक है और मेरा भी।"

"अच्छा जाने दो। परन्तु यह तो बताओ कि तुम तो समाज से ऊब कर चाचा के घर एकान्तवास करने गई थी, फिर वहाँ भीड क्यो एकत्रित कर ली ?"

भीड मैंने किसी उद्देश्य से प्रयत्न करके एकत्रित नही की। किसी अप्रकट प्रेरणा से कुछ करती गई और उसका परिणाम होता गया। शायद यह उम्र का तकाज़ा था, शायद सस्कारों का परिणाम था। परन्तु कुछ भी हो, इस भीड ने मेरी आँखे खोल दी है।"

"कैसे ?"

"तुम जानती हो, यह भीड विशेषतया मेरी जाति के बच्चो और स्त्रियो की थी ?"

"हाँ।"

"इनका पूरा प्रेम—निष्कपट और उत्कट—मैंने प्राप्त किया।"

"सो तो स्पष्ट है।"

"इस प्रेम में अपने-आपको श्रेष्ठ माननेवालों की दया और सहानुभूति नही थी।"

"शायद अपने-आपको छोटा माननेवालो का आदर और भक्ति थी ?"

"नही, केवल इतना ही कि वे मेरे और मैं उनकी थी। हम सब सम-दुःखी थे। दूसरी जगह हमें प्रेम मिलता ही नही था।"

"अच्छा, फिर ?"

"उनके प्रेम में मैंने महसूस किया कि मै ससार मे अकेली नही हूँ।"

"और ?"

"और मैंने महसूस किया कि समाज भले ही अस्पृश्य कहकर हमारा तिरस्कार करे, परन्तु हम इस तिरस्कार के योग्य नहीं है।"

"तुमने बहुत विलम्ब से यह अनुभव किया, परन्तु इसका आधार क्या था ?"

"उनकी निष्कपट सरलता, उनका प्रेम, उनकी सहानुभूति, उनकी कर्मण्यता, उनकी क्षमाशीलता, उनका मूक बलिदान—सभी गुण पग-पग पर उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करते है। मानवता के समस्त मौलिक गुण उनमें दूसरो से—सवर्ण और सभ्य कहलाने वाले समाज से—अधिक मात्रा में मौजूद है। मानवता के विकास और मानवों के सुख के लिए सहस्रो वर्षो से वे अपने-आपको मिटाकर कार्य करते चले आ रहे है। बदले मे उन्हे केवल उपेक्षा, अपमान और बहिष्कार प्राप्त हुआ। मैंने बडे-बडे प्रासाद देखें, उत्कृष्ट कला-कृतियां देखीं—उन सब मे मुझे इन अस्पृश्यो और दलितो के मस्तिष्क, हृदय और हाथो के चमत्कार दिखलाई दिये। जड होकर भी वह पुकार-पुकार कर हमारी दुहाइयाँ दे रहे है; परन्तु सचेतन मनुष्य के कान बहरे है, या वह सुनना ही नही चाहता। खाद्य-पदार्थो में, वस्त्रों और अलंकारो मे, सभ्य समाज के दूसरे समस्त उपकरणो में, हमारी ही आत्मा बोल रही है; मनुष्य का स्वास्थ्य हमारा ही दिया हुआ है, परन्तु हम स्वय भूखे, नगे और रोगो से ग्रस्त है। यह सब मैंने देखा और अनुभव किया। मेरा शिर ऊँचा हो गया और मै गौरव का अनुभव करने लगी।"

"और ?" निर्मला ने किंचित् चकित होकर पूछा।

"अब मै महसूस करने लगी हूँ कि मजदूर और किसान, अस्पृश्य और दलित महान् है। उन्हे उठना चाहिए, अपने अधिकारो और सामाजिक समानता के लिए झगडना चाहिए।"

"नि.सन्देह ! परन्तु तुम मानती हो न कि झगड़ने का तरीका दुराग्रह-पूर्ण और समाज की और भी अधिक हानि करने वाला न होना चाहिए ?"

"तरीके की अच्छाई-बुराई समझना अभी मेरी योग्यता के परे है।"

"पर कुछ करने का निश्चय किया है ?"

"शक्ति भर करूँगी।"

"मुझे भी अपने कामो और विचारो में साथ लोगी ?"

"तुम्हारा साथ मिले तो मुझे और क्या चाहिए, निर्मला ?"

१२

वैराग्य या जडता ?

काशी स्टेशन पर रेलगाडी से उतरते ही चचला और निर्मला ने देखा कि वसुधा, गिरिजा और मीनाक्षी दौडती हुई प्लेटफार्म की ओर आ रही है। दोनों को बहुत हर्ष हुआ और दो महीनो से बिछुडी हुई बहनो से मिलने के लिए उनके हृदय उछल पडे। दूर से ही सब ने अभिवादन किया। पास आने पर वसधा ने हँसते हुए कहा—"स्वागत है, कन्या कुमारियो का !" और वे सब एक दूसरी से लिपटकर गले मिल ली होती, परन्तु शायद स्टेशन की भीड आडे आ गई।

निर्मला ने वसुधा की बात का उत्तर तुरन्त दिया—"बिहार की रानी को कोटि-कोटि नमस्कार !"

"बिहार की रानी को कोटि-कोटि नमस्कार करने से काम न चलेगा, हम भी यहाँ उपस्थित है।"—गिरिजा ने विनोद को आगे बढाया।

"तुम लोगो के लिए तो एक पैसे की रेवडी बहुत होगी, और मैं तुम्हारे लिए इन्दौर से फुटाने-मुरमुरे ले आई हूँ।"—चचला ने हँसते हुए उत्तर दिया।

मीनाक्षी अब तक चुप थी। अब उसकी बारी आई। उसने कहा—"इन्दौर के आलीशान महलो के अन्दर, मालूम होता है, फुटाने ही फाँके जाते है ?"

और सब हँस पडी। इतने ही में बूढा कुली बोल उठा—"बेटी, मेरी सवारियाँ जा रही है। जल्दी करो, मै सामान बाहर निकाल दूँ।"

वसुधा ने उत्तर दिया—"हमें कुली की क्या जरूरत है ? हम सब मिलकर सामान उठा लेंगी।" और उसने कुछ सामान हाथ में उठाकर कहा—"लो थोड़ा-थोडा सब लोग ले लो।" और पाँचो बहनें सामान उठाने लगी।

वृद्ध कुली ने करुणा से उनकी ओर देखा और वह कुछ कहना ही

चाहता था कि मीनाक्षी बोल उठी––"इस कुली ने सामान उतारा है, इतना समय खराब किया है, इसे कुछ दे देना चाहिए।"

कुली अपने पक्ष की बात सुनकर प्रसन्न हुआ और बोला—"हाँ बेटी, आप तो पढी-लिखी, होशियार हैं। मैं बूढ़ा . "

चचला ने अपना बटुआ टटोलना शुरू किया। इसी बीच मीनाक्षी ने बूढे को कुछ देकर विदा कर दिया।

चचला ने रूठकर मीनाक्षी से कहा—"तूने क्यो दिया ?"

वसुआ बोल उठी—"तुम हो बुद्धू ! चलो, उठाओ सामान।" और सब सामान उठाकर बाहर आ गईं। सामान एक तागे पर लादकर रवाना कर दिया गया और सब बहनें इतने दिनो की छूटी हुई बातें पूरी करती, हँसती-हँसाती पैदल चली।

आश्रम में पहुँचने पर एक बार फिर हर्ष का समा बँधा। प्रतिवर्ष के समान इस वर्ष भी भारत के प्रायः सभी प्रान्तो से अनेक नई बहनें आई थी और अनेक पुरानी बहनें चली गई थी। गौरी का विवाह हो गया, इसलिए वह लौट न सकी। मोहिनी शिक्षा समाप्त करके चली गई। जया अस्वस्थ हो जाने के कारण विलम्ब से आई और जब तक वह आ न गई, चचला बहुत कातर रही।

आश्रम का कार्य नियमित रूप से शुरू हो गया और छात्राएँ आनन्द तथा उत्साह के साथ अपने अध्ययन में लग गई। सदा के समान यात्रा के लिए एक दिन निश्चित किया गया। आचार्य मानवशकर ने पूर्व-तैयारी के रूप में एक भाषण दिया और छात्राएँ उत्सुकता के साथ निर्दिष्ट दिन की प्रतीक्षा करने लगी। आचार्य मानवशकर बीच-बीच में उनकी तैयारी की जाँच करते जाते थे। वह अपने स्नेह और सहानुभूति से उन्हे प्रोत्साहित करते रहते थे। यात्रा में बालिकाओं को सेवा-कार्य के अतिरिक्त ग्राम की परिस्थिति का अध्ययन करके आँकड़े एकत्रित करने थे, अतएव छोटी और बड़ी कक्षाओ की बालिकाओ की अनेक मिली-जुली टोलियाँ बना दी गईं। उन्हे काम की कल्पना करा दी गई थी और नक्शे तथा आलेख तैयार करने का काम उन पर छोड दिया गया था। प्रत्यक्ष सेवा क्या-क्या और कैसे-कैसे की जाय, इसकी मोटी रूप-रेखा भी पहले से ही निश्चित हो गई थी।

यात्रा के एक दिन पूर्व जोरो की वर्षा हुई और वह दिन भर होती रही। वर्षा में यात्रा की कल्पना करके कुछ बालिकाओं को विशेष आनन्द हुआ, परन्तु रात्रि को सुषमादेवी ने सूचित किया कि यात्रा कदाचित् न हो

सकेगी—एक तो लगातार वर्षा के कारण और दूसरे आचार्य मानवशकर के अकस्मात् बहुत अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण। आवश्यकता पडने पर आचार्य की शुश्रूषा के लिए छात्राओ को बुलाने का वचन देकर सुषमादेवी चली गई।

इधर आचार्य की हालत बिगड़ती ही गई। रात-भर चिकित्सक महोदय उनकी सेवा मे रहे, शिक्षक-निवास मे खलबली रही, मित्रो और शुभ-चिन्तको में चिन्ता रही। सभी लोग उनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रार्थनाएँ करते रहे। परन्तु प्रात काल बादलो से सूर्य ढँका हुआ ही था। पहले जैसा उज्ज्वल प्रकाश कही भी न था। चिकित्सक महोदय ने साहस बटोरकर, परन्तु शकाजनक स्वर मे दूसरे डाक्टरो की भी मदद ले लेने का परामर्श दिया।

आखिर पाँचवे दिन आचार्य चल बसे—सब के हृदय तोडकर, सब की प्रार्थनाएँ और सब का प्रेम अपने साथ लेकर।

अध्यापक उमापति को आचार्य का स्थान सौपा गया और विह्वलता के वातावरण मे आश्रम का कार्य पुन नियमित करने का प्रयत्न किया गया। आचार्य उमापति अपना नया व्यक्तित्व, नई प्रतिभा और नये गुण लेकर आये थे। आचार्य मानवशकर को खोकर छात्राएँ आशकाकुल थी, आचार्य उमापति को पाकर प्रसन्न थी। इस आकुलता एव प्रसन्नता के बीच आश्रम का कार्य कभी उत्साहपूर्वक और कभी नितान्त उत्साहहीनता से चलता रहा।

इस बीच चचला ने अपने मन को स्थिर रखने की हर तरह से कोशिश की और वह सफल भी हुई। इतनी छोटी अवस्था मे ही उसका जीवन अनेक घात-प्रतिघातो का केन्द्र बन चुका था और उसे इस गमनागमन ने न अतिशय हताश किया, न प्रसन्न। सब काम न्यूनाधिक अलिप्तता के साथ चलता रहा। परन्तु उसकी अवस्था में क्या इस सतुलन का स्थायी रहना सम्भव था? वह परिस्थितियो से उत्पन्न हुआ वैराग्य था, या टूटे हुए हृदय का जड़त्व? या उसकी आत्मा की उन्नति का परिचय इससे मिलता था? जो काम जब आ पडता उसे वह यथोचित रूप से पूरा करती। सेवा के समय सेवा, उद्योग के समय उद्योग और अध्ययन के समय अध्ययन—यही उसका क्रम था। वह न तो उदास रहती और न प्रसन्न। एक विलक्षण गम्भीरता की छाप उसके चेहरे पर दिखलाई पडती।

१३

काव्यमय जीवन

इस बीच जीवन के अनेक पत्र चचला को मिले और चचला ने प्रत्येक का उत्तर दिया। प्रत्येक बार पत्रों के बीच का अंतर घटता गया और अब पत्र और उत्तर के बीच समय के अधिक कम होने की गुंजाइश ही शेष नही रही।

मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद जीवन उच्च शिक्षा के लिए ग्वालियर के एक कॉलेज में चला गया था। वह स्वस्थ, सुन्दर, हृष्टपुष्ट युवक था। यद्यपि पढने-लिखने में उसकी असाधारण प्रगति नही थी, तथापि मधुर और लच्छेदार भाषा पर अधिकार और अपने शिष्ट व्यवहार के कारण उसने अपने सहपाठियों और अध्यापको के मन में घर कर लिया था। जिस समुदाय में वह न होता वह फीका मालूम होता और जहाँ वह होता वहाँ वह सब के आकर्षण का केन्द्र बन जाता।

परन्तु इस वर्ष घर से लौटने के बाद उसमें एकान्तवास का प्रेम बढ़ता जा रहा था। अब उसे बहुत-से साथियो के बीच रहना और समूह को प्रसन्न रखना अच्छा नही लगता। कॉलेज से छुट्टी पाते ही किसी एक मित्र को साथ लेकर वह अपने कमरे में जा बैठता या किसी बाग-बगीचे में एकान्त स्थान ढूंढ लेता। बहुधा उसके साथ उसका परम प्रिय मित्र विनायक होता था। मित्र से बातें करने में उसकी आवाज धीमी होती और उसका चेहरा हृदय की किसी उत्कटता का परिचय देता था। उन दोनो के बीच में जब कोई आ जाता तो जीवन चुप हो जाता और नये विषय मे कोई अभिरुचि प्रकट न करता। उसमे उपन्यास और काव्य पढने का शौक बढ़ने लगा था। विनायक के आग्रह से अब वह कभी-कभी चित्रपट देखने भी चला जाता था।

विनायक की बहन लीला और शहर की अन्य चार-पॉच बालिकाएँ उसकी सहपाठिनी थी। उन सबके साथ उसका व्यवहार अत्यन्त भद्रतापूर्ण

था। किसी भी कठिनाई के समय यथासम्भव उनकी सहायता करना वह अपना पवित्र कर्तव्य समझता था। परन्तु इन दिनो वह उनकी ओर से भी कुछ खिच गया था।

एक दिन विनायक ने उसके इस परिवर्तन पर आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—'आखिर बात क्या है ?"

जीवन ने भाव-भरे स्वर मे उत्तर दिया—"मुझे स्वय पता नही। ऐसा लगता है कि ससार के समस्त सौन्दर्य को घोलकर पी जाऊँ।"

"परन्तु एकान्तवास और सौन्दर्य की प्यास मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ?"

"मै जान-बूझकर एकाकी नही रहता। मुझे लगता है कि अन्दर से कोई शक्ति मुझे ढकेलती रहती है।"

"और तुम सँभलने का प्रयत्न नही करते ?"

"करता हू। इसीलिए बाग मे आकर बैठता हूँ। यहाँ के हरे-भरे वृक्ष, पौध और यह रग-बिरगे, कोमल फूल मुझे निरन्तर आकर्षित करते रहते है। चिडियो का फुदकना, तरह-तरह के मीठे बोल बोलना, मुझे बहुत भाता है। यहाँ का मुक्त पवन मुझे उन्मुक्त होकर उडाने भरने और सैर करने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है।

परन्तु यह सब तो तुम्हे हम मनुष्यों के बीच भी मिल सकता है। उसका स्वरूप भले ही भिन्न हो परन्तु वह श्रेष्ठ है। उसमे रहकर दया, करुणा, प्रेम और सौन्दर्य, सभी का अनुभव किया जा सकता है। वहाँ इन भावो को प्रदर्शित करके प्रत्युत्तर की भी अपेक्षा की जा सकती है। तुम ही बताओ, जो वस्तु तुम्हारी पुकार का उत्तर देती है और जो तुम्हारे भावों को ग्रहण करती है वह श्रेष्ठ है, अथवा वह जो सराहना करने पर, हृदय भर प्रेम करने पर न तुम्हारे भावों को ग्रहण करे और न उनका प्रत्युत्तर दे ?"

"तुम्हारी दृष्टि गलत है विनायक !"

"कैसे ?"

"तुम परमेश्वर की सुन्दरतम और सुकुमारतम कृतियो की निन्दा कर रहे हो।"

"नही, मै केवल दो श्रेष्ठ कृतियो की तुलना कर रहा हूँ।"

"और गलत निष्कर्ष निकाल रहे हो।"

"सो तो समझाने से समझ सकूँगा।"

"अच्छा तो सुनो। मैने कहा कि मै अपने मन को समझता नही, और जब मै स्वयं नही समझता तो तुम निश्चय ही नही समझते।"

"शायद।"

"शायद नही निश्चय; क्योकि तुम्हारे पास मेरे कहने के अतिरिक्त मुझे समझने का कोई साधन नही है।"

"क्यो ? तुम्हारी आँखें बोलती है, तुम्हारी कृतियाँ बोलती है, तुम्हारा व्यवहार बोलता है . "

"और तुम्हारा सिर बोलता है ! शठ कही के !"—जीवन ने बात काटकर, विनायक के गाल पर एक मीठा चपत लगाकर, हँसते हुए कहा।

"देखो, दुष्टता मत करो," विनायक ने कहा, "इस प्रकार चपत लगाने और बात उडाने से काम न चलेगा। मै तुम्हारी अपेक्षा भी तुम्हे ज्यादा जानता हूँ।"

"खाक जानते हो !"

"अच्छा तो बोलो, आज कल रोज-रोज पत्र किसे लिखा करते हो ?"

"पत्र ! पत्र तो .. " कहता-कहता जीवन कुछ रुक गया। उसकी पलके कुछ भारी हो गई। कुछ सकोच फूटा। परन्तु वह बोला और कुछ वेग के साथ, कुछ तपाक के साथ बोला—"पत्र तो मै अपनी एक बहन को लिखता हूँ !" और उसके आनन पर एक मद, सकोचपूर्ण मुसकान दौड गई।

विनायक यो ही छोड देने वाला नही था। उसने जिरह शुरू की—"तुम तो कहते थे, मेरे कोई बहन है ही नही, फिर यह बहन कहाँ से कूद पडी ? जरा परिचय तो दो।"

"दुनिया मे भिन्न माता-पिता के बच्चे भी भाई-बहन हो सकते है, महाशय ! यह वही बहन है जिसके बारे में मै आप से कोडियो बार चर्चा कर चुका हूँ, और जिससे मिलने के लिए मै इन्दौर गया था। परन्तु तुम बात को कहाँ-से-कहाँ घसीट ले गये !"

"मै बिल्कुल ठिकाने और निशाने पर हूँ। आप भी इधर-उधर भागने का प्रयत्न न कीजियेगा। जरा बतलाइए तो, दिन-रात उन बहिनजी के बारे मे चिन्ता करते रहने की कौनसी बात आ पड़ी है ?"

"मै कब चिन्ता करता हूँ ?"

"और चार-चार दिन तक आप एक ही पत्र क्यो लिखते रहते है ?"

"यह भी सही नही।"

"जरा सोचकर बोलिए।"

"हाँ हाँ, मै बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ।"

"और उनके नाम से कविता लिखने की भी आप कोशिश नही करते ?"

जीवन ज़रा चौका, फिर सँभलकर बोला—"नही तो !"

विनायक ने शायद अब बात को अधिक अटकाना ठीक न समझा। उसने कहा—"और उस लाल जिल्दवाली नोटबुकमे आप क्या क्या लिखते है ?"

जीवन सहम गया और उसने धैर्य छोडकर कहा—"तो क्या तुम मेरी निजी और गोपनीय चीजे भी ढूंढा करते हो ?"

"नही, मै विश्वासघाती नही हूँ। तुमने ही उस दिन निबन्धो की नोटबुक के धोखे में वह नोटबुक मुझे दे दी थी। मैने उस समय उसे नही देखा। घर जाकर देखा तो उसमें कविताएँ लिखी थी। जिज्ञासावश, किन्तु निर्दोष मन से मै एक-दो कविताएँ पढ गया। मुझे वह सब निजी मालूम हुई, इसलिए मैने आगे पढना बन्द कर दिया। उसमें एक भारी-भरकम पत्र रखा था। उस पर चचला का पता था, मैने उसे पढा नही। परन्तु लिफाफे पर प्रेषक का नाम लिखकर लेखक महाशय ने तारीख भी डाल दी थी। वह थी—'१३-१७ नवम्बर।" इससे मैने समझा कि चार दिनो मे वह पत्ररूपी पुस्तिका पूरी हुई होगी'।

"तुमने सचमुच नही पढा ?"

"मै झूठ नही बोलता।"

"अच्छा तो चलो, अभी वह नोटबुक मुझे वापस करो।"

"बाते तो पूरी होने दो।"

"बातें फिर होगी।"

दोनो चल दिये। रास्ते भर जीवन व्यग्र रहा।

विनायक का घर न बहुत बडा था और न छोटा। बाहर की ओर का कमरा उसका पाठागार था, लीला के लिए अन्दर का एक कमरा निश्चित था। परन्तु जब कभी सखियाँ आ जाती तो लीला का समाज विनायक के ही कमरे में जम जाता था।

जब दोनो मित्र वहाँ पहुँचे उस समय लीला अपनी दो सखियो के साथ वहाँ मौजूद थी। लीला ने दोनो को आते देख कोई चीज़ अपनी सखी सरस्वती के हाथ से झपटकर छीन ली और शीघ्रतापूर्वक जीवन की मेज़ के दराज में डाल दी। छीनते हुए लीला ने कहा—"देखो, वह आ ही गये।"

"आ गये तो क्या हुआ ? कोई भारी रहस्य है क्या ?"—सरस्वती ने कहा।

"परन्तु तुम दूसरे की वस्तु उसकी अनुज्ञा के बिना देखो ही क्यो ?"

सरस्वती कुछ कहना ही चाहती थी कि जीवन और विनायक कमरे में प्रविष्ट हो गये और उसकी बात मुँह-की-मुह में ही रह गई ।

जीवन ने कमरे मे आते ही इन तीनो को वहाँ मौजूद देखकर स्वामित्व का कृत्रिम भाव दिखलाते हुए कहा—"इस कमरे में लडकियो का आना मना है । आप लोग अपनी अनधिकार-चेष्टा का उत्तर दीजिये ।"

इसका उत्तर यमुना ने उसी प्रकार दिया—"जिस कमरे में लडकियाँ मौजूद हो उसमे लडको का घुस आना अभद्रता है । आपको यहाँ से तुरन्त चले जाना चाहिए ।"

सब लोग हँस पडे और कोई खाट पर, कोई कुर्सी पर और विनायक महाशय मेज़ पर आसीन होकर गपशप में लग गये ।

जीवन ने सब बातो मे हिस्सा तो लिया, किन्तु उसकी अन्यमनस्कता किसी से छिपी न रह सकी । आखिर लीला ने पूछ ही लिया—"आपकी तबियत कुछ ठीक नही मालूम होती ?"

जीवन ने अपने-आपको सँभालकर उत्तर दिया—"नही तो, ठीक तो है ।" और बाद मे वह कुछ झेंप-सा गया । अपनी सफाई देने के प्रयत्न में वह कुछ ऐसी चटपटी आवाज़ में बोल गया कि सब लोग हँस पडे ।

विनायक ने कहा—"आजकल यह प्रकृति-सौन्दर्य के पुजारी बन रहे है । हमारे साथ अब इन्हे अच्छा नही लगता ।"

जीवन ने बनावटी रोष के साथ कहा—"ज्यादा शरारत न करो, विनायक !" परन्तु विनायक ने अपनी बात जारी रखी ।

"और आजकल कवि बन रहे हैं । कविताएँ लिखते है, परन्तु वे निजी वस्तुएँ होती है; गुप्त रखी जाती है ।"

जीवन ने फिर बात काटी—"तुम नही मानोगे ?"

और विनायक फिर भी कहता गया—"परन्तु इनके दुर्भाग्य से कोई बात गुप्त नही रह पाती । अपनी गोपनीय नोटबुक और अपने गोपनीय पत्र दूसरो को धोखे से सौंप देते है और समझते हैं, दुनिया इनके समान ही ईमानदार है ।"

जीवन सुन-सुन कर कुढ रहा था ।

सरस्वती ने अपना सिर नीचे झुका लिया ।

लीला ने उसकी ओर छिपी निगाह से देखा और फिर विनायक की ओर इस तरह से देखा कि उसके चेहरे से कोई नया भाव प्रकट न हुआ । मानो

विनायक कोई बहुत गम्भीर बात कह रहा हो और वह उसे सुनकर विचार कर रही हो।

यमुना बारी-बारी से सब के चेहरो को देखकर मानो उनमे कोई गूढ रहस्य खोज रही थी।

जीवन उठकर खडा हो गया और बोला—"मै जाता हूँ।" इस पर विनायक शरारत-भरी हँसी से बोल उठा—"अच्छा, तो आप नाराज हो गये! खैर, जाइए। परन्तु आपकी गोपनीय नोटबुक की गोपनीयता सुरक्षित रखने का दायित्व मुझपर न रहेगा।"

"वह मुझे दे दो।"—जीवन ने कहा।

विनायक का भाव बदल गया। "अच्छा" कहकर उसने इधर-उधर नोटबुक को ढूँढ़ना शुरू किया। परन्तु वह न मेज पर थी, न आलमारी मे और न उसकी रोज़ पढने की किताबो के ढेर मे। वह कुछ उद्विग्न हुआ और उसने लीला से पूछा। उसने कोई उत्तर न दिया। उसकी सखियाँ भी लज्जित दिखाई पडने लगी।

विनायक ने खीजकर लीला से फिर कहा—"बोलती क्यो नही! देखी है वह नोटबुक कही, या नही ?"

लीला ने मुँह नीचा किये ही टेढी निगाह से दोनों सखियो की ओर देखा, परन्तु कहा कुछ नही।

विनायक अधीर हो उठा और उसने सतप्त होकर जीवन से कहा—"तुम्हारी नोटबुक खो गई। अपनी असावधानी के लिए मैं दण्ड भोगने को तैयार हूँ।"

जीवन बिना कुछ बोले ही वहाँ से चल दिया। विनायक भी लीला की ओर रोष से देखकर वहाँ से उठ गया।

यमुना यह सब सहन न कर सकी। उसने लीलासे कहा—"बताती क्यो नहीं हो ?" और उसने जीवन को आवाज दी। लीला ने विनायक को बुलाया और दराज में से नोटबुक निकालकर दे दी।

विनायक ने जीवन के सामने ही तीनो सखियो से पूछा—"आपने इसे पढा है ?"

यमुना ने उत्तर दिया—"हाँ, लीला के मना करने पर भी हम दोनो ने सब कविताएँ पढ डाली है। इसमें रखा हुआ पत्र भी पढ लिया है।"

कोई कुछ न बोला। सब लोग चुपचाप वहाँ से विदा हो गये।

१४

प्रेम-सन्देश

क्यो किसी की गुप्त बातें जानने का मनुष्य को इतना कौतूहल होता है ? जीवन चलता-चलता यही प्रश्न हल करने मे निमग्न था ।

चौराहे पर सदा के समान भीड थी । उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो भीड का प्रत्येक व्यक्ति उसका उपहास कर रहा है । वह शीघ्रता से आगे बढ़ गया ।

सडक के इधर-उधर उसने देखा । लोग अपने-अपने काम में व्यस्त थे । कोई इधर आता, कोई उधर जाता, कोई खडा था, कोई बाते कर रहा था । उसे प्रतीत हुआ मानो सब लोग उसकी ही ओर देख रहे है । वह सीधा चलने लगा, चलने की गति बढ गई ।

एक जगह रास्ते पर ही कुछ लोग खडे थे । वे आपस मे बाते करके जोर से हँस पड़े । जीवन ने सहसा उनकी ओर देखा, उनमे से कुछ ने उसकी ओर देखा । उसने समझा कि ये मुझ पर ही हँस रहे है ? उसकी त्योरियाँ चढ़ गई —आखिर ये मुझे देखकर क्यो हँस रहे है ? ये भी तो कभी उदास, सतप्त, गम्भीर होते होगे ? और न भी होते हो तो मुझ से इन्हे क्या मतलब ? मुझ पर हँसने का इन्हे क्या हक है ?

और फिर उसने सोचा, क्या सचमुच ही ये मुझ पर हँस रहे है ? हो सकता है, अपन-आप ही हँस रहे हो ! और मै कितना मूर्ख हूँ ! आज सभी बाते मुझ पर ही घटित होती मालूम हो रही है !

और उसका चलने का वेग बढता ही गया । वह बनिये की दूकान के पास पहुँचा । पहचानकर बनिये ने पुकारा—"जीवन बाबू !" क्या वह हँसी कर रहा था ? व्यग कर रहा था ? हाँ, यही ठीक है । तभी तो जीवन ने उसकी ओर रोष से देखकर अपनी चाल और भी बढा दी !

और वह पार्क के पास पहुँचा । चिड़ियाएँ चहचहा रही थी । उसने

अपने कान दोनो हाथो से मूँद लिये । और बच्चे खेल रहे थे, चिल्ला रहे थे, गा रहे थे, हँस रहे थे—उसने अपनी आँखे बन्द कर ली ।

उसके पैर मानो जमीन पर पड़ते ही नही थे । किसी ने कही कहा—"देखो-देखो !" और वह भागने लगा, भाग चला ! एक कुत्ता भोकने लगा, एक बच्चा सामने आगया । वह रुका, फिर भागा । कुत्ते ने पीछा किया । आस-पास के लोग बोल उठे —"भाई, क्या बात है ? दौड़ते क्यों हो ?"

वह परेशान था । लोग इतनी-सी बात क्यो नही समझते ? इन्हें मुझ से क्या मतलब ? क्यो किसी की गुप्त बाते जानने का मनुष्य को इतना कौतूहल होता है ?

उसने अपने कमरे के अन्दर जाकर साँस ली । दरवाज़ा बन्द करके चारपाई पर लेट गया ।

और अब ? फिर वही नोटबुक, वही कविताएँ, वही पत्र ! विनायक, लीला, सरस्वती, यमुना ! सरस्वती ही सारी शरारत की जड है । क्रूर है ! क्रूर है !

और फिर लीला— कितनी भोली है ! कितनी निर्दोष !

और फिर यमुना —कितनी निर्भीक है ! कितनी स्वच्छ !

और फिर सरस्वती —नि सदेह क्रूर है !

और अब चचला—आह ! ससार से कितनी भिन्न ! कितनी सुन्दर, कितनी सरल, कितनी सद्गुणी ! प्रकृति की अन्यतम देन है । उसे कौन प्यार नहीं करता ? फिर यदि मैंने उसे पत्र लिखा, उस पर कविताएँ रची तो क्या अपराध हो गया ? परन्तु मै यह सब क्या सोच रहा हूँ ? किसने कहा—अपराध ? उन्होने मेरी चीजे पढ़ भर ली । इससे क्या हुआ ? उसमे गोपनीय था ही क्या ?

उसने एक-एक करके सब चीजे पढनी शुरू की । पहले पत्र—

"इन्दौर में तुम से मिलकर मुझे कितना सुख हुआ था ! ..'

हाँ, नि.सन्देह सुख हुआ था । और इसमें गोपनीय क्या है ?

जब कभी मेरा मन संसार की प्रवचनाओं से व्याकुल हो उठता है, आस-पास के रुक्ष जीवन से ऊबकर स्निग्धता की खोज में इधर-उधर भटकने लगता है, कोलाहल जब मेरे कानो में शूल उत्पन्न करता है, एकान्त जब मुझे सूना मालूम होता है, फूलो और फलो में जब मुझे रस नही मिलता—तब, तब और सदैव तुम्हारी मधुर स्मृति मुझे राहत प्रदान करती है । · "

इसमे भी गोपनीय तो कुछ नही है। जो सच है वही तो मैने लिखा है। सत्य यदि गोपनीय है तो प्रकाशनीय क्या रह जायेगा ?

"पिछले दिनो मैने ट्यूशन करके कुछ रुपये जमा किये थे। उनसे तुम्हारे चित्र को चाँदी के फ्रेम में मढा लिया है। तुम्हारी अनुपस्थिति मे तुम्हारा वह चित्र देखकर ही मैं सन्तोष कर लिया करता हूँ। चित्र बोलता नही, हलचल नही करता, फिर भी कितना सजीव है! लीला इस पर ईर्ष्या करेगी। यमुना तो उठा ही ले जायगी। ..आह! कही वे तुम्हे साक्षात् देख पातीं!... ."

इसमे अवश्य लीला और यमुना का नाम आ गया है। पर इससे क्या? मैने किसी की निन्दा तो नही की।

"काश! मै और तुम एक साथ ही होते! और तुम्हारे सान्निध्य में ही मेरे जीवन का प्रत्येक पल कटता! क्या तुम उस परिस्थिति की कल्पना कर सकती हो? शायद हाँ, शायद नही।..."

इसमें भी कौन-सी आपत्तिजनक बात है? जो लोग एक-दूसरे से प्रेम करते है उनकी एक साथ रहने की इच्छा होती ही है। हाँ, उसकी कल्पना-शक्ति पर अविश्वास करके अवश्य मैने उस पर अत्याचार किया है। कल्पना-शक्ति केवल मेरे हिस्से में ही तो नही पडी। और यह भी तो निश्चित है कि वह मुझ से प्रेम करती है। फिर, वह कल्पनाएँ न करती होगी, यह मै कैसे लिख रहा हूँ? परन्तु यह छोटी-सी बात है।

"परन्तु मै आशयवादी हूँ। मेरा दृढ विश्वास है कि हम कभी-न-कभी अवश्य मिलेंगे। और फिर कभी विलग न होगे। मेरी सूनी कुटिया प्रकाशित हो जायगी। मेरे जीवन में वसन्त आ जायगा। मेरे उपवन के फूल खिल जायँगे और तुम मालिन बनकर उन्हे सँवारा करोगी। कोई फूल चुएगा नहीं, कोई फूल मुरझायेगा नही........"

यह भी ठीक है, हाँ ठीक ही है।

अब कविताएँ। उसने सब कविताएँ पढ डाली। किसी में कोई आपत्तिजनक बात उसे दिखलाई न पड़ी। एक शब्द भी ऐसा न मिला जिसमें उसकी चचला का अपमान दिखलाई पडता। एक शब्द भी ऐसा नही था जिससे उसके हृदय के सच्चे भावो को छिपाने का प्रयत्न किया गया हो। जो कुछ वह लिखना चाहता था वही तो उसने लिखा है, और उसके सदुद्देश्य पर तो कोई शका कर ही नहीं सकता!

फिर यदि सरस्वती आदि ने सब कुछ पढ लिया तो क्या हुआ?

परन्तु स्त्रियों को स्त्रियो से ईर्ष्या होती है। तभी तो पत्र और कविताएँ पढ-कर उन्होंने मुझ से कुछ नही कहा। चचलता से ईर्ष्या ! ओह ! क्या वह ईर्ष्या के योग्य है ! कितनी सरल, कितनी भोली, कितनी अच्छी ! कही ये उसे देख पातीं ! उसके पैरों के पास बैठने योग्य भी तो नही है, ये !

परन्तु मै गलती कर रहा हूँ। मैंने उन्हे कुछ कहने का अवसर ही कहाँ दिया ? सचमुच आदमी अनजाने दूसरो पर बडा अन्याय कर डालता है। लीला तो बहुत अच्छी लडकी है, यमुना भी कितनी सच्ची है ! सरस्वती ने भी तो मेरी कभी कोई बुराई नही की। दूसरो के साथ भी इन सबका व्यव-हार अच्छा है। मै अवश्य गलती कर रहा हूँ।

और चंचला ? तुम तो सब मे रानी हो। मेरी सब कविताएँ तुम्हे ही समर्पित हैं। उन्हे पढकर तुम्हे सन्तोष होगा। मेरे हृदय का तार-तार उनमे उभरा हुआ है। उन्हे पढकर ही तुम सब कुछ समझ लोगी।

पत्र ? वह तो तुम्हे शीघ्र ही मिल जायगा, चचला ! तुम उसके प्रत्येक शब्द का उत्तर दोगी। तुम्हारे उत्तर को मै बार-बार पढूगा। उसका एक-एक शब्द मेरे हृदय के तारो को झकृत करेगा। एक-एक शब्द मेरे हृदय पर अमिट छाप लगा देगा। उसके शब्दो मे, उसकी स्याही मे, उसके कागज मे मै तुम्हारे हृदय का चित्र देखूगा। मेरे हृदय मे तुम्हारी जो मूर्ति प्रतिष्ठित है वह कितनी प्राञ्जल, कितनी प्राणवान, कितनी मुखर हो उठेगी। मैं चुन-चुनकर सुन्दर सौरभयुक्त पुष्प उस पर चढाऊँगा। तुम पूछोगी—"यह क्यो ?" मैं उत्तर दूँगा—"वसन्त की बहार, जीवन की रगीन कोमलता, प्रेम की सुकुमार पावनता !"

तो आज ही यह पत्र चला जायगा, अभी।

उसने पत्र बन्द कर दिया और उसे डाल आया।

१५

धर्म-परिवर्तन का भूत

सो, चंचला का जीवन बहा चला जा रहा था—उस प्रवाह के समान जिसमें उत्थान और पतन होता ही नही। अपने उद्‌गम से निकलकर किसकी खोज में चला जा रहा था, सो किसी को मालूम नहीं। जब मार्ग में कुछ आडे जाता तो वह ज़रा रुक जाता, बल संचित करता और फिर बाधाओं को पार करके आगे बढता। परन्तु क्या ये बाधाएँ नष्ट होती थी? शायद कभी हो जायँ! आज तो वे प्रवाह को सिर पर लेकर उस दिन की प्रतीक्षा कर रही है, जब कि वे उभर सकेगी, अपना सिर फिर ऊपर उठा सकेंगी। और प्रवाह? चला जा रहा है, चला जा रहा है। जब तक उसमें बल है, टीले और गड्ढे उसका क्या करेगे? पहाडी झरने से वह निकला है, उसे क्या चिन्ता? मौसम की उसे क्या खबर?

परन्तु मौसम तो बदलेगा ही। पृथ्वी की गति और सूर्य के ताप को कौन रोक सकता है? एक दिन प्रवाह का बल कम होगा, और मार्ग के अवरोध उसी दिन की तो प्रतीक्षा में है।

सभी का जीवन कभी इस तरह और कभी उस तरह चलता रहता है। और जब दोनों प्रकार के अवसर आते ही है तो पहले से चिन्ता क्यों की जाय? चंचला ठीक ही कह रही है। आज उसका जीवन सम और अविचलित है, प्रतिकूल समय आने पर जैसा होगा, भोग लेगी।

परन्तु "वह परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ वैराग्य था, अथवा टूटे हुए हृदय का जड़त्व? या उसकी आत्मा की उन्नति का परिचय उससे मिलता था?" इस प्रश्न को सुलझाना शेष है।

कक्षा में न वह बहुत आगे थी, न बहुत पीछे; न वह बहुत बोलती, न बहुत चुप रहती; न बहुत खेलती, न बहुत कमरे में बन्द रहती। और जब कभी विशेष व्याकुलता अथवा प्रसन्नता उसके मन पर छा जाती, तब तो

वह प्रयत्न करने पर भी उसके प्रतिबिम्ब को अपने आनन और व्यवहार पर पडने से रोक न सकती। फिर भी, ऐसे अवसर पिछले कुछ दिनों मे क्वचित् ही उपस्थित हुए।

वसुधा अपने स्वाभाविक विनोद में उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहने लगी थी।

मीनाक्षी वसुधा की बात काटकर उसे 'गत-यौवना' कहती।

गिरिजा उसे देखते ही अपनी बनाई हुई कविता की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगती —

"सखि, कुछ तो कहो,
चुप-चुप क्यो रहो ?
क्या दिल मे लगी ?
क्यो ठगी ठगी ?"

निर्मला इस सबके बीच उसके अन्तरात्मा की प्रहरी और उसकी सरक्षिका देवी थी।

और उसका जीवन बहा जा रहा था, बहा जा रहा था।

एक दिन एक व्याख्यान था। आश्रम की सब छात्राएँ सुनने के लिए गई थी। व्याख्याता ने कहा—"अस्पृश्यता हमारे जीवन का कलक है। जब तक हम अस्पृश्यता के भाव को दूर नही करते तब तक ससार के समक्ष हमें अपना शिर ऊँचा करने का अवसर प्राप्त नही हो सकता। मनुष्य को अस्पृश्य मानकर और उसके साथ अहकार, स्वार्थ तथा अमानुषिकता का व्यवहार करके हमने मानवता का अपमान किया है। सात करोड 'अस्पृश्यो' के बीच मानवता के कितने मुकुट-मणि पडे हुए है, इसकी हम कल्पना ही नही कर सके। सदियाँ बीत गई और हम उन्हे कुचल-कुचल कर केवल धूल में मिलाते रहे। परमेश्वर हमे इन अपराधो के लिए कदापि क्षमा नही कर सकता ... ।"

निर्मला ने कहा—"व्याख्यान तो दिल को हिला देने वाला रहा।"

"हाँ,"—चंचला ने सक्षेप में उत्तर दे दिया।

"परन्तु जो लोग अस्पृश्यता मानते है, वे उसे मिटा नही सकते। उसके लिए स्वय 'अस्पृश्यो' को जागना चाहिए।"

"हाँ।"

"उन्हे स्वय आगे बढकर अपने अधिकारो के लिए लड़ना होगा।"

"हाँ।"

"दूसरे उन्हे उठाने का प्रयत्न करेंगे तो उपकार की भावना अवश्य रहेगी।"

"हाँ।"

"हाँ, हाँ क्या करती हो ? मै क्या कोई कहानी कह रही हूँ ?"—निर्मला ने खीजकर कहा ।

चंचला ने किंचित् उत्तेजना के साथ उत्तर दिया—"तुम इस समस्या को नहीं समझ सकतीं। इसे जाने दो।"

निर्मला जाने कैसे देती ? वह अपने मन में समझती थी और महसूस करती थी कि चंचला मेरी अनन्य सखी है । वह दुर्भाग्यवश अस्पृश्य समाज में उत्पन्न हुई है। उसकी समस्याओ से मै अनभिज्ञ नही हूँ और उसके द्वारा मै उसके सारे समाज की समस्याओ से परिचित हूँ । चचला की बात से उसे आश्चर्य हुआ और उसने आघात अनुभव करते हुए कहा—

"यदि मै नही समझ सकती तब तो बहुत कम लोग समझ सकते है।"

"केवल इने-गिने लोग।"

"ऐसी छिपी हुई बातें क्या है, जरा सुनूँ तो ?"

"प्रश्न केवल जानने का नही, जानकर महसूस करने का है।"

"इसमें तुमने नई बात क्या कही ?"

"है। सबसे पहली बात यह है कि अस्पृश्यता है ; दूसरी बात यह है कि अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो और समस्याओ को अस्पृश्यो के बीच में रहे बिना और उनसे एकात्म्य महसूस किये बिना समझा नही जा सकता ; तीसरी बात यह है कि जब समझा ही नही जा सकता तो महसूस कैसे किया जा सकता है ?"

"यदि तुम्हारी बात मानी जाय तो अस्पृश्योद्धार कभी शुरू हो ही नहीं सकता ?"

"यह 'उद्धार' शब्द ही परिचय देता है कि तुमने महसूस नहीं किया। कितना अहंकार, कितना दम्भ भरा हुआ है, इस शब्द में ! मनुष्य मनुष्य का 'उद्धार' कर सकता है ! हमे पारस्परिक सहयोग और सहायता की भावना चाहिए। 'उद्धार' का ढोंग करके समाज न तो प्रायश्चित कर सकेगा और न हमारी हानि को ही पूरा कर सकेगा।"

"परन्तु मैने भी तो यही कहा था कि दूसरो के प्रयत्न मे उपकार की

भावना रहना स्वाभाविक है, अत 'अस्पृश्यो' को अपनी उन्नति का प्रयत्न स्वय ही करना चाहिए ।"

"भला, कैसे वे उद्योग करें ?"

"वे बुद्धि, शरीर और आत्मा की सफाई सीखें । संगठन करें । उद्योग द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति सुधारें । शिक्षा प्राप्त करें । और यह सब करते हुए डटकर मैदान पर खड़े हो और घोषित करें कि हम अस्पृश्यता को सहन नही कर सकते ।"

"अच्छा, एक-एक बात लो । क्या सब स्पृश्य लोगो की बुद्धि साफ है ?"

"नही ।"

"शरीर ?"

"नही ।"

"आत्मा ?"

"नही ।"

"फिर हमारे लिए ही क्यो यह सफाई का उपदेश ?"

"इसलिए कि बहानाखोर समाज को यह बहाना मिलता है । दूसरे, हर प्रकार की सच्ची उन्नति के लिए यह आवश्यक है ।

"तुम्हारी दूसरी बात का समाज के व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं, वह हमारे खुद के लिए है । रही पहली बात, सो तुम स्वयं उसे बहाना कहती हो । अतएव यह तक व्यर्थ है ।"

"इसका उत्तर मै बाद में दूँगी, तुम आगे कहो ।"

"अच्छा, समानता प्राप्त करने के लिए सगठन क्यो आवश्यक है ?"

"यह तो स्पष्ट है । संगठित समाज की माँग और उसके अधिकारो की उपेक्षा नही की जा सकती ।"

"इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्यता के मूल अधिकारो के लिए भी लड़ाई आवश्यक है ?"

"तुम अपना तर्क पूरा कर लो ।"

"आर्थिक स्थिति सुधारना और शिक्षा प्राप्त करना परस्परावलम्बी है और दोनों मिलकर समाज तथा सरकार पर अवलम्बित है । फिर, तुम जानती हो, हम लोगों में शारीरिक बल और जीवन-शक्ति कितनी रह गई है ?"

"हाँ, दुर्भाग्य से, बहुत कम । तुम्हारे अभागे समाज की आयु का औसत शायद १० और १५ वर्ष के बीच में होगा ।"

"और हमारे उद्योगो का आर्थिक मूल्य ?"

"सब जगह और हमेशा तो होता ही नही। जब होता है तब इस युद्धोत्तर काल में तीन-चार आने से लेकर दो-तीन रुपये रोज़ तक। पहले तो एक आने से लेकर पाँच-छ आने दिन ही थी।"

"हमारे उद्योग का प्रमाण क्या होगा ?"

"तुम्हारे समाज के लोग परिश्रम बहुत करते है, परन्तु उसमें कला-कौशल की आवश्यकता है।"

"और तुम समझती हो कि मशीनो के काम के आगे हम टिक सकेंगे ?"

"यह कठिन है। इसके लिए समाज की भावनाएँ विकसित करना आवश्यक होगा। इस कार्य में दूसरे लोगो को अपनी शक्ति लगानी होगी।"

"अर्थात् हमारा उत्थान पूर्ण रूप से हमारे हाथ में नहीं है। उधर, संस्कार और कला-कौशल भी सम्भव नही। शिक्षा हमारे अनुकूल नही है, न वह हमारे लिए सम्भव है। हमारा सबसे पहला सवाल है रोटी का। उसे हल करते हुए हमें शिक्षा लेने का अवकाश ही नही रहता।"

"और ?"

"अब रही बात मैदान में डटकर खडे होने की। आज हमारी समस्या एक होने की है, या आपस में झगडने की ?"

"एक होना बहुत आवश्यक है। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि बिना अपने-आप में शक्ति उत्पन्न किये और बिना उस शक्ति को व्यक्त किये, हम किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न कर सकेंगे। कोई हमारी पुकार न सुनेगा।"

"इसका अर्थ हुआ सघर्ष, और सो भी ऐसे समय पर जब वह हमारे हितों के लिए सबसे घातक सिद्ध हो सकता है।"

"तुम्हारी दृष्टि में पराजय की भावना झलकती है। फिर भी वह जहाँ तक जाती है, असगत नहीं है। परन्तु इसका उपाय क्या है ? अस्पृश्यता को मिटाना आवश्यक है। किस तरह उसे मिटाया जाय ?"

"महात्मा गाधी का बताया हुआ मार्ग तो सभी जानते हैं। तुमने भी वही समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु मुझे उसके द्वारा विकास की गति बहुत मद दिखलाई पड़ती है। उससे स्पृश्यो के दम्भ का भी अन्त होता दिखाई नही देता। इधर कुछ दिनो से मेरे मन का झुकाव एक नये तरीके की ओर होने लगा है।"

"वह कौनसा तरीका है ?"

"हरिजनों का सामूहिक धर्म-परिवर्तन।"

निर्मला स्तब्ध हो गई। क्षण-भर बाद उसने पूछा—"इससे समस्या हल हो जायगी ?"

"मुझे तो ऐसा ही लगता है।"

"तुम्हारा विचार अभी पक्का तो नही हुआ ?"

"नही।"

"तो क्यो न इतिहास-शिक्षक से बात की जाय ? उन्हे तो हरिजन-कार्य में बहुत रुचि है।"

"किसी दिन अवश्य करूँगी।"

१६

'क्या तुम मेरी हो ?'

मनुष्य अनेक मनोरथ बाँधता है, और परिस्थितियाँ उन्हे बिल्कुल उलट देती है। यदि सोचनेवाले की निष्ठा में बल न हुआ, स्थिरता न हुई, तब तो उसके विचार स्वय ही बदलते रहते है। परिस्थितियों का किंचिन्मात्र परिवर्तन भी उसे विचलित कर देता है और वह पुराने प्रश्नो को छोड-छोड़कर नयो में उलझता रहता है। उसके जीवन में एक के बाद दूसरी समस्या आती है और वह एक को भी पूरी तरह से सुलझा नहीं पाता। मनोविकारो की प्रबलता उसे कभी भी शान्त रहने नही देती। मन की अस्थिरते ! तू मनुष्य-जीवन की कितनी बडी शत्रु है !

उस दिन से चचला फिर विचार-मग्न दीखने लगी। उसने इन्दौर के बच्चो की याद की और सोचने लगी कि क्या कभी वह दिन आयेगा, जब उन-जैसे समस्त बच्चो को भी मनुष्य के समान जीने के अधिकार प्राप्त होंगे ?

उसने स्वय अपने भविष्य की कल्पना की और आज प्रथम बार उसे सारा जगत अधकारमय प्रतीत हुआ। उसने सोचा, किस हस्ती को लेकर मै ससार में आदर के साथ जीवन बिता सकूँगी ! मै कितना भी पढ़-लिख लूँ, कितनी भी नि स्वार्थ सेवा करूँ, फिर भी अस्पृश्य होने का जो भयानक काला टीका मेरे माथे पर लगा है, वह कैसे मिटेगा ? मेरी सद्‌भावनाओ और महत्त्वाकाक्षाओ का क्या मूल्य होगा ?

उसने अपने पिता की याद की। कितने कष्टो और दुःखो के बीच उन्होने अपना जीवन बिताया। वह दूसरो के लिए ही जिये और दूसरो के लिए ही मरे, परन्तु संसार ने उनकी क्या कदर की ? आज उनका नाम लेने वाला भी कोई नही है !

मा की याद करके उसका गला भर आया। ओह ! कितनी महान् थी, वह ! फिर भी एक दिन के लिए भी उन्हे दूसरे समाज की स्त्रियो की बराबरी

पर बैठने का अवसर नही मिला। वह नारी थीं, इसलिए उनका अपराध दुहरा था !

और मै भी तो नारी ही हूँ। मौका पडने पर नारी के सम्मान की बडी-बडी बाते समाज कर जाता है। लोग दुहाई देते है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:"—परन्तु समाज मे जो जितना ऊँचा है वह नारियो पर उतना ही अधिक अत्याचार करता है। हम नारियाँ ही तो माताएँ होती है। समस्त विश्व माताओ का ही तो प्रसाद है, परन्तु हमे अधिकार क्या है ? हमारी सुनता कौन है ? न्याय और सद्भाव हम पर बरसने के लिए पैदा नही हुए। फिर भी हमारा व्यवहार उससे ओतप्रोत रहता है।

विचार करते-करते उसका मन गिर गया। वह अकेलापन महसूस करने लगी। इच्छा हुई कि निर्मला के पास जाकर अपनी हृदय की वेदना निकाल दे, परन्तु जा न सकी। आखिर निर्मला भी तो नारी ही है। सहानुभूति प्रकट करने के सिवा वह और कह ही क्या सकती है !

तो क्या पुरुष का साहचर्य मुझे चाहिए ? क्या उसी पुरुष-जाति पर मुझे भी आश्रित रहना पड़ेगा, जो स्त्रियों के प्रति न्याय करना जानती ही नही ? नही, ऐसा नहीं हो सकता। पुरुष-जाति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।

कोई सम्बन्ध नही ? मेरे पिता भी तो पुरुष ही थे। दादा, काकाजी भाईजी—सभी तो पुरुष है, वे तो वैसे नही है ! नही, सारी पुरुष-जाति, निन्दनीय नही है। उसमें भी कुछ रत्न अवश्य हैं।

और उसे जीवन की याद आई। कितना सुशील, कितना सहृदय ! मेरी समस्त भावनाओ और महत्त्वाकाक्षाओ का प्रशंसक है वह। कही यहाँ होता ! मै अपने दिल को खोलकर उसके सामने रख देती और उससे पूछती—"तुम कितनी दूर तक मेरे साथ चलने को तैयार हो ?

पुरुष ! नारी ! पुरुष ! नारी !

स्पृश्य ! स्पृश्य ! अस्पृश्य ! अस्पृश्य !

उसका सिर चकरा गया। थककर बिस्तर पर लेट गई और उसे नींद आ गई। उसने स्वप्न देखा—

> पहला दृश्य—"वह मार्ग भूल गई है। भटकती-भटकती एक गहन वन में जा पहुँची। बडे-बडे विकराल सर्प उसे काटने को दौड़ते है। वह भागती है। प्यास और भूख से बेचैन है। एक नदी के तट पर पहुचती है। पानी पीने के लिए झुकती है तो पास ही एक शेर दहाडता

है। कॉपने लगती है। पानी हाथ का हाथ म रह जाता है और वह नदी में गिरकर बह चलती है।"

दूसरा दृश्य—"वह एक उपवन मे जा पहुँचती है। सध्या का समय है। ठडी-ठडी हवा चल रही है। चारो ओर सुन्दर फूल खिले हुए हैं। कुछ फूल तोडने को हाथ बढाती है। पौधे से बहुत-से भौंरे निकलकर उस पर मँडलाने लगते हैं। वह उन्हे दोनों हाथो से भगाने का प्रयत्न करती है, परन्तु वे लौट-लौटकर आ जाते हैं। उनकी सख्या बढ़ती ही जाती है। देखते-देखते सब ओर भौंरे छा जाते हैं। सब ओर काला-ही-काला दिखलाई पड़ता है। वह घबड़ाकर भागने लगती है। भौंरे उसका पीछा करते हैं। वह मदद के लिए माली को पुकारती है। माली अपनी जगह पर खडा हुआ पुकार उठता है—'चोर! चोर! चोर!' वह और भी जोर से भागती है। परन्तु भौंरे मनुष्य—पुरुष—बनकर उसे घेर लेते हैं, वह पकडी जाती है।"

तीसरा दृश्य—"वह नगर में है। ऊँचे-ऊँचे भव्य प्रासाद आसपास हैं। धनिकों की मोटरें इधर-उधर दौड रही हैं। एक मोटर के सामने एक बूढी भिखारिन आ जाती है और वह धक्का खाकर कई हाथ दूर जा गिरती है। उसका शरीर खून से लथपथ हो जाता है। वह बेहोश हो जाती है। मोटर जरा रुकती है। उससे एक धनिक उतरता है। बूढी के पास जाकर उसे डॉटता है, गालियाँ देता है और उसे वही छोड़, मोटर मे बैठकर चल देता है। चंचला उसके पास जाती है। उसे देखती और सहायता करना चाहती है। इतने ही में पुलिस आती है। सब पुरुष-ही-पुरुष हैं। चंचला को बूढ़ी की हत्या के अपराध में गिरफ्तार कर लेते हैं।"

चौथा दृश्य—"अदालत मे खूब भीड़ है। सब पुरुष-ही-पुरुष हैं। माली, भौरों से बने हुए आदमी, गिरफ्तार करने वाले पुलिस के आदमी—सब उपस्थित हैं। न्यायाधीश आता है। चंचला चौकती है। न्यायाधीश तो उसका बालसखा जीवन है। न्यायाधीश उसे अपराध-मुक्त करता है। दोनों साथ ही चले जाते हैं।"

पाँचवाँ दृश्य—"एक सुन्दर पहाड़ी। पास मे झरना। वह और जीवन। जीवन पूछता है—चचला, तुम मेरी हो? वह उत्तर देना चाहती है, किन्तु शब्द मुँह से नही निकलते। आनन्द और भावनाओं से उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। .. . "

और आश्रम-घटा ने प्रात.कालीन प्रार्थना की सूचना दी। उसकी नीद खुल गई। उसने आँखे खोलकर इधर-उधर देखा, पर वहाँ कौन था, जो दिखलाई पड़ता ? कुछ समय तक वह भ्रात-सी, खोई हुई-सी पडी रही। शायद भयभीत थी, शायद मन-ही-मन पुरुषो की भर्त्सना कर रही थी, शायद जीवन के सान्निध्य का अनुभव कर रही थी।

स्वप्न एक सजीव चित्र बनकर उसकी आँखों के सामने झूलने लगा। उसने उसके विचारो को उत्तेजित कर दिया। वह सोचने लगी कि दुर्बलो के लिए ससार मे कोई स्थान नही है। जो अपनी शक्ति का जितना भयकर परिचय देता है, वह उतना ही निधडक रहता है। समाज मनुष्य पर और छोटे समाजों पर कितना अत्याचार करता है, परन्तु क्या सामर्थ्य कि कोई उसके विरुद्ध अँगुली तक उठा दे। राजसत्ता और धर्म भी सबल के ही पक्षपाती हैं। निर्बल चीखता रहे, ईश्वर भी उसकी पुकार सुनने को तैयार नही होता।

नारी ? वह तो निर्बलों से भी निर्बल है। उसके पास शारीरिक बल कम है, अतः पुरुष ने उसे सदैव के लिए कुचल कर रखा है। अब वह अपनी इसी अवस्था में समाधान मानने लगी है। उसने अपनी आत्मशक्ति भी खो दी है। उसे पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनकर उसके हाथो मे नाचना पडता है। वह अपनी रक्षा नही कर सकती, और कोई स्थान उसके लिए सुरक्षित नही। पुरुष हिस्र पशु के समान उस पर झपटने के लिए, उसे प्रवचित करने के लिए सदा घात लगाये रहता है। नारियाँ माता होती है, सृष्टि की अन्यतम कोमलता उनसे ही प्रस्त्रवित होती है, ससार का सर्जन और पोषण वे ही करती हैं और बदले में उन्हे मिलती है—दासता ! प्रेम नारी का ही सवेदन है, परन्तु उसका उपभोग करने का उसे कोई अधिकार नही। नारी उसके लिए तड-पती है और पुरुष उसका खिलवाड करता है। नारी के उस पुनीत प्रेम में ईर्ष्या और स्वार्थ का मिश्रण करके पुरुष ने उसे विकृत कर दिया है। उसमे उसने क्या-क्या नही मिलाया ?

और स्वप्न का अन्तिम दृश्य उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख आया। वह रोमांचित हो उठी। एक अभूतपूर्व अनुभूति और आन्तरिक उत्तेजना से उसका शरीर पसीना-पसीना हो उठा। यह क्या था, वह समझ न पाई। केवल उसका अनुभव उसने किया और उसने महसूस किया कि उस अनुभूति में एक विलक्षण वेग है, अभूतपूर्व आकर्षण है। रोमाच और पसीना उसे प्रिय मालूम हुआ। उसका सतत अनुभव करते रहने की इच्छा उसके मन में जाग्रत

हो उठी। उस अनुभूति में एक वेदना एक फुहरन, एक सिहरन थी। वह सब उसे मधुर मालूम हुई।

उसका शरीर यद्यपि प्रार्थना के लिए चला, तथापि उसका मन उसे किसी दूसरी ही ओर खीच रहा था।

उसने प्रार्थना शुरू की—"प्रात. स्मरामि हृदि सस्फुरदात्मतत्त्वम् . " और उसके हृदय के अन्दर से किसी ने पुकारकर पूछा—"चंचला, तुम मेरी हो ?" वह आगे बढती गई, परन्तु उसका यह प्रश्न बन्द न हुआ। भजन आरम्भ हुआ—

"माई मैंने गोविन्द लीनो मोल !
गोविन्द लीनो मोल।"

उसे अच्छा लगा। उसकी भावनाओं में अधिक उत्कटता आगई। भजन आगे बढा—

"कोई कहे सस्ता, कोई कहे महँगा,
लीनो तराजू तोल।
कोई कहे घर में, कोई कहे वन में,
राधा के संग खिलोल।"

उसका शरीर स्फुरित होने लगा। भजन और आगे बढ़ा—

"मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
आवत प्रेम के डोल।"

वह लज्जित हो गई। क्यों ? वह स्वयं नहीं जानती। प्रार्थना समाप्त होने पर सब छात्राएँ अपने-अपने काम में लग गईं, परन्तु चंचला शिथिल रही। उसके मन पर या तो बोझ था, या उसका मन उसके पास था ही नहीं।

वह सोचने लगी—आखिर इसका क्या अर्थ है ? एक स्वप्न ने मुझे इतना प्रभावित क्यों कर दिया ? "चचला तुम मेरी हो ?"—यह कैसी बात ? परन्तु इसमें नवीनता क्या है ? जीवन मेरा बालसखा है। उसने अम्मा और बापू की शुश्रूषा में प्राणों को हथेली पर रखकर मेरी सहायता की थी। आज भी वह मेरे लिए व्याकुल रहता है। फिर क्या आश्चर्य कि मै उसकी हूँ ? उसके गाढ़े समय में मै अवश्य ही उसकी मदद करूँगी। निःसंदेह वह मेरा है और मै उसकी हूँ।

परन्तु क्या इस प्रश्न का यही अर्थ है ? यदि यही अर्थ हो तो प्रश्न का प्रयोजन क्या ? परन्तु मै कैसी हूँ ! स्वप्न की बात पर इतनी ऊहापोह में पड़ गई !

वह पुस्तक खोलकर पढने बैठ गई । पुस्तक पढती थी, परन्तु उसका मन स्वप्न की उधेड-बुन में लगा था । पुस्तक का एक शब्द भी उसकी समझ में न आया । कभी उसके नेत्रो के सामने वे बडे-बडे भौंरे आते, कभी बूढी और कभी पुलिसवाले । और उन सबके बीच जीवन बराबर आता—कभी न्यायाधीश के रूप में और कभी झरने के पास खडा पूछता हुआ—"चंचला, तुम मेरी हो ?" और उसकी विचार-सरणी इसी अतिम समस्या को सुलझाने में फिर उलझ गई ।

यदि वह मुझ से पूछ ही ले तो मै क्या उत्तर दूँगी ? स्वप्न में मै कुछ उत्तर देना चाहती थी—वह क्या था ?.. वह क्या था ? याद नही आता । परन्तु मेरे हृदय में इस प्रश्न को सुनकर गुदगुदी पैदा हुई थी । मेरा हृदय उमडने लगा था । शायद मै कहना चाहती थी—"हाँ !" क्या मै "नही" कह सकती थी ? यदि वह प्रत्यक्ष पूछे तो क्या मै "नही" कह सकती हूँ ? पता नहीं । पहले मुझे उसके प्रश्न का अर्थ समझना होगा । "तुम मेरी हो ?" हाँ, हाँ, मै तुम्हारी अवश्य हूँ, जीवन ! तुम्हे शका क्यो है ? "परन्तु फिर तुम्हे सदैव मेरे साथ रहना होगा ।" साथ रहना होगा ? मैं तो स्त्री हूँ, समाज क्या कहेगा ? "हम विवाह कर लेंगे ।" विवाह ? विवाह ? क्या यह सच है ? क्या विवाह किये बिना मै तम्हारे साथ नही रह सकती, तुम्हारी नही हो सकती ?

विवाह तो मै करना ही नही चाहती । विवाह मुझे दासी बना देगा । आज मै तुम्हारी सखी हूँ, तुम्हारे साथ मेरा बराबरी का सम्बन्ध है । विवाह करने के बाद तुम मेरे 'पूज्य' बन जाओगे । मै कैसे निभा सकूँगी ? मुझे तो बराबरी में ही आनन्द है ।

मै नारी हूँ । नारी तो विवाह के पूर्व और विवाह के पश्चात् भी पुरुष से हीन मानी जाती है । विवाह उसे बन्धनो और उत्तरदायित्वों में जकड अवश्य देता है । फिर वह चाहे भी तो सिर ऊँचा न कर सके । उसे फुरसत ही कहाँ ? स्वेच्छा से नारी हीन क्यों बने ? जब तक पुरुष स्वय चेतता नहीं, नारी को मानवोचित अधिकार नही देता, तब तक नारी उसके साथ सहयोग क्यों करे ?

और बापू का कार्य ? विवाह करके शायद मै बापू का कार्य भी पूरा न कर सकूँगी । मुझे उनकी बची हुई सेवा पूरी करनी हे । मै देश में किसी को अस्पृश्य न रहने दूँगी । और नारियो की उन्नति के कार्य में मै अपना सारा जीवन लगा दूँगी । विवाह के बाद क्या यह सब हो सकेगा ?

नहीं, मै विवाह नही करूँगी ।

फिर क्या मै जीवन की हो सकूँगी ? हो सकू तो अच्छा, नही तो नहीं सही ।

विवाह में आत्मत्याग है ? नहीं आत्मघात है । मै विवाह नहीं करूँगी, नहीं करूँगी ।

इस निश्चय से चंचला का मन कुछ हलका अवश्य हुआ और यद्यपि पढ़ने के योग्य मनःस्थिति उसकी अब भी नही थी, वह चरखा कात सकती थी और वह उसी में लग गई ।

थोड़ी ही देर में आचार्य उमापति ने भी उसे बुलवा भेजा । वह गम्भीर थे । प्रकट स्नेह के साथ बोले--"जीवनचन्द्र नाम के किसी युवक का एक पत्र तुम्हारे नाम आया है । यह युवक कौन है ?"

चंचला ने सक्षेप में परिचय दे दिया ।

आचार्य ने कहा—"पत्र कुछ विचित्र-सा है, कल्याणकारी नही जान पड़ता । गृह-व्यवस्थापिका का कहना है कि इस प्रकार के पत्र उसके पास से बहुधा आया करते है ।"

"पत्र तो आते है, परन्तु यह कैसा है, मै क्या जानूँ ?"—चचला ने उत्तर दिया ।

"चचला, हमारी नीति तुम लोगो पर पूर्ण विश्वास करने की है । मुझे यह भी विश्वास है कि तुम लोगो का व्यवहार भी हमारे साथ विश्वास का होगा ।"

"जी ।"

"और मुझे बडे भाई का स्थान प्राप्त है न ?"

"जी ।"

"तो यह पत्र ले जाओ । इसे पढ लो और सायकाल इसे लेकर मुझ से मिलो ।"

चचला पत्र लेकर चली गई ।

१७

जया की चित्रकारी

सेठ गगाप्रसाद प्रायः प्रतिदिन ही आश्रम का एक चक्कर लगा लिया करते थे। कार्यकर्त्ताओ और छात्राओ के साथ उनका व्यवहार इतना आत्मीयतापूर्ण था कि लोग उनके आने की बाट जोहा करते। और जब वह आ जाते तो उनकी चारो ओर भीड लग जाती। शिक्षकालय के छोटे-छोटे बच्चे भी 'काकाजी', 'काकाजी' पुकारते हुए उनके पास दौड पडते थे। कोई उनकी धोती पकडता, कोई हाथ और कोई उनके पैरो को अपने लघु बाहुपाश में भरकर उनसे झूलने का प्रयत्न करता। वह स्वयं बच्चो के साथ बच्चा बन जाते और उनसे प्यार की, बच्चों-की-सी, मीठी-मीठी बाते करते रहते।

बड़े लडके-लड़कियाँ भी उनके आसपास एकत्र हो जाते थे। कोई उनसे अपने विद्यालय की बात करता, कोई घर-बार की। वह सबकी सुनते, उचित परामर्श देते और आवश्यकता पडने पर उपयुक्त आश्वासन देकर उनका समाधान करते।

शिक्षक-शिक्षिकाओं से जब वह बाते करते तो उनके और उनके परिवार के लोगो के स्वास्थ्य, सुख-दुःख, आकाक्षाओ-आवश्यकताओं से लेकर आश्रम के दैनिक कार्यक्रम एव देश तथा ससार की समस्याओ तक सभी विषयो का पर्यालोचन हो जाता।

अन्त में वह छात्रावास मे पहुँच जाते। वहाँ सब छात्राओ से मिलते और उनके सुख-दुख, सुविधा-असुविधाओ को जानकर आवश्यक उपाय करते।

इधर कई महीनो से सरकार ने उन्हे सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा के लिए भयानक कहकर कारागृह में डाल रखा था। चचला को अनेक बार उनसे उपदेश और दिशा-दर्शन प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु यह हो ही कैसे सकता था! उसे मन मारकर रह जाना पडा।

जीवन का जो पत्र चचला के नाम आया था उससे आचार्य भी विचार

में पड गये थे और उन्हे भी सेठजी से भेंट करने की आवश्यकता महसूस होती थी।

आचार्य से पत्र ले जाकर चंचला ने उसे एक ही साँस में पढ़ डाला। जैसे-जैसे वह एक-एक पक्ति और एक-एक अनुच्छेद से गुजरती थी, उसके हृदय की धडकन बढ़ती जाती थी। पत्र पढकर उसने रख दिया और उस पर विचार करने लगी। परन्तु उसे कुछ सूझ न पडा। मानो, पत्र के शब्द उसके अंतस्थल के भावों पर से उछलते चले जाते थे।

उसने दुबारा उसे पढा और इस बार उसके प्रत्येक शब्द को हृदयंगम ही नही कण्ठ कर लेने की धुन से पढा। उसे कुछ सफलता मिली। परन्तु विचार करने पर उसे मालूम हुआ कि पत्र के कुछ इने-गिने शब्द ही उसके हाथ लगे है।

अब उसने पत्र को खोल अपने सामने रख लिया और एक-एक वाक्य का विश्लेषण प्रारम्भ किया। तब वह भावनाओ मे बह गई। जीवन का चित्र उसके सामने आकर झूलने लगा और वह सोचने लगी कि कितना अच्छा है वह!

उसे उस दिन का स्वप्न याद आया। स्वप्न के मुकदमे का निर्णय और झरने का किनारा भी उसके मन के सामने झूलने लगा। फिर उसे पुकार सुनाई दी—"चचला तुम मेरी हो?" और वह आत्म-विस्मृति मे लीन हो गई।

तो क्या सचमुच जीवन उससे विवाह का प्रस्ताव कर रहा था? वह इसे नही मान सकती। इन्दौर में, आमने-सामने कहाँ उसने विवाह की बात की थी? परन्तु यदि उसका यही आशय हो? यदि उसके हृदय में यह भावना नई पैदा हुई हो? परन्तु पत्र से यह कहाँ प्रकट होती है? वह तो इस प्रकार के पत्र सदैव लिखा करता है। भला, 'काश' से आरम्भ होने वाले अनुच्छेद में तो कोई ऐसा भाव नही है?

उसने अनुच्छेद फिर पढ डाला। इसका अर्थ वैसा हो भी सकता है और नही भी। उसका यह आशय होता तो मुझ से साफ-साफ क्यो न कहता? और क्या वह इतना भी नही समझता कि पत्र में इस प्रकार की बात नहीं लिखनी चाहिए? क्या वह मेरी बदनामी की जोखिम उठायेगा?

जीवन स्पष्टवादी है और उसने प्रत्यक्ष मुझ से कुछ नहीं कहा, अतएव यह निष्कर्ष सही नही है।

जीवन बुद्धिमान है और वह मेरी बदनामी की जोखिम नहीं उठा सकता, अतएव यह निष्कर्ष सही नही है।

जीवन मेरा स्नेही है और भावुक भी है और उसके पत्रों में स्नेह तथा भावुकता का पुट होना स्वाभाविक है, अतएव यह निष्कर्ष सही नहीं है।

उसने मान लिया कि पत्र की समस्या हल हो गई। परन्तु क्या सच-मुच वह हल हो गई थी? तो वह अब किस समस्या को सुलझाने में व्यस्त थी? उसने उस पत्र को उठाकर रख क्यो नही दिया? उसे दूसरो से छिपाने की इच्छा क्यो होती है?

उसने अपनी दैनंदिनी मे पत्र की प्रतिलिपि कर ली और उसके नीचे लिखा—

"यह मेरा निजी पत्र है। अच्छा हो या बुरा, किसी को इस पर आपत्ति करने का क्या अधिकार? मेरा विश्वास है कि इसमें भावप्रवण हृदय के स्नेह-सिक्त उद्गार-मात्र अंकित हैं, जिन्हें उत्कटता के साथ व्यक्त किया गया है। इसमें वेदना प्रकट है, वेदना प्रच्छन्न है। वेदना अपने आत्मीय पर ही प्रकट की जाती है। मैं उसकी आत्मीय हूँ। वह मेरा आत्मीय है। उसने आत्मीयता की माँग पूरी की है। उसका पत्र उसकी और मेरी दृष्टि से सर्वथा उचित और आपत्तिरहित है। समाज कदाचित् उसमे दोषान्वेषण करे परन्तु क्या समाज सदैव सही मार्ग पर रहता हे? हम व्यक्ति ही समाज का निर्माण करते हैं। हमारी ही सचाई पर समाज का सचाई का दुर्ग खडा है। हमारी आत्मा ही तो हमारी सचाई का निर्माण कर सकती है? मैं सच्ची हूँ। मेरा विश्वास है कि जीवन भी सच्चा है।"

दुपहर को जया दौडती हुई चंचला के पास आई। उस समय चंचला वाचनालय में बैठी हुई एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलट रही थी। 'उलट रही थी' इसलिए कि किसी विषय में गम्भीरतापूर्वक ध्यान लगाने की उसकी मन:स्थिति नहीं थी।

जया ने अत्यन्त प्रफुल्लता के साथ कहा—"दीदी, मैंने एक बहुत अच्छा चित्र बनाया है।" और उसने अपनी चित्र-पुस्तिका उसके सामने रख-कर पन्ने खोलना शुरू कर दिया। उसे क्या परवाह थी कि चंचला का ध्यान कहाँ है और वह उसका चित्र देखना चाहती है या नही!

चित्र निकालकर जया ने उसे दिखलाया। दोनों आमने-सामने बैठी थीं। जया ने समझा, उलटी ओर बैठकर चित्र समझाया नही जा सकता, इस-लिए वह शीघ्रता से चंचला की बगल में आ गई। जल्दी मे उसके पैर से चंचला के हाथ की अँगुली कुचल गई और उसके मुँह से सहसा वेदना की एक दबी हुई आवाज़ निकल पड़ी। चचला ने अपनी अँगुली को सहलाते हुए

झिडकी तथा उलाहने के स्वर में कहा—"कैसी फूहड है !"

जया लजा गई। उसका उत्साह गिर गया और उसने खिन्नता के साथ कहा—"मैने जान बूझकर थोडे ही तुम्हारी अँगुली कुचल दी है।"

अब तक चचला सावधान हो चुकी थी। उसके हाथ का दर्द भी मिट गया था। वह जो अब तक अपनी अँगुली पकडे देख रही थी उसे छोडकर और प्यार के साथ जया के गाल पर एक मीठा चपत लगाकर बोली—"जान-बूझकर न करने पर ही 'फूहड' की उपाधि मिलती है। अच्छा, बता अपना चित्र।"

जया प्रसन्न हो गई। उसमें फिर उत्साह आया। चित्र दिखलाया और देखा जाने लगा।

अनेक रगो का मिश्रण ! सुन्दर-असुन्दरता ! देखते ही चंचला हँस पडी। जया भी हँस पडी।

मोटा-सा-धड, पतले-पतले पैर, दोनो पजे समानान्तर आग्नेय दिशा की ओर, छाती झुकी हुई, एक हाथ का रुख डडा मारने का, दूसरा हाथ पीछे खिचा हुआ—मानो भागने की तैयारी मे हो, सिर बडा, आँखें बड़ी-छोटी, कान बहुत लम्बे, नाक टेढी, मुँह बहुत छोटा और विकृत, सिर पर सीको के समान खडे बाल, माथे पर त्रिपुण्ड—ऐसा एक पुरुष !

सामने एक बहुत छोटा बच्चा—निर्दोष और सुन्दर !

बच्चे के सामने लिखा है—"बाबा, तुम कौन ?"

त्रिपुण्डधारी से कहलाया गया है —"दूर हट, नही मार दूंगा। ..

बच्चे के सामने दूसरा प्रश्न लिखा है—"तुमाए छीग कॉ एँ ?"

चचला हँसती-हँसती लोट-पोट हो गई। जया ने भी निर्माता के गौरव का पालन करते हुए उसका साथ दिया।

इतने ही मे छुट्टी की घटी हुई और बहुत-सी छात्राएँ वहाँ एकत्र हो गईं। गिरिजा, वसुधा, मीनाक्षी, सभी आईं। सब ने चित्र देखा और सब हँसी।

मीनाक्षी ने कहा—"पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध में यह चित्र बिल्कुल उपयुक्त है।" कुछ बालिकाओं ने इसका समर्थन किया। एक ने कहा—"चित्र में पुरुष का रूप यही होना चाहिए।" कुछ इस मत के विरुद्ध रही, उन्होने नाक-मुँह सिकोड लिया।

विनोद का रंग गहरा हो रहा था और इसी बीच गिरिजा बोल उठी—"इस लड़के की जगह लड़की बनानी थी, फिर यह चित्र पूर्ण हो जाता।"

अन्य बालिकाओ ने इसका अनुमोदन किया और हास-परिहास की मात्रा कायम रही।

चंचला भी बराबर हास्य मे योग दे रही थी, परन्तु उसके चेहरे पर उन्मुक्तता की झलक दिखाई नही पडती थी। एक बालिका ने दूसरी का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करते हुए कहा—"अभिमान की कोई सीमा ही नही दीखती!"

दूसरी ने व्यंग्य से उत्तर दिया—"दीदी जो है।"

तीसरी छोटी बालिका तिनककर बोली—"इस तरह की विषैली बाते क्यो करती हो? वह तो किसी से बोलती भी नही, फिर भी उनके प्राण नही बचने देती।"

"तुमको हमारी बातो से क्या? तुम्हें क्यो बुरा लगता है?"—एक ने आवेश में आकर उत्तर दिया।

वह बालिका चुप होकर वहाँ से हट गई।

चंचला के रुख में कोई परिवर्तन नही हुआ। उसने इन बातो को सुना ही नही। और बहुत सी बालिकाओ ने भी इनमे कोई रस नही लिया।

इधर चित्र की मीमासा जारी थी।

गिरिजा की बात सुनकर मानो वसुधा ने विरोध किया। उसने कहा—"नहीं, यह अर्थ बिल्कुल ठीक नही है। इससे स्त्रियो की हीनता सिद्ध होती है।"

कान्ता ने उत्तर दिया—"अच्छा, तो अब आप अपना भाष्य कीजिए।"

और वसुधा ने आरम्भ कर दिया—'चित्र बिल्कुल स्पष्ट है। यह जो आधा मनुष्य और आधा बैल बनाया गया है, वह अपना परिचय आप दे रहा है। ढीली धोती, उघारा बदन, माथे पर त्रिपुण्ड, इसका 'पोगा पडित' होना दिखाता है। सामने जो बच्चा है वह अस्पृश्यो का प्रतीक है। अस्पृश्य सीधा-सादा, भोला-भाला, ग़रीब, दुर्बल होता ही है। कष्टो से उसकी बाढ़ मारी गई है। पोंगा पंडित मालपुए उडा-उडाकर दूसरों से बडा कहलाकर, दिन-भर बेकार पडा-पड़ा, फूल गया है। उसके कान—लम्बकर्ण—उसकी मूर्खता का परिचय देते हैं "

कानो की व्याख्या ने फिर हँसी का समां बाँध दिया।

जुबेदा बिना स्पष्ट किये न रह सकी। बोली—"मगर बड़े कान तो गधे के मशहूर है!"

वसुधा को कहना पडा—"हाँ, इसके कान गधे के ही हैं। परन्तु आवेश इसमें छुट्टे बैल का है। गधा सबको मारने थोडे ही दौड़ता है।"

कुछ बालिकाओं को यह व्याख्या पसन्द आई; कुछ को नही। वसुधा ने देखा, चंचला के हृदय में कुछ अधिक गुदगुदी नही हो रही है, इसलिए उसने उसे हाथ से ही गुदगुदा दिया और जब वह भी खिल पडी तो व्याख्या आगे बढ़ी—

"यह अस्पृश्य बच्चा इस गर्दभ-वृषभ पडित के पास आ गया और कौतूहल-वश अपना भोला प्रश्न कर बैठा—"बाबा, तुम कौन ?" बेचारे की इतनी बात भी पोगा पडित सह न सका। मारने को तैयार हो गया। बच्चे के घर में बैल है। वे उसे बहुधा सीग मारने दौड़ते है, इसलिए जो भी मारने दौडता है उसे बच्चा बैल ही समझता है। उसने इसे भी बैल समझा "

बालिकाएँ फिर हँस पड़ीं।

वसुधा गम्भीर भाव धारण किये आगे बढती गई—

"परन्तु बच्चे को स्मरण हुआ कि बैल के तो सीग होते है और इसके है ही नही। इसलिए उसने अपना दूसरा प्रश्न किया—"तुमाए छीग काँ एँ ?"

सब बालिकाएँ वसुधा के पक्ष में हो गईं। कुछ ने तो तालियाँ भी पीट दी। केवल चंचला ऊबने लगी थी। वसुधा कुछ रुकी और फिर बोली—"इस चित्र मे एक कविता की कमी है, उसे मै पूरा किये देती हूँ। जया, लिखो इसके नीचे—

तबीयत बुरी सही पै किस्मत बुरी नहीं।
है लट्ठ हाथ मे कि फोड़ दूँगा सर तेरा ॥"

और अब सभी का बाँध टूट पडा। एक बार तो 'बे-हँसी रानी' चंचला भी दिल खोलकर हँसे बिना न रह सकी।

उधर नाश्ता लाने वाली बालिकाओं ने पुकार लगाई तो सभा विसर्जित हो गई, परन्तु वसुधा की कविता सब लोगों के होठों पर बस गई।

चचला का नाश्ता जया ने झपट लिया और बोली—"इनाम नहीं दोगी ?"

चचला ने प्रकट प्रसन्नता और स्नेह से कहा—"मै सचमुच ही तुझे इनाम देना चाहती थी, जया।"

"तब तो तुम्हे खाना ही होगा।"—जया ने साग्रह कहते हुए नाश्ते का बर्तन उसके सामने सरका दिया।

चचला को खाना पडा, परन्तु इतनी अरुचि के साथ शायद ही कभी उसने नाश्ता किया हो। तिस पर आज नाश्ते का पदार्थ विशेष स्वादिष्ट था।

ऐसा क्यो हुआ ?

जब चचला ने पहले-पहल चित्र को देखा तो अपनी प्यारी जया के नटखट स्वभाव के व्यक्त परिचय के रूप मे उसने उसे बहुत पसन्द किया। परन्तु बाद मे चित्र की जो व्याख्याएं हुई उनसे उसका दिल हिल उठा।

चित्र मे जब नारी और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा था उस समय वह अपने भावी जीवन और समाज की विषमता पर विचार कर रही थी। प्रस्तुत चित्र से भी एक भयकर चित्र उसके सामने आकर खडा हो गया था। एक ही झलक मे वह नारी के प्रति आततायी पुरुष के समस्त अत्याचारो को देख गई। नारी की अशिक्षा, उसकी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता, उसकी सामाजिक दुरवस्था और उसकी सम्यक दासता का एकमात्र कारण पुरुष को समझकर वह सिहर उठी। उसने अपनी निस्सहायता का अनुभव किया और उसका हृदय एक बार जोर से उछलकर बैठ गया।

वसुधा की व्याख्या शुरू हुई तो उसे वह भी ठीक लगी। किसी बात को हलके मन से ग्रहण करना मानो वह भूल ही गई थी। प्रत्येक बात मे उसे गम्भीरता मालूम होती, प्रत्येक बात वह अपने पर उतार लेती और प्रत्येक बात उसके हृदय पर प्रभाव डालती। वसुधा का विनोद समस्त श्रोतामण्डली को गुदगदा रहा था, परन्तु अकेली चचला उससे दूर भागना चाहती थी। यद्यपि उस समय उसने अपनी आन्तरिक व्याकुलता को छिपाने और प्रकाश्य रूप में हँसी-खुशी में सम्मिलित रहने का भरसक प्रयत्न किया, तथापि यदि कोई मनोवैज्ञानिक वहाँ पर उपस्थित होता तो वह स्पष्ट देख सकता कि उसकी मनोदशा साधारण नही थी।

और, क्या किसी ने उसकी मनोदशा पहचानी नही ? छोटे बच्चे और साथी-सगी अपने निकट रहने वाले लोगो के लिए बड़े-से-बड़े मनोवैज्ञानिक होते है। एक दृष्टि में वे अपने निकटस्थ की स्थिति हृदयगम कर लेते है। अतर केवल इतना होता हे कि वे वैज्ञानिक ढग से और वैज्ञानिक भाषा मे बोल नही सकते। सो, उसके साथ की बालिकाओ ने भी तो उसकी मानसिक स्थिति को समझकर किसी-न-किसी रूप में व्यक्त कर दिया था।

परन्तु चचला में व्यवहार की सास्कारिकता थी। गुरुकुल और वनिता आश्रम में रहकर उसने अपने माता-पिता से प्राप्त सस्कारो को यथेष्ट विकसित किया था। अतएव वह अपने मानसिक कष्ट को यथासम्भव दूसरो पर प्रकट न होने देती थी। जया के आग्रह से नाश्ता करके उसने अपने इसी सस्कार का परिचय दिया था।

जब से उसने वसुधा की बनाई हुई कविता सुनी, तब से वह बराबर उसके मन मे घूमती रही। समाज की अवस्था का सच्चा चित्रण उसे उन दो छोटी-छोटी विनोद-पूर्ण पक्तियो में प्राप्त होता था। धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों मे वे दो पक्तियाँ उसे सत्य प्रतीत होती थीं। उसे दिखलाई देता कि सभी जगह कुछ भाग्यवान लोग अपना ठेका कायम किये बैठे है। साधन-सम्पन्न अपने साधन के मद में साधन-हीनो को संत्रस्त करते रहते है।

उसका ध्यान व्यापक विश्व की ओर गया। सर्वत्र सबल-निर्बल, सम्पन्न-विपन्न का संघर्ष उसे दिखलाई पडा। क्षण भर के लिए उसने सोचा कि यह सृष्टि का नियम है, अत· इसे स्वीकार कर लेने मे ही कल्याण है। परन्तु तुरन्त ही उसकी अन्तरात्मा ने विद्रोह किया। इस स्थिति को क्यो स्वीकार किया जाय? इसे नैसर्गिक भी तो वही बताते है, जिन्हे इससे लाभ है। कितनी नैसर्गिक बातों को वे मानते हैं? क्या प्रत्येक व्यक्ति का सुख और उन्नति की आकांक्षा करना नैसर्गिक नहीं है? उस आकांक्षा का आदर क्यों नही किया जाता? उन्हे उनकी आकाक्षा-पूर्ति में सहायता क्यों नही दी जाती? जब वे विद्रोह करते है तो उनके दमन का प्रयत्न क्यो किया जाता है? यह सब अन्याय है, असत्य है, स्वार्थ है, अत्याचार है। इसके विरुद्ध सग्राम छेड़ना ही होगा।

परन्तु सग्राम? संग्राम कैसा? सग्राम कैसे? सग्राम किससे? उस दिन तो मैंने निर्मला से कहा था कि यह समय सग्राम छेडने का नही, एकता करने का है। फिर, सग्राम या एकता? सग्राम पहले, एकता बाद में? एकता पहले, सग्राम बाद में? तो क्या सचमुच सग्राम अनिवार्य है? 'भय बिन होइ न प्रीति'—क्या यह उक्ति सही है? 'वक्र चन्द्रमहि ग्रसै न राहु'—क्या यह भी ठीक है? नही, भय से प्रीति कैसे होगी? उससे तो मनुष्य कपटाचार में, कुटिलता में प्रवृत्त हो जायगा। फिर क्या?

उसके मन में इतिहास-शिक्षक से बातें करने की बात और भी पक्की हो गई।

१८

प्रणयी नहीं सखा

संध्या हुई और चचला के आचार्य के पास जाने का समय आया। उसने जीवन का पत्र ले लिया और तरह-तरह के विचार करती हुई चली। अपनी कोठरी से आचार्य के कमरे मे पहुंचने तक न जाने कितने विचार उसके मस्तिष्क मे आये और चले गये। उसने जीवन के सम्बन्ध में मनोरम कल्पनाएँ की और उनमे विभोर हो उठी। उसने अपने और उसके साथ का एक भयकर चित्र भी देखा और वह कॉप उठी। परन्तु यह सब उतनी ही देर के लिए था। जब वह आचार्य के कमरे में पहुँची तब तक उसका मन शान्त हो चुका था।

आचार्य ने किंचित् मुसकराकर सौम्यता के साथ उसका स्वागत किया और उसे प्यार के साथ अपने पास बैठाकर, कुछ इधर-उधर की बातें करने के बाद मूल विषय आरम्भ किया। चचला ने पत्र उनके हाथ मे दे दिया और उन्होंने एक बार फिर से उस पर दृष्टि फेरने के बाद पूछा—"क्या ख्याल है इस पत्र के बारे में, चचला?"

"पत्र तो अच्छा है।"

आचार्य कदाचित् यह उत्तर सुनने की अपेक्षा न करते थे। पत्र को 'विचित्र' जानकर उन्होंने उसके विषय में अपनी धारणा बनाई थी और उनके मन में तर्क की जो दिशा बैठ गई थी, वह इसी आधार पर थी। दूसरी दिशा में उनकी तैयारी थी ही। नही, वह कुछ क्षणों के लिए विचार मे पड गये। फिर उन्होंने दूसरा प्रश्न किया—"उसमें खटकनेवाली कोई बात नही है?"

चंचला ने पूर्ववत् गम्भीरता से उत्तर दिया—"मुझे तो नही मालूम हुई।"—और स्पष्ट था कि उसने यह बात निष्कपट भाव से कही।

"ऐसे पत्र तो समझदार युवक-युवती एक दूसरे को नही लिखते।"

"मैने कभी किसी दूसरे के पत्र नही पढ़े।"

अब आचार्य को कुछ उलझन हुई—यह लड़की यही महसूस करती है या मुझ से केवल तर्क करना चाहती है ? पहली बात ही उन्हें अधिक जँची, किन्तु उससे उनकी कठिनता हल नही होती थी। उन्हे पत्र का एक-एक शब्द प्रेम-संदेश से ओतप्रोत मालूम होता था। उस पर चर्चा करने का अर्थ था प्रेम के जैसे सुकुमार विषय पर चर्चा करना। उससे क्या कहें ? वह कुछ गलती-सी महसूस करने लगे। कोई महिला बातें करती तो अधिक अच्छा होता। परन्तु गृह-व्यवस्थापिका के अनुरोध से उन्होने यह कार्य अपने ऊपर ले लिया था, अब छोड कैसे दें ? अन्ततोगत्वा उन्होंने अपना सारा बल इकट्ठा करके बात को आगे बढाया।

"क्या तुम यह भी महसूस नहीं करती कि पत्र अनावश्यक भावनाओ और खुशामद से भरा हुआ है ?"

"जीवन सच्चा और साफ है। वह खुशामद नही करता। रही भावनाओ की बात, सो आप तो कहते थे कि अपनी भावनाओं को सुन्दर-से-सुन्दर रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करने से मनुष्य का आन्तरिक विकास होता है। फिर इसमें क्या दोष है ?"

"तो तुम्हारा विश्वास है कि उसने अपनी सच्ची भावनाओ को ही काव्यात्मक भाषा में व्यक्त किया है ?"

"जी !"

"तुम्हे ये भाव अच्छे मालूम हुए ? इनसे प्रसन्नता हुई ?"

"वह मेरा बहुत प्यारा सखा है। उसके साधारण पत्र से भी मुझे हर्ष होता है।"

आचार्य को जिस बात पर विश्वास नहीं हो रहा था, अब वही उनके मन में जमने लगी। क्या वही ठीक है ? परन्तु पूछें कैसे ? सकोच ने एक बार फिर धर दबाया और उन्होने फिर साहस किया। आखिर भूमिका बाँधने लगे। पहले उन्होंने उसे विश्वास में लेने के लिए कुछ बातें कही, कुछ अपनापन जताया, कुछ उसका भ्रातृभाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया और जब उससे गलत न समझने का पूरा आश्वासन मिल गया तब उन्होने पूछा—

"तुम लोगों के बीच विवाह की कोई बात तो नही है ?"

चचला के लिए यह प्रश्न अपेक्षित था भी और नहीं भी। उसे सुनकर वह लजा गई। उसका चेहरा आरक्त हो उठा, हृदय धड़कने लगा। शायद वह उत्तर देने योग्य अवस्था में रही ही नही। परन्तु उत्तर तो देना ही था और उसने कहा—

"जी नही।"

"बिल्कुल सच कहती हो ?"—आचार्य ने पूरी बात खुलवा लेने के ख्याल से कहा।

"जी हाँ!"—सक्षेप मे उत्तर मिल गया।

आचार्य अब पूरी उलझन में पड गये। उन्होने मानसशास्त्र के समस्त ज्ञान का आकलन करके परिस्थिति को यथार्थ रूप मे समझने का प्रयत्न किया। परन्तु जैसे-जैसे उन्होने गहरा खोदा, वैसे-वैसे अधिक घने जाल मे फँसते गये। आखिर बात को समाप्त करना ही उचित समझकर उन्होने कहा—

"देखो चंचला, मुझे दुनिया का थोडा-बहुत अनुभव है। वह पक्का और त्रुटिहीन ही है, ऐसा तो मै नही कह सकता, फिर भी आयु और उत्तरदायित्व के कारण वह तुम्हारे अनुभव से अधिक हो सकता है। तुम मानती हो ?"

"जी हाँ।"

"तो, मुझे इस पत्र में विवाह की भावना छिपी हुई दिखलाई पड़ती है।"

"हो सकती है।"

"और तुम तो विवाह करना ही नही चाहती ?"

"नही, मै उसे केवल बाल-सखा मानती हूँ।"

"तो, यदि यह बात एकागी है, तो इसका अन्त अत्यन्त दु:खद हो सकता है।"

"तो मुझे क्या करना चाहिए ?"

"मै तुम पर विश्वास करता हूँ, अतः इस समय अधिक न कहूँगा। तुम स्वय ठडे दिल से विचार करो। मेरी सहायता तुम्हे सदा सुलभ है। जब आवश्यकता हो मेरे पास आना।"

"जी।"

"और सुनो, मुझे गलत न समझना। मै विवाह का विरोधी नही हूँ। केवल किसी काम को छिपाकर करने के विरुद्ध हूँ। यदि तुम्हारे हृदय के किसी कोने में भी विवाह की भावना छिपी हुई हो तो मुझे अपना सहायक भाई समझना। कोई बात छिपाना मत।"

"जी हाँ।"—कहकर चंचला चली गई।

आचार्य को उससे बात करके कुछ विशेष सतोष नही हुआ। उसके और जीवन के बीच में जिस प्रकार का पत्र-व्यवहार हो रहा था, उसे वह कितना भी प्रयत्न करने पर विवाह की भावना से अलग न कर पाये। किन्तु चचला

पर अविश्वास करने का उनके पास कोई कारण नही था। वह झूठ नही बोल सकती थी। परन्तु वह सोचने लगे कि लज्जा और सकोच तो भारतीय नारियों की नस-नस में भिदा होता है, फिर क्या यह सम्भव नही कि वह इसी कारण अपने सच्चे मनोभावों को प्रकट न कर सकी हो?

इस तर्क के समर्थन में एक अन्य कारण भी मिल गया। उन्होंने चचला के साथ की अपनी बातो पर पुर्नविचार किया, अपने प्रश्नो और उसके उत्तरों को अपने मन में दुहराया, चचला के सूक्ष्म उत्तरो पर विचार किया। चंचला ने अधिकाश प्रश्नो का उत्तर 'हाँ-नही' की भाषा मे दिया था। वह सोचने लगे कि यदि उसे सकोच न होता तो वह विस्तार से बातें करती, कुछ मेरी सुनती और कुछ अपनी कहती। परन्तु ऐसा नही हुआ। फिर उन्होने उसके चेहरे और चेहरे पर प्रतिबिम्बित भावो को स्मरण किया। वह निश्चय ही सिर नीचा किये हुए बातें करती थी। एक बार भी तो उसने मेरे चेहरे की ओर देखकर बात नही की।

बहुत ऊहापोह के पश्चात् उनके मन में यह बात जम गई कि उसने अवश्य ही अपने मन मे छिपी हुई बातें मुझ से नही कही। इसमें वह उसे दोषी नही मानते थे। यह तो सस्कारो का परिणाम है और आवश्यक नही कि ये सस्कार बुरे हो। फिर, यह भी तो हो सकता है कि विवाह की भावना अब तक उसके अन्दर जाग्रत ही न हुई हो। परन्तु यदि भावना के सुप्त होने का प्रश्न हो तो, आज नही कल, वह जाग्रत होगी ही। इस प्रकार के पत्र उस भावना को जाग्रत करने में सहायक होगे। और यदि इस प्रकार के पत्र चलते रहे, दोनो का प्रेम इसी रूप मे बढ़ता गया, परन्तु परिस्थितियो ने दोनों को मिलने न दिया, तो दोनो का ही जीवन नष्ट हो जायगा।

कुछ करना अवश्य होगा, परन्तु क्या? जबरन पत्र रोक दिये जायँ? इसका परिणाम तो उलटा भी हो सकता है। समझाकर रोका जाय? परन्तु, यदि ये दोनो विवाह करना चाहते हों तब तो क्या यही अच्छा न होगा कि इनमे पत्र-व्यवहार जारी रहे, ये एक-दूसरे को जानते रहे, पारस्परिक प्रेम बढता रहे? पत्र-व्यवहार रोक देने से भी तो अनर्थ हो सकता है? दोनों के बीच अस्वाभाविकता और भ्रम फैल सकता है। इसकी प्रतिक्रिया इनकी पढाई म भी बाधक हो सकती है। तो क्या पत्र-व्यवहार चलने दिया जाय? इससे आश्रम की बदनामी हो सकती है। इसका परिणाम दूसरी बालिकाओ पर भी हो सकता है।

अन्त में उन्होने निश्चय किया कि सेठजी से परामर्श किया जाय। वह

सेठजी से मिलना ही चाहते थे। इस समस्या ने आवश्यकता को बढाकर भेंट के समय को निकटतम खींच दिया।

उधर चचला के मन में विचार उदित न होते यह असम्भव था। उसका अब तक का सारा जीवन अपने अन्तर्द्वन्द्वों को निबटाने में ही व्यतीत हुआ है। आज स्थिति कुछ कोमल हो गई हो, सो भी नही। आज उसके मन की उलझन सुलझाये नही सुलझती। उसकी मात्रा भी अधिक है और विषमता भी। उसने उसे अविराम चिन्ताशील बना दिया है। सो, उसने भी मनोमथन किया ही, परन्तु आज उसकी इस प्रवृत्ति में तीक्ष्णता क्यो नही थी ?

उसने भी आचार्य के साथ की सब बातो को स्मरण किया और उसके मन में आचार्य के दो शब्द गूँजने लगे—"सहायक भाई !" कितनी सहानुभूति मिली उसे इन दो शब्दो में !

उसने दूसरी बातो को याद किया—क्या मेरे मन मे विवाह की भावना छिपी हुई है ? कभी उसे प्रतीत हुआ—"शायद !" कभी उसे लगा—"नही तो !" और "नही तो" पर ही जोर रहा और अन्तिम निर्णय वही रहा।

फिर उसने पत्र के औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया। उसमे उसे कोई अनौचित्य दिखलाई नहीं पडा। जीवन के सन्निकर्ष की कल्पना करके वह विभोर हो उठी। एक क्षण के लिए वह एक सुन्दर, मगलमय, आनन्दमय, पावन भविष्य का स्वप्न देख गई। कितना आह्लाद ! कितनी विभोरता !

एक बार फिर विवाह का प्रश्न उसके सामने आ खडा हुआ। नारी और पुरुष, स्पृश्य और अस्पृश्य, बापू और अम्मा, उनके कार्य की पूर्ति—सब एक के बाद एक उसके सामने आये और वह कह उठी—"नही, यह नही हो सकता।"

उसने जीवन को उत्तर लिखा। उसकी कुछ पक्तियाँ ये थी—

"तुम्हारे पत्रो से मेरा मन नाचने लगता है और मै अपने बाल-सखा की स्मृति मे विभोर हो उठती हूँ। कितनी-कितनी बार मै तुम्हारा एक-एक पत्र पढती हूँ ! कितना काव्य और कितनी पवित्रता मुझे उनमे दिखलाई पडती है ! ..."

"तुम्हारा पिछला पत्र हमारे आचार्य ने भी पढा। उसको लेकर तुम्हारे सम्बन्ध में बहुत-सी बातें हुईं। .. "

"मुझे भी ऐसा लगता है कि कहीं हम दोनो एक साथ रहते ! परन्तु मै जानती हूँ कि यह असम्भव है। तुम्हे वहाँ पढना है और मुझे यहाँ ही। पढ़ने के बाद बापू का काम पूरा करना ही मेरा

एकमात्र ध्येय है। उनका काम करने के लिए मैं जीवन-भर स्वतन्त्र रहना चाहती हूँ। इसमें शायद कष्ट हों, असुविधाएँ हों, परन्तु मुझे जो सन्तोष मिलेगा वह अतुलनीय होगा।' ”

“एक बात और। तुम्हें अवश्य अच्छी लगेगी। तुम्हारे पत्रों में काव्य होता है किन्तु उसकी रचना व्यक्ति को लक्ष्य करके की जाती है—बहुधा मुझे लेकर। इससे क्या तुम्हारी कवि-प्रतिभा कुंठित और संकुचित न होगी? परमेश्वर की इस असीम और चमत्कारपूर्ण सृष्टि में मनोरम विषयों का अभाव नहीं है। तुम सूक्ष्मदर्शी भी हो, न-कुछ में भी कुछ खोज निकालते हो। फिर अपनी उस प्रतिभा का उपयोग क्यों नहीं करते? अब करोगे? मुझे इससे अधिक सुख मिलेगा। ...”

पत्र उसने गृह-व्यवस्थापिका की पत्र-पेटी में डाल दिया। गृह-व्यवस्थापिका ने भेजने के पूर्व उसे पढ़ा और आवश्यक समझकर आचार्य को भी पढ़ा दिया। आचार्य ने उसकी प्रतिलिपि ले ली और उसे जाने दिया।

कुछ दिन बाद आचार्य उमापति सेठजी से मिलने गये और उन्होंने अन्य विषयों के साथ-साथ चंचला की समस्या पर भी उनसे परामर्श किया। सेठजी ने कहा—“चंचला की प्रवृत्तियों को बारीकी से समझने का प्रयत्न कीजिए, जीवन के सम्बन्ध में भी सच्ची जानकारी प्राप्त कीजिए। आवश्यक हो तो ग्वालियर जाकर उससे मिल भी आइए, परन्तु विवाह की कोई चर्चा न हो। जेल से छूटने पर मैं सब ठीक कर दूंगा।”

१६

अस्पृश्य नहीं

आश्रम लौटने पर आचार्य ने कार्यकर्त्ताओ की एक सभा की, और उसमे सब छात्राओ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का निश्चय किया गया। इसके पश्चात् सप्ताह के अन्त मे कार्यकर्त्ताओ की जो रिपोर्ट मिली उसके अनुसार निर्मला का नम्बर सब दृष्टियो से पहला रहा। चचला के विषय में लिखा गया था—"चिन्तनशील, करुणा-प्रिय, अस्थिर, सुकुमार स्वभाव, आत्म-सयम मे प्रयत्नशील, सुबुद्धिमती, बहुधा नियमित।"

रिपोर्ट के फलस्वरूप आचार्य ने निर्मला को छात्राओ का एक कला-मण्डल स्थापित करने की प्रेरणा दी। निर्मला ने छात्राओ की सभा करके उन्हे कलामण्डल स्थापित करने के लिए तैयार किया और उसके कार्यो का निश्चय होने लगा। चित्रकारी, नाट्य, सगीत, शिल्प, वाद-विवाद, साहित्य आदि अनेक विषय सूचित किये गये और जब निश्चय होना असम्भव दिखलाई पडने लगा तो शिक्षकों की सहायता से कार्यक्रम बनाने के लिए एक छोटी-सी समिति बना दी गई।

आचार्य ने समिति को सहायता देकर ऐसी योजना बनवा दी कि सभी बालिकाओ के लिए अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कलाओ का अभ्यास करने की सुविधा हो गई। सेवा के लिए भी शनिवार का दिन निश्चित कर दिया गया। एक-सी रुचि वाली बालिकाओ की अलग-अलग टोलियाँ बना दी गईं और विद्यालय के समय मे शिक्षको की सहायता की भी व्यवस्था कर दी गई। सेवा के कार्यक्रम मे सभी छात्राओ ने सम्मिलित होने का निश्चय किया।

चचला सेवा की एक टोली की नायिका और साहित्य की टोली की साधारण सदस्या बनी।

इस प्रकार यह मण्डल उत्साह और उमग के साथ चलने लगा। शनिवार को बारी-बारी से दो-दो टोलियाँ ग्राम-सेवा के लिए जातीं और शेष दिनों में

विद्यालय के अन्दर अथवा अन्य उपयुक्त स्थानो मे विभिन्न कलाओ का अभ्यास किया जाता। मास में एक बार 'प्रतिभा मण्डल' के तत्वावधान में उन कलाओ का प्रदर्शन होता और उस दिन समस्त आश्रम मे सौन्दर्य, आनन्द एव उत्साह का वातावरण फैल जाता।

थोडे ही दिनों के बाद 'बलिदान' नाटक के अभिनय का आयोजन किया गया। इसमे प्रत्येक कला-टोली को अपनी-अपनी कला का परिचय देना था।

चित्र-कला की टोली ने नयनाभिराम पट और सगीत की टोली ने सुमधुर गायन तैयार किये। सेवा की एक टोली ने नाट्यशाला के अन्दर और बाहर सेवा का कार्य ग्रहण किया और इसकी नायिका रही चचला। साहित्य की टोली ने नाटक लिखा। वाद-विवाद, व्याख्यान, काव्य, नृत्य एव शिल्प—सभी के लिए नाटक में गुंजाइश रखी गई। शिल्प की टोली ने उपयुक्त वस्त्र तैयार किये और सबने अलग-अलग अपना-अपना काम किया और सबने मिलकर सबका काम किया।

सब कार्यकर्त्ताओ, नगर के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो और बाहर से आये हुए कुछ राष्ट्रीय नेताओं को आमत्रित किया गया। नाटक के आरम्भ से अन्त तक बार-बार तालियाँ पिटी और आचार्य, शिक्षक-शिक्षिकाओ तथा सचालक-मण्डल ने गौरव अनुभव किया। नाटक अपने ढग का निराला रहा और बालिकाओ को उसकी सफलता का महान् श्रेय प्राप्त हुआ।

इस मास के अन्त में बालिकाओं की प्रवृत्ति-रिपोर्ट बहुत उत्साहवर्धक रही। उसमें बताया गया—

निर्मला—लोकसग्रह का सुन्दर परिचय दिया।

मीनाक्षी—छोटी-छोटी बातो पर रूठना, प्रायः लुप्त सेवा में अग्रगण्य।

कान्ता—विनम्रता का विकास, दूसरे गुणों का परिचय।

वसुधा—काव्य और साहित्य में प्रगति, वाचालता में वैज्ञानिकता का समन्वय।

चंचला—प्रसन्नता में वृद्धि, अस्थिरता में कमी, सेवा में अग्रगण्य, उत्साह का नियमन।

शेष छात्राओ की सत्प्रवृत्तियो में भी कुछ-न-कुछ प्रगति दिखलाई दी।

उत्साह और अविराम प्रगति के इस वातावरण मे चचला के हृदय के अन्दर विराम कैसे होता? वास्तव में अब उसकी दो स्थितियाँ हो गई थी—एक

तो वह जिसका उसने शैशव से, कदाचित् जन्म से ही, वरण कर रखा था, अर्थात् हरिजन और नारी होने की समस्या और उसमे जीवन का समावेश, दूसरी, कलामण्डल से उत्पन्न उत्साह और उन्नति की स्थिति। दोनो के संघर्ष से या तो वह निखर रही थी, या कुचली जा रही थी।

जीवन को पत्र लिखने के बाद वह हिसाब लगाने लगी थी कि उसका पत्र कब पहुँचेगा। तीसरे दिन उसने सोचा कि आज मिल गया होगा और चौथे दिन सोचा कि कल मिल गया होगा और जीवन ने अब तक उत्तर भी दे दिया होगा। उस दिन से वह लगातार उत्तर पाने की उत्सुक प्रतीक्षा में निरत रही। छठे दिन पत्र आ ही जाना चाहिए था। वह समय से पूर्व ही अपने कमरे मे बैठी गृह-व्यवस्थापिका के आने की राह देखने लगी।

भोजन के समय, जब सब बालिकाएँ एकत्रित हो गईं, गृह-व्यवस्थापिका ने एक-एक बालिका का नाम पुकारकर पत्र बाँटने शुरू किये। चचला ने अत्यन्त उत्सुकता के साथ उनके हाथ के पत्रो की ओर देखा और फिर अपने नाम के पुकारे जाने की प्रतीक्षा करने लगी। प्रत्येक नाम के बाद उसे अपने नाम की आशा होती, और प्रत्येक के बाद वह निराशा सिद्ध हो जाती। 'च' से आरम्भ होने वाले दो-तीन नाम थे। उनमें से प्रत्येक पर वह चौकी और बाद को लज्जित हुई। पत्र बँट गये। उसके नाम का कोई पत्र न निकला। उसने सिर नीचा किये, तिरछी आँखो से एक बार गृह-व्यवस्थापिका के हाथो की ओर देखा, हाथ खाली थे; परन्तु उसे विश्वास न हुआ। अब उसने लज्जा और सकोच को दूर कर सीधे-सीधे गृह-व्यवस्थापिका की ओर देखा, परन्तु खाली हाथ तो खाली ही थे। तो क्या सचमुच पत्र नही आया? नही, आया अवश्य होगा। गृह-व्यवस्थापिका ने रख लिया होगा। अपनी सुविधा से देंगी। उन्हे किसी की उत्सुकता का क्या ख्याल!

भोजन के बाद वह अपने कमरे में जाकर लेट गई। लेटे-लेटे उसने किसी के पैरो की आहट सुनी। उसे लगा कि गृह-व्यवस्थापिका आ रही है—हाँ, चप्पलों की आवाज़ तो वैसी ही थी! वह प्रसन्न हो उठी। अवश्य पत्र लेकर आ रही हैं। बडी अच्छी है! सबके सामने पत्र नही देना चाहा, अब जल्दी से लेकर आ रही है। आखिर उनके भी तो हृदय है ही!

और ज्यो ही पैरो की आवाज़ उसके दरवाज़े के पास पहुँची, उसका दिल धड़कने लगा। अधीर होकर उठ बैठी और दरवाज़े के पास पहुंच गई। उसने देखा, वह व्यायाम-शिक्षिका है। दिल फिर बैठ गया।

इसी प्रकार दिन पर दिन बीतते गये। दिनों के बाद सप्ताहों का क्रम

आरम्भ हुआ। उसका हृदय दुहरी वेदना से पीडित रहने लगा । पत्र तो नही ही मिला, उधर उसके मन मे शका होने लगी कि जीवन बीमार तो नही पड गया। परन्तु उसका मन उसे बहुधा धिक्कारने लगता—कैसी अशुभ बात सोचती है ! बीमार पड़े जीवन की बला ! फिर उसने पत्र क्यों नहीं लिखा ? रूठ गया ? रूठने योग्य तो मैंने कुछ लिखा नही। फिर बात क्या होगी ? उसने लिखा होगा, आचार्य ने रख लिया होगा ? वह तो ऐसे नहीं, है, फिर कौन जाने !

आखिर पत्र न आया। धीरे-धीरे चंचला के मन में यह बात जमने लगी कि पत्र आया होगा और एक के बाद कई पत्र आये होगे, परन्तु उसे दिये नही गये। उसका मन इस आशका से भी रिक्त न रहा कि सम्भव है उसका पत्र भेजा ही न गया हो ।

अनेक बार उसने आचार्य और गृह-व्यवस्थापिका से पूछने का इरादा किया, परन्तु प्रत्यक्ष साहस न कर सकी ।

इधर कलामण्डल का काम जोरो से चल रहा था। चंचला को अपने मन पर अकुश रखकर मण्डल तथा आश्रम का काम तो करना ही पडता था, परन्तु उस सब में वह एकाग्रचित्त न हो पाती थी। उसके काम में यदि कोई अच्छाई आ जाती थी तो उसका कारण उसके सस्कार थे, न कि उसके मनोयोगपूर्ण प्रयत्न ।

कलामण्डल का प्रत्येक कार्य उसे उसकी इंदौर की पाठशाला का स्मरण कराता था। वह वहाँ बच्चो के साथ यही सब तो करती थी। उसे उन बच्चो की याद आती, फिर हरिजनो की समस्या उसके सामने झूलने लगती और अन्त में वह अपनी उद्विग्नता को बुला लेती। फिर, नारी-पुरुष, धनी-निर्धन, समर्थ-असमर्थ, सभी के प्रश्न उसके सामने आने लगते ।

समय के प्रभाव से जीवन-सम्बन्धी व्यग्रता कुछ कम पडी, तो इन समस्याओ ने उसे धर दबाया। इन दिनो निर्मला बहुत व्यस्त रहती थी, इसलिए उससे मिलनेवाला समाधान भी उसे उपलब्ध न था। ऐसे ही कुछ उद्विग्नता के क्षणो में वह इतिहास-शिक्षक के घर पहुँच गई और उसने उनके सम्मुख अपने मन की व्यथा प्रगट की ।

इतिहास-शिक्षक चतुर और प्रेमी सज्जन थे। आश्रम परिवार में वह 'काका' कहकर पुकारे जाते थे। छात्राओं पर उनका बहुत प्रभाव था। चचला की बात सुनकर उन्होने अपनी नकली बत्तीसी मुँह में दाखिल करते हुए कहा—"अभी से तुम काजी बनकर शहर के अन्देशे से दुबली क्यो होने लगी ?

तुम्हारी यह आयु तो खेलने-खाने और सीखने की है, अभी से चिन्ताएँ क्यों ?"

चचला ने एक-एक बात आरम्भ की। सबसे बड़ी और सबसे पहली बात सबसे पहले—"मुझे पग-पग पर अस्पृश्यता के काटे चुभते है, काका !"

"परन्तु तुम तो अस्पृश्य नही हो ?"

"अस्पृश्य न होती तो लोग मुझ से अस्पृश्यता-जैसा व्यवहार क्यों करते?"

"क्या आश्रम में अस्पृश्यता का व्यवहार होता है?"

"जी हा ! आश्रम में भी और बाहर भी। आश्रम सदैव तो नही होता और प्रकाश्यरूप में भी नही होता; परन्तु अवसर आने पर लोग तीर छोड़े बिना नही रहते।"

"परन्तु तुम अस्पृश्य नही हो तो तुम्हें इस सब की परवाह ही नही करनी चाहिए।"

"तो क्या मैं सचमुच ही अस्पृश्य नही हूँ, काका ?"

"नही, तुम कदापि अस्पृश्य नही हो।"

काका ने समस्या के मूल पर ही कुठाराघात करके उसे समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। उन्हे इसमें सफलता भी मिली। "नही, तुम कदापि अस्पृश्य नही हो"—ये शब्द चँचला के मन में गूँजने लगे। एक क्षण के लिए वह सब-कुछ भूल गई, उसका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह नरक से स्वर्ग मे खीच ली गई है। उसने कहा—"काका, इस समय मुझे और कुछ नही कहना, मै फिर आऊँगी।"

और वह उठकर चली गई। उसके आनन्द का अनुमान करने के लिए अतरिक्ष में मुक्त उडान भरते हुए पक्षी की कल्पना करनी होगी—वह उसका मुक्त कण्ठ से गाना और सारे ससार को, सम्पूर्ण गगनमण्डल को अपना समझना ! वह उसकी निर्भयता और वह उसकी लीनता ! उसकी प्रफुल्लता का अनुमान करने के लिए खिले हुए कमल की कल्पना करनी होगी वह उसकी विशदता, वह उसकी कोमलता और वह उसकी पवित्रता !

वह दौडती हुई निर्मला के पास पहुची। एकाएक उसने उसे गले से लगा लिया और पूछा—"निर्मला, मै अस्पृश्य नहीं हूँ ?"

निर्मला सहसा यह प्रश्न सुनकर चकित हो गई। उसे आगे-पीछे की बातों का कुछ पता न था। फिर भी उत्तर तो देना ही था। उसने कुछ आश्चर्य, कुछ आनन्द और कुछ कौतूहल के साथ कहा—"तुम्हारे सिवा कौन तुम्हें अस्पृश्य कहता है ?"

उसने क्षण-भर सोचा और फिर बिना उत्तर दिये ही दौड़कर गिरिजा के कमरे में जा पहुँची। वहाँ कई छात्राओं को बैठी देख कान्ता के कमरे में गई, परन्तु कान्ता थी नही, इसलिए वसुधा के कमरे की ओर मुड गई।

वसुधा कविता लिख रही थी, चंचला को दौडती हुई आती देखकर उसने कौतूहलवश अपनी लेखनी रख दी। चचला ने एकदम उसे अपने बाहुपाश मे भर लिया और फूली हुई साँस तथा धडकते हुए हृदय के साथ कहा—"वसुधा!"

वसुधा ने आनन्द का संवेदन ग्रहण करके अपने स्वाभाविक विनोद के साथ कहा—"कहो, उज्जैन की रानी, आज क्या विशेष शुभ समाचार है?"

चंचला सहसा कुछ बोल न सकी, अतः वसुधा ने सहायता की—"क्या कोई पत्र आ गया है?"

चंचला ने या तो इस पर ध्यान ही नही दिया या विषय को इस प्रकार बदल देना उसके लिए सम्भव न हुआ। उसने वैसी ही उत्फुल्लता और भावुकता के साथ कहा—"वसुधा बहन! क्या मै अस्पृश्य नही हूँ?"

"अस्पृश्य!"—वसुधा ने प्रतिकूल भाव प्रकट करते हुए कहा—"कोई मनुष्य भी अस्पृश्य होता है?"

"तो सचमुच मै अस्पृश्य नही हूँ,?"

"चचला रानी अस्पृश्य कदापि नहीं है।"—वसुधा ने विश्वासोत्पादक स्वर में कहा।

चचला ने उसे फिर से अपने बाहुपाश में दबाया और इतनी जोर से कि वह कह उठी—"अरी! छोड़ भी, कुछ बात भी तो कर! हड्डी-पसली आज ही एक कर देगी?" उसने और कहा—"सुन, बैठ! मै तुझे एक कविता सुनाती हूँ।" और चंचला के नही-नही कहते रहने पर भी वह हाव-भाव के साथ कुछ अपनी नोटबुक से पढ़कर और कुछ अपने मन से जोड़कर गाने लगी—

"सखी री! मधुर हास-परिहास!
हमारे जीवन मे उल्लास!
हँसे हँसाये, हर्ष मनाये,
सुललित वेला खेल रचाये,
दुःख की स्मृतियाँ भूल-भुलाये,
आया है, मधुमास! सखी री!"

चचला अपनी कल्पनाओ में मग्न थी। उसका आनन्द कण्ठ में आकर फूल पड़ना चाहता था। वसुधा की कविता उसे बाहर निकालने मे सहायक

हुई। परन्तु वह कहती क्या ? आनन्द से उसका कण्ठ तो अवरुद्ध हो गया था। वह हँस-हँसकर लोटने लगी। वसुधा ने अपनी कविता का दूसरा पद गाना आरम्भ किया—

"छूत-अछूत एक हो जायें,
बीते को सब दूर भगायें,
शिव सुन्दर से प्रीति लगायें,
रचे सत्य का रास। सखी री . ।"

गाते-गाते ही वसुधा ने उसका हाथ पकडकर कहा—"चलो, झूला झूलें। आज ऐसी पैंग बढाऊँगी कि तुम आश्चर्य में पड जाओगी।"

और दोनों बाहर निकल गईं। उस दिन चचला ने क्या-क्या नहीं किया। जो उसे देखता, आश्चर्य में पड जाता। यह अद्भुत परिवर्तन कैसे !

झूला बढा। एक ओर वसुधा और दूसरी ओर चचला खडी होकर पैंग भरने लगी। बीच में मीनाक्षी और कान्ता बैठी हुई गीत गा रही थी।

झूला प्रायः हद तक बढ चुका था। वसुधा ने चचला को प्रोत्साहित करते हुए कहा—"और जोर से पैंग भरो।" और चचला ने पहले से अधिक जोर लगाकर वसुधा से कहा—"और बढाओ।"

वसुधा की साँस फूल गई थी। वह थकी-सी मालूम होती थी। परन्तु उसने अपनी सारी शक्ति का प्रयोग किया।

झूला हर बार थोडा-बहुत बढता ही गया। झूलनेवाली बालिकाओं का असाधारण उत्साह देखकर वहाँ बहुत-सी बालिकाएँ एकत्रित हो गईं। सभी के मन में कौतूहल था और सभी देखना चाहती थी कि आज झूला कितना ऊँचा जाता है। दूर खडी हुई गृह-व्यवस्थापिका और सुषमादेवी भी आपस में कौतूहल के भाव व्यक्त कर रही थी।

चचला का दम भी फूलने लगा, परन्तु उसने और पंग मारी। पास खडी हुई बालिकाओं ने प्रोत्साहित करते हुए कहा—"वसुधा बहन ! हारना नहीं। एक बार और जोर से।"

वसुधा ने और जोर लगाकर पंग को वापस किया और बालिकाओं ने तालियाँ पीटीं। दूसरी बालिकाएँ बोल उठीं—"और जोर से, चचला बहन !" और चंचला ने फिर अपनी ताकत लगाई।

दोनों थक गई थीं, दोनों पसीने-पसीने हो गई थीं, दोनों का दम फूल गया था, फिर भी दोनों ही दुर्दम उत्साह के साथ पंगें भर रही थीं। अब झूले का बढना बन्द हो गया तो उसे यथावत् क़ायम रखने का प्रयत्न आरम्भ हुआ।

और कान्ता तथा मीनाक्षी का संगीत भी झूले के बराबर ही ऊँचा उठता गया।

झूला तनिक नीचा हुआ तो कान्ता ने दोनो को प्रोत्साहित करते हुए कहा—"देखो, हारना नही, बढती चलो, पाँच मिनट और।" मीनाक्षी ने भी उसके स्वर में स्वर मिलाया।

एक बार फिर झूला बढा और वातावरण आसपास खड़ी हुई बालिकाओ की हर्ष-ध्वनि तथा करतल-ध्वनि से गूँज उठा।

मीनाक्षी और कान्ता ने भी अपने गीत को उठाने मे कोई कसर बाकी न रखी।

दूर खड़ी हुई गृह-व्यवस्थापिका ने जोर से पुकारकर कहा—"अब मत बढ़ाओ, बहुत हो गया।" परन्तु उनकी आवाज छात्राओं की आवाज़ में डूब गई। इधर झूला पूरा बढकर फिर रुक गया और उसे कायम रखने का जी-जान से प्रयत्न होने लगा। कान्ता और मीनाक्षी अपने गीतों का बल उन्हे प्रदान करती रही।

दोनों का दम अधिक-से-अधिक फूल चुका था। फिर भी अब तक झूला बन्द नही हुआ। दोनो एक-दूसरी से स्पर्धा करके पैग को कायम रखने का प्रयत्न कर रही थी।

सहसा एक बालिका ने भयभीत होकर और चिल्लाकर कहा—"रोको! रोको! झूला टूट रहा है!" सबने देखा और सब चिल्ला उठी—"रोको! रोको!"

परन्तु रोकने के पहले ही झूले की बल्ली टूट गई और चारो छात्राएँ भूमि पर गिरकर लोट-पोट हो गईं।

आनन्द का वातावरण अकस्मात् बैठ गया और कोलाहल, करुणा, आशंका तथा आतंक ने उसका स्थान ले लिया। मीनाक्षी तथा कान्ता को बहुत चोट आई, परन्तु वसुधा और चंचला बहुत देर तक बेहोश रही।

डाक्टर ने कहा, वसुधा और चंचला के दिमाग को गहरी चोट पहुँची है। बहुत समय और सावधानी की आवश्यकता होगी।

२०

विष-बीज

उत्कट प्रतीक्षा के बाद जीवन को चचला का पत्र मिला। उसने बडी-बडी आशाएँ बाँध रखी थी और पत्र को पढते-पढते कभी उसका हृदय उछल पडता, कभी बैठ जाता। सारे पत्र को पढ जाने के बाद उसके मन पर उदासी छा गई।

वह कई दिनो तक उत्तर देने के बारे में विचार करता रहा। अन्त में यही निश्चय करना पडा कि जब उसके पत्र सीधे चचला के हाथो में नही पहुँचते, तब लिखना उचित नही हे। इसीलिए उसने कोई उत्तर नही दिया।

परन्तु उसका मन शान्त न हुआ। कॉलेज की पढाई की उपेक्षा होने लगी और उसका एकान्तवास बढने लगा। बहुधा वह अटपटे समय में अपने कमरे से निकल पडता और बाग-तडाग के चक्कर काटता रहता। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उसके मन की अशान्ति और किसी को खोजने की व्यग्रता की परिचायक थी। यह सब बातें विनायक से छिपी न रह सकी।

उधर लीला, यमुना तथा सरस्वती के बीच बराबर इस विषय में मतभेद रहा। सरस्वती जीवन की कविताओ और उसके उस पत्र की दुहाई देकर दृढता के साथ कहती थी कि वह चंचला के प्रेम मे फँस गया है और उसे पाये बिना उसका जीवन दूभर हो रहा है। यमुना का मत था कि यदि ऐसा होता तो जीवन विनायक से अवश्य कह देता और लीला विनायक से सब बाते निकाल लेती। लीला इस पर चिढ़कर कहती, मुझे दूसरे के मामलो में हाथ डालने से क्या मतलब ?

ये तीनों ही सखियाँ जीवन के साथ सहानुभूति रखती तथा उसे सहायता करना चाहती थीं। परन्तु स्त्रियों और पुरुषो के बीच समाज ने जो भयानक आकर्षणमय रेखा खीच दी है वह यद्यपि उन्हे कामनाएँ करने से रोक न सकती, तथापि वे कोई बड़ी सहायता न कर पाती थी।

फिर भी जाने-अनजाने जीवन के साथ उनका सम्बन्ध लगातार बढता गया। कभी उनमें से कोई उसके कमरे में जाकर पुस्तकें ले आती, कभी कोई कुछ सलाह करने के लिए पहुँच जाती और कभी कोई विनायक के साथ वहाँ हो आती। और जब वे वहाँ पहुँचतीं तो आश्चर्य नही कि शीघ्र वापस न हो सकती।

जीवन भी लीला के घर, या यो कहिये कि विनायक के घर, पहले से अधिक आने-जाने लगा था। वहाँ उसे ये तीनो सहेलियाँ मिल जाया करती थी। परन्तु वहाँ भी उसके व्यवहार में एक नई विलक्षणता दिखलाई पड़ती थी। जितने अधिक लोग उपस्थित होते उतना वह कम बोलता, जितने कम होते उतना ही वह अधिक बोलता। यदि कोई एक ही व्यक्ति होता—या होती—तो वह इतनी बातें करता कि दूसरे व्यक्ति को कुछ कहने का अवसर ही न मिलता। उस समय उसकी समस्त काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हो जाती।

वह व्याकुल तो रहता ही था, कुछ दुबला भी हो गया। लोगो का विश्वास होता है कि जिन रहस्यों को वे यत्न से छिपाकर रखते है उन्हे कोई जान नही पाता। कितना भोलापन, कितनी भ्रान्ति! उन्हे पता ही नही कि जिसे वे छिपाते है वह सहस्र रूप धारण करके, चिल्ला-चिल्लाकर अपना भेद प्रकट करता रहता है। ससार का कौनसा रहस्य छिपा रह गया है?

जीवन के सहपाठियों और कॉलेज के अन्य छात्रो ने उसकी स्थिति पर चर्चाएँ शुरू कर दीं। किसी का कुछ भी विश्वास हो, और विश्वास हो या न हो, जीवन को देखते ही बहुत से विद्यार्थी हँस पडा करते थे, कभी-कभी कुछ फबतियाँ कस दिया करते थे और जब वह दूर होता तो आपस में उसकी बातें करके परिहास किया करते थे। और बहुत-कुछ होता था, और बहुत कुछ नही होता था। तीनों छात्राओ के साथ भी उनका कुछ ऐसा ही व्यवहार हो गया। विनायक के तो नाको दम आ जाता था।

इन सबका एक सहपाठी था—करुणाशकर—अपने नाम के बिलकुल विपरीत! बडे बाप का बेटा था, खूब छैल-छबीला और उतना ही चतुर-चालाक। जैसे औद्धत्य का परिचय वह दे सकता, वैसा दूसरे में क्या होगा! कॉलेज के कुछ विद्यार्थी उसके पीछे-पीछे फिरते थे, क्योकि वह उनकी दावतें कर सकता था, उन्हे सिनेमा दिखा सकता था और विरोधियो की खिल्लियाँ उडाकर उन्हे हराने और परेशान करने में समर्थ था। उसकी एक अलग टोली थी।

जीवन, विनायक और लीला आदि को करुणाशकर की टोली का उपहास

निरन्तर सहना पडता था। फलतः ये सब उनसे कटे-कटे रहते थे । परन्तु आततायी तो घर मे घुसकर भी वार कर सकता है। अतएव बहुधा ऐसे अवसर आ जाया करते थे, जबकि दोनों टोलियों के बीच कहा-सुनी हो जाती थी।

करुणाशकर और उसके साथी लीला आदि के साथ 'हरिजन' जीवन का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भाँति भी सहन न कर सकते थे । वे जीवन को खुल्लमखुल्ला 'अछूत' कहकर पुकारते और घृणा के साथ उसका अपमान करते। लीला आदि तीनो सखियो को वे 'देवदासी' कहकर अपमान करने लगे। विनायक को 'पडा' की उपाधि दी गई।

इतने पर भी जब जीवन आदि ने उनसे हार न मानी और अपनी टोली में विच्छेद न होने दिया तो उन्होने एक महा नीचतापूर्ण कृत्य की आयोजना की। निश्चय किया गया कि अमुक दिन, अमुक स्थान पर करुणाशकर अपनी मोटर लेकर खडा रहे और टोली के शेष सदस्य वहाँ छिपे रहे। उस समय प्रतिद्वन्द्वियो में से जो कोई भी अकेला वहाँ मिल जाय उसे बलात् मोटर पर बैठाकर शहर से तेरह मील दूर एक तालाब के पास छोड आया जाय।

इस योजना के अनुसार सारी तैयारी कर ली गई; परन्तु सयोगवश उस दिन जीवन, विनायक, लीला आदि सभी एक साथ वहाँ से निकले। करुणाशकर ने अपनी योजना को विफल होते देख शीघ्रतापूर्वक अपने साथियो से सलाह की और झगडा करके अपनी दुरभिसंधि को पूर्ण करने का निश्चय किया। वह अवस्था ही ऐसी होती है जब मनुष्य अपनी इच्छा को सर्वोपरि मानता है, अच्छे-बुरे परिणाम का उसे कोई विचार नही होता।

उसके साथियों ने बरबस झगडा किया, फिर भी उनकी इच्छा पूरी न हुई। जीवन और विनायक साथ की बालिकाओ की रक्षा के लिए मरने-मारने पर तुल गये। इससे आततइयो का साहस भग हो गया और वे एक-एक करके खिसक गये। रहा केवल करुणाशकर और उसका एक साथी। सो, उन्होंने भी अधिक आगे बढ़ने का साहस न किया। इस प्रकार दोनो सेनाओ के सैनिक और सेनापति अपने-अपने घर लौट गये।

जीवन और विनायक ने आज की घटना को आगे आनेवाले भयंकर सघर्ष की सूचना माना और दोनो ने दृढ साहस से उसका सामना करने का संकल्प किया।

इधर करुणाशंकर अपनी पराजय और साथियो की कायरता के कारण घायल साँप की तरह फनफना रहा था। उसे हार खाने का अभ्यास नही था। उसने सदैव दूसरों को दबाकर अपना सिर ऊँचा रखा था। आज की घटना ने

उसे पागल बना दिया और उसने, जिस तरह भी हो, बदला लेने का निश्चय किया। उस दिन से वह बराबर अपनी घात में घूमने लगा।

झगडे का समाचार दूसरे ही दिन सारे कॉलेज और नगर में फैल गया। करुणाशकर और उसके साथियो ने बड़ी तत्परता के साथ वास्तविक बात को विकृत करके और उसमें मनमाना नमक-मिर्च लगाकर फैलाया। जीवन आदि की ओर से कोई प्रतिवाद नही किया गया, अतएव उसका सच्चा स्वरूप लोगो के सामने आ ही न सका। विश्वास करनेवालो ने विश्वास कर लिया, किन्तु छान-छानकर ग्रहण करनेवाले लोगो ने अपना निर्णय स्थगित रखा।

लीला के पिता ने शहर में अनेक प्रकार की बाते सुनीं और वह क्षुब्ध हुए। घर आकर उन्होने विनायक से पूछा--"ये क्या बातें फैली है ?"

इसका उत्तर लीला ने दिया--"लोगो के मन में जो आता है, कहते है। किसी के मुँह को कौन बन्द कर सकता है ?"

"तो क्या यह सब झूठ है ?"

"बिल्कुल झूठ है।"

"तो सच क्या है ?"

"करुणाशकर ने अपने मित्रो को लेकर बुरी नीयत से हम लोगों पर हमला किया था।"

"फिर ?"

"जीवन और विनायक ने हमारी रक्षा की। ये दोनो नहीं होते तो पता नही वह हमें कैसे संकट में डालता।"--लीला के होठ क्रोध से फडकने लगे। उसने जरा रुककर कहा--"वह और उसके साथी गुण्डे है।"

"तो जीवन चरित्रवान लडका है ?"

"मैने उसके समान चरित्रवान लडके देखे ही नही।"

पिता ने क्षण-भर सोचा। उनकी आँखो में एक प्रकार का तेज झलक पडा। चेहरा निश्चय से गम्भीर हो गया। बोले--"यदि तुम सत्य पर हो तो डटी रहो। निर्भय होकर दुष्टो का सामना करो। इसमें जान भी देनी पड़े तो शुभ ही होगा।"

उन्होने कॉलेज के आचार्य को एक पत्र लिख दिया। कुछ दिनो तक शहर मे खासी चख-चख रही। समाचारपत्रो में भी वाद छिड़ा। मनचले लोगो ने रस लिया।

इसी बीच शहर के एक प्रतिष्ठित कार्यकर्ता मगलमूर्ति के पास आचार्य उमापति का एक पत्र आया। सेठ गंगाप्रसाद की आज्ञानुसार उन्होंने

मगलमूर्ति से जीवन के बारे मे विश्वसनीय जानकारी माँगी थी।

मगलमूर्ति व्यक्तिगत रूप से जीवन से परिचित नही थे, परन्तु इन दिनो समाचारपत्रो के द्वारा उसके बारे में बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त कर चुके थे। जो कमी थी उसे पूरा करने मे देरी न लगी। उनका एक निकट सम्बन्धी जीवन का सहपाठी था और उस दिन की घटना के समय करुणाशकर की टोली में सबसे पहले और सबसे तेज भागनेवाला बहादुर वही था। उसने मगलमूर्ति को अपना मत दिया—

"जीवन और विनायक से उन लडकियो की रक्षा करनेवालो मे मै भी था। ये दोनो ही नहीं, विनायक की बहन भी उस षड्यत्र मे सम्मिलित थी। नीचता की कोई सीमा ही नहीं। जीवन तो महीनो से यमुना को बरबाद करने की घात में है, विनायक की निगाह सरस्वती पर हे। लीला सबको अपने आसपास इकट्ठा रखकर अपना उल्लू सीधा करती रहती हे। .. . .."

मगलमूर्ति ने सहसा इन बातो पर विश्वास नही किया, परन्तु इतनी बात उनके मन में जम गई कि जीवन किसी-न-किसी रूप में लडकियो के चक्कर में अवश्य है। वह बहुधंधी आदमी थे। अधिक जाँच-पडताल करने का उन्हे अवकाश नही था। अतएव उन्होंने आचार्य उमापति को लिख दिया—

" . .यहाँ अभी-अभी एक गम्भीर घटना घट चुकी है। सारे नगर मे और पत्रो में उसकी चर्चा है। उस घटना का नायक जीवन ही बताया जाता है। सारी बातो को जानकर और छानबीन करके मै इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि भले ही जीवन अपराधी न हो, परन्तु वह कुछ लडकियो के चक्कर में बुरी तरह से फँस गया है। शायद इस वर्ष परीक्षा मे उत्तीर्ण भी न हो सके।"

लीला के पिता यद्यपि बिगडे हुए रईस थे, तथापि उच्च शिक्षित थे और उच्च शिक्षित लोगो में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनका बल पाने पर जीवन, विनायक और तीनो लडकियों का साहस बढ गया। सरस्वती और यमुना के पिता ने सारा हाल सुना तो वे दोनो भी आग-बबूला हो गये। सरस्वती के पिता ने तो यहाँ तक कहा कि तू उन दुष्टो में से किसी को मारकर नही आई इससे मै लज्जित हूँ। मराठे इस प्रकार की कायरता नही दिखलाते।

दोनों ने लीला के पिता से परामर्श करके कॉलेज के आचार्य को एक-एक पत्र लिख दिया।

आचार्य ने घटना की जाँच की और करुणाशकर तथा उसके साथियो को दण्ड देकर चेतावनी दी कि यदि भविष्य में ऐसी कोई शिकायत आई तो उन्हे कॉलेज से निकाल दिया जायेगा। उधर जीवन आदि भी, हजार सफाई देने

के बावजूद, चेतावनी पाने से बच न सके। वे अपनी निर्दोषिता का पर्याप्त प्रमाण देने में असमर्थ रहे।

जीवन के मन पर इस घटना का बोझ था ही, परिणाम का भार और लद गया। इसी तरह समय बीतता गया और परीक्षा में वह सचमुच ही उत्तीर्ण न हो सका।

२१

हृदय-मंथन

चंचला को स्वस्थ होने में एक महीने से अधिक समय लग गया। उठ बैठने के बाद भी महीनों तक उसके मस्तिष्क में कमजोरी बनी रही। शेष तीनो छात्राएँ उससे पहले उठ बैठी थी और उनकी कमजोरी भी जल्दी चली गई।

इस बीच सेठ गगाप्रसाद जेल से छूट आये। बाहर आने पर उन्होने सबसे पहले जो काम किये उनमें चचला की समस्या को हल करने का प्रयत्न भी सम्मिलित था। आचार्य उमापति ने उन्हें मगलमूर्ति का पत्र दिखाकर सारी स्थिति से परिचित करा दिया था।

उधर, चंचला की बीमारी के दिनो में, उसके नाम जीवन का एक पत्र आया था। आचार्य ने वह पत्र चंचला को देकर उसकी शान्ति भग करना उचित न समझा और इस प्रयत्न मे कि जीवन-जंसे 'सदेहास्पद' चरित्र के युवक से उसका सम्बन्ध न बढे, स्वयं ही उसे लिख दिया था कि आश्रम के नियमानुसार अभिभावक की अनुमति के बिना इसके पत्र चचला को नही दिये जा सकते। चचला को, स्पष्ट कारणो से, इस विषय की कोई सूचना नही दी गई; परन्तु गृह-व्यवस्थापिका को उसकी मनोदशा पर विशेष ध्यान रखने के लिए प्रेरित कर दिया गया।

परीक्षा में चचला उत्तीर्ण हो गई। उसके बाद एक दिन सेठ गंगाप्रसाद ने उसे अपने पास बुलाकर पूछा—"तुम प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी, आगे क्या इरादा है?"

"जैसा आप कहे।"—उत्तर मिला।

"अध्यापन की शिक्षा लेना पसन्द है?"

"जी, हाँ। अध्यापन-कार्य मुझे पसन्द भी है।"

"तो ठीक है, उस विभाग में भरती हो जाओ। और, यह तो बताओ,

तुम्हारे विवाह की चिन्ता भी तो अब मुझे करनी होगी ?"

चंचला ने कोई उत्तर न दिया।

बात को आगे बढाने के विचार से सेठजी इस प्रकार बोले मानो उन्होने उसके मौन को सम्मति मान लिया हो—

"जीवन कैसा लड़का है ?"

चंचला चौंक पड़ी। उसका चेहरा लज्जा से आरक्त हो उठा। जी में आया कि वहाँ से भाग जाय, परन्तु पैर मानो भूमि में गड़ गये थे, शरीर पर मानो मनों बोझ पड गया था। वह भाग तो न सकी, परन्तु उत्तर भी उसके मुँह से न निकला। चुपचाप सिर झुकाये बैठी रही। सेठजी ने फिर उसी भाँति कहा—

"मुझे तो बुरा नही मालूम होता। तुम उसे अच्छी तरह जानती हो ?"

साधारण स्थिति में यदि कोई उससे जीवन के सम्बन्ध में चर्चा करता तो वह उसकी प्रशसा के पुल बाँध देती, किन्तु विवाह की बात उसके साथ जुड जाने से उसके होंठ बन्द हो गये। बड़ी कठिनाई से उसने दबे हुए स्वर में कहा—

"बहुत अच्छे हैं . ....." और कहते-कहते बीच में ही रुककर वह बहुत अधिक लजा गई। यह आदरास्पद संबोधन कैसा! ये अटपटे शब्द क्यों ?... ..परन्तु फिर बोली—

"परन्तु विवाह का प्रश्न तो . ."आगे बोलना सम्भव न हुआ। सेठजी के बहुत प्रयत्न करने पर, खूब माथापच्ची करने पर, कोई दस-पन्द्रह मिनट बाद उसने अपनी सदा की बात एक बार फिर दुहरा दी—"मैं विवाह नही करना चाहती।"

सेठजी को उसकी इस बात पर विश्वास न हुआ। उसकी मनोदशा कुछ दूसरा ही सकेत करती हुई दिखलाई पड़ी। उन्हे प्रतीत हुआ कि उसके हृदय में विवाह की इच्छा जोरो का तूफान उत्पन्न कर रही है। उसका सेवा का आदर्श इस तूफान को आच्छादित किये मात्र मालूम हुआ।

उन्होने पूछा—"क्यो ? विवाह तो कोई बुरी चीज नही है ?"

"मै आजीवन सेवा करना चाहती हूँ।"

"क्या विवाह के बाद सेवा नही हो सकती ? हम सभी लोग विवाहित है और सेवा भी करते ही है ?"

"तो जैसा आप कहे !"

"नही, नही, तुम स्वय निश्चय करो। मै तुम्हे हर बात मे मदद करूँगा।"

"मै क्या समझूँ ? फिर भी विचार करूँगी।"

"हाँ, अवश्य करो। और देखो, जीवन के सम्बन्ध मे एक पत्र आया है। उसे ले जाकर पढ लो। पत्र कुछ शकाजनक है, परन्तु यो ही किसी बात पर विश्वास नही कर लेना चाहिए। तुम चाहो तो एक बार ग्वालियर जाकर सब बाते स्वय देख-सुन आओ, चाहो तो उमापतिजी को भेज दूँ। सब बातें सच-सच मालूम हो जाने पर ही किसी व्यक्ति के बारे मे अपनी धारणा निश्चित करनी चाहिए . "

यह पहेली-जैसी बात चंचला कुछ आश्चर्य के साथ सुनती रही। बाद में पत्र लेकर और कुछ दिनो में उत्तर देने का वचन देकर आश्रम को लौट पडी।

कौतूहल और उत्सुकतावश मार्ग मे ही उसने पत्र पढना आरम्भ कर दिया। जब वह पत्र के उस अश पर पहुँची, जिसमें जीवन के चरित्र के बारे में चर्चा थी तो उसका दम सहसा फूल उठा। पढते-पढते शरीर काँपने लगा और पसीना छूट आया। चलना उसके लिए दूभर हो गया। वह बैठकर पत्र समाप्त कर लेना चाहती थी और कदाचित् रो लेना चाहती थी, परन्तु किसी अज्ञात प्रेरणा से उसके पैर बढते गये और वह आश्रम पहुँच गई।

पत्र ने उसके हृदय मे घोर उथल-पुथल मचा दी। क्या यह सब ठीक हो सकता है ? क्या सचमुच ही जीवन लडकियो के चक्कर में पडकर पतित हो गया है ? क्या मुझे लिखे हुए उसके सारे पत्र झूठे थे ? हाँ, अवश्य झूठे थे। तभी तो उसने मुझे लिखना बन्द कर दिया। लडकियो के चक्कर में पडने पर उसे मेरा स्मरण करने का अवकाश ही कहाँ ? दुनिया कितनी कपटी है !

हो, मुझे इस सबसे क्या प्रयोजन ! वह मेरा कौन है ? केवल बाल-सखा। ऐसे बाल-सखा तो सबके होते है। सब उनके लिए कहाँ व्याकुल रहते है ?

उसके विचारो ने पलटा खाया—परन्तु क्या यह सब झूठ नही हो सकता ? पत्र लिखनेवाले महाशय गलती नही कर सकते ? ससार मे न जाने कितने निरपराधो को फाँसी हो जाती है, कितने ही आजीवन कारावास भोगते रहते हैं, और कौन जान पाता है कि वे निरपराध हैं ? जीवन पर भी क्या यह दोषारोपण ऐसा ही नही हो सकता ? मेरे साथ बातें करने में, व्यवहार करने में उसने कभी चरित्रहीनता का परिचय नही दिया। सभी लोग उसकी प्रशसा करते रहे है। और काकाजी ने भी तो कहा था कि सब बातें सच-सच मालूम

हो जाने पर ही किसी व्यक्ति के बारे में अपनी धारणा निश्चित करनी चाहिए। अवश्य वह भी इस पत्र पर विश्वास नही करते। फिर क्या मुझे ग्वालियर जाना चाहिए ? उससे मिलकर सब बाते सच-सच जाननी चाहिएँ।

परन्तु मै इतनी उद्विग्न क्यो हूँ ? यदि उसका चरित्र सचमुच ही गिर गया हो तो मुझे दूसरे लोगो से अधिक चिन्ता क्यो होनी चाहिए ? विवाह ? क्या मै करूँगी ? फिर बापू का काम कौन पूरा करेगा ? काकाजी कहते थे कि हम सभी लोग विवाहित है, फिर भी सेवा करते ही है। हाँ, वह पुरुष है, वह कर सकते है। स्त्रियाँ कितनी ऐसी है ! उन्हे तो घर-गृहस्थी, बाल-बच्चो से ही अवकाश नही मिलता, सेवा क्या करेंगी ?

और मै हरिजन भी तो .. नहीं नही, हरिजन नही . . परन्तु यह हो कैसे सकता है ? क्या वस्तुस्थिति से आँखें मूँदी जा सकती है ? 'क्या काका' के कहने से ही, स्वयं मान लेने से ही, मै हरिजन नही रही, अस्पृश्य नही रही ? यह सब भ्रान्ति है। उज्जैन और इन्दौर के लोगों से पूछो कि मै कौन हूँ। कैसी कपट-दया दिखलाकर, मुहर्रमी सूरत बनाकर वे कहेगे—बेचारी हरिजन ही तो है ! मै हरिजनो की, अस्पृश्यो की, वृद्धि करने के लिए विवाह करूँ ? नही यह नहीं हो सकता ! मेरा विवाह नहीं होगा।

फिर जीवन से मिलने क्यो जाऊँ ? उसके चरित्र के सम्बन्ध में कुछ रहस्य तो है ही। उसने मुझे सब कुछ लिखा क्यो नही ? उससे मिलने नही जाऊँगी। उससे कभी न मिलूँगी। उसे कभी पत्र न लिखूँगी।

सेठजी से मिलकर आमने-सामने बातें करने का साहस उसे न हुआ। उसने उन्हे एक पत्र लिखकर सूचित कर दिया कि मै विवाह नहीं करना चाहती। जीवन से भी भविष्य में मेरा कोई सम्बन्ध न रहेगा। और उसने मान लिया कि मै निश्चिन्त हो गई।

सेठजी ने पत्र पढ़ा तो हँस पड़े। उन्होंने तुरन्त अपने सैक्रेटरी को बुलाकर कुछ पत्र लिखवाये। एक पत्र गुरुकुल के भूतपूर्व आचार्य स्वामी अभयानन्द के लिए था। उसमे चंचला के लिए उपयुक्त वर खोजने में उनकी सहायता माँगी गई थी। एक दूसरा पत्र श्रीकृष्णभाई को लिखा गया था और उन से जीवन के बारे में सच्ची जानकारी देने का अनुरोध था।

इस बीच आश्रम में गर्मी की छुट्टियाँ प्रारम्भ हो चुकी थी और प्रायः सभी छात्राएँ अपने घर चली गई थी। चंचला, निर्मला तथा कुछ अन्य छात्राएँ वही थी। निर्मला ने अनेकशः प्रयत्न किये कि चंचला उसके साथ इन्दौर चले, वसुधा ने उसे बिहार ले जाना चाहा और अनेक सखियो ने उसे अपने-

अपने घर का आमंत्रण दिया, परन्तु वह कहीं न गई। निर्मला ने देखा कि वह जाना नही चाहती तो उसने अपनी जाने की इच्छा भी दबा ली।

परन्तु थोडे ही दिनो मे एक सयोग आ घटा। आगरे में सिलावटो की एक अखिल भारतीय सभा होने वाली थी। तीन दिन शेष रह गये थे, उसे अनपेक्षित रूप से सभा के सयोजकों का तार मिला। उन्होंने उसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक आमत्रित किया था। निर्मला ने उसे जाने के लिए प्रोत्साहित किया और बहुत तर्क-वितर्क एव संकोच-विकोच के पश्चात् दोनो का ही जाना निश्चित हो गया।

२२
सात करोड़ में एक

आगरे मे सभा के लिए एक विशाल मण्डप तैयार किया गया था। देशभर से सिलावटो के कोई दो-तीन सौ प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। आसपास के तो प्राय सभी सिलावट उपस्थित थे। विविध प्रकार की वेशभूषा, विविध प्रकार की बोलियाँ, विविध उम्रें। स्त्रियाँ भी थी और पुरुष भी थे। जब वे एक-दूसरे से मिलते तो आदर, प्रेम और उत्साह मानो टपका पड़ता।

बहुत प्रयत्न करने पर भी चंचला पहले दिन के अधिवेशन में न पहुँच सकी। सभा के संयोजक तथा स्वयसेवक गाडियों पर उसे खोज-खोजकर लौट गये। दूसरे दिन का कार्यक्रम शुरू हुआ। अनेक ज़ोरदार भाषण दिये गये। जीवन ने भी एक प्रभावोत्पादक भाषण दिया। उसने कहा—

" हम अस्पृश्य नही है, कदापि नहीं है। हम यदुवंशी क्षत्रिय है इस ऐतिहासिक नगर के आसपास रहने वाले हमारे भाई इस सत्य के जीवित-जाग्रत प्रमाण है। हमारा मूल-निवास यही प्रान्त है। शताब्दियों पूर्व हमारे कुछ पूर्वज यहाँ से निकलकर अनेकानेक स्थानों में फैल गये थे। कुछ लोग मध्यभारत में भी जा बसे थे। चालीस-पचास वर्ष पहले तक वहाँ हमारे समाज के लोग क्षत्रिय ही माने जाते थे। इन्ही इतने ही वर्षो में हमें अछूत बना दिया गया। शासकों और समाज का इससे बड़ा अत्याचार और क्या हो सकता है कि वे एक सम्पूर्ण जाति को बिना किसी अपराध के अछूत बना दें? हमें अपने मानवीय अधिकारो के लिए लड़ना होगा। हम प्रतिज्ञा करते है कि जब तक हमारी यह दुर्दशा न मिटेगी, हम चैन न लेंगे। जब तक हमारी यह दुर्दशा करनेवाले लोग अपने किये का प्रायश्चित न करेंगे तब तक हम उनसे बराबर लडते रहेगे ... "

ज़ोर की करतल-ध्वनि के बीच जीवन ने अपना भाषण समाप्त किया।

उधर स्त्रियो के समाज मे कुछ चहल-पहल शुरू हो गई। सब लोगो का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। एक हृष्टपुष्ट और साहसी बालिका ने खडे होकर अध्यक्ष से कुछ बोलने की अनुमति माँगी और फिर वह मच पर आकर खडी हो गई।

कदाचित् उपस्थित समुदाय यह अपेक्षा नही करता था कि हमारी जाति मे भी ऐसी युवतियाँ मौजूद है, जो न केवल अपने स्वतन्त्र विचार रखती है, वरन् सभा मे खडी होकर साहस और योग्यतापूर्वक उनका प्रतिपादन भी कर सकती है। सभी लोग विस्फारित नेत्रो से उसकी ओर देखने लगे और उसका व्याख्यान सुनने के लिए उत्सुक हो उठे।

बालिका ने सर्वप्रथम अपना परिचय देकर विलम्ब से पहुँचने के लिए क्षमा-याचना की। लोगो ने जब सुना कि वह स्वर्गीय रामलालभाई की पुत्री और उनकी एकमात्र विरासत है, तो प्राय सभी के दिलो मे उसके प्रति प्रेम और आदर उमड आया। उसकी विनम्र निर्भीकता और उसके भाषा-सौष्ठव ने आरम्भ मे ही श्रोताओं को मुग्ध कर लिया। उसने भाषण में कहा—

"... ..हमारी सब प्रकार की उन्नति और अवनति हमारी सामाजिक अवस्था से सम्बद्ध है.

"अपने पतन के लिए दूसरों को दोष देने का हमें कोई अधिकार नही। हम स्वयं उतने ही, और उससे भी अधिक दोषी है। हमारी अशिक्षा, हमारी दरिद्रता और हमारी दासता का दुहरा और तिहरापन, सब हमारी करनी का फल है। दूसरे लोगो ने केवल हमारी दुर्बलता का लाभ उठाया है। यदि हम आज भी अपनी दुर्बलता दूर नही करेंगे तो जीवित ही न रह सकेंगे। अपने जिन पूर्वजो की कीर्ति और महानता के अभिमान में हम चूर है, वे स्वर्ग से हमें शाप देते होंगे। उनका नाम लेने योग्य भी हमने अपने-आपको नही रखा "

कुछ लोगों के दिलों पर चोट लगी। जहाँ-तहाँ फुसफुसाहट आरम्भ हो गई। एक ओर से आवाज़ आई—"सुनो ! सुनो !"

चंचला ने अपना भाषण जारी रखा—"हमारी सामाजिक और आर्थिक दासता का मूल कारण एक ही है, और वह है हमारी दुर्बलता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमने अपने-आपको दुर्बल बना रखा है। दुर्बलता ससार का सबसे बडा अपराध है। दुर्बल को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं। फिर भी यदि वह हठ करेगा, तो ससार उसका अत कर देगा और इसके लिए वह कोई प्रायश्चित्त न करेगा। . . .

"इतने कष्ट भोगते हुए भी हम अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को महसूस नही करते ....."

श्रोताओं में अशान्ति बढने लगी। स्थान-स्थान पर बातचीत होने लगी। परन्तु चंचला आगे बढ़ती ही गई—

"मै महसूस कर रही हूँ कि मेरी खरी बातें बहुत-से भाई-बहनो और बुजुर्गों को अच्छी नही लग रही है। परन्तु मै अपने सच्चे विश्वास के अनुकूल बातें कर रही हूँ। यदि मेरा विश्वास भ्रमपूर्ण निकले तो मुझे बहुत हर्ष होगा। मै पूछती हूँ, और हमारे समाज के कर्णधार अपनी छाती पर हाथ रखकर उत्तर दें कि उन्होंने अपने घर की स्त्रियों के साथ आज तक, इस क्षण तक, क्या व्यवहार किया ? उन्हे पुरुष की दासता से निकालने का, उन्हे निम्नतम स्तर से ऊपर उठाने का क्या प्रयत्न किया गया है ? और वे यह भी बतायें कि उन्होंने अपने समाज को संगठित करने का, शिक्षित करने का, उन्नत करने का क्या-क्या प्रयत्न किया है ?

"हम अस्पृश्य नहीं है, यह कहना सत्य को अगूठा दिखाना होगा, वस्तु-स्थिति से दूर भागना होगा। इस दावे में हमारा स्वार्थ और हमारी कायरता भरी हुई है। हम अकेले अपने भाग्य के चक्कर से निकल भागना चाहते है। मै सात करोड़ अभागे अस्पृश्य भाइयों को छोड़ नहीं सकती। मै उनके ही साथ डूबना और उनके ही साथ उबरना चाहती हूँ। मेरे पूज्य पिता ने मुझे यही सिखाया है। आप भी उनकी स्मृति में श्रद्धाजलियाँ चढाते है। आप भी उनका अनुकरण कीजिए।.... ."

अन्ततः उसके भाषण का प्रभाव अच्छा पडा। उसके बैठने पर मिनटों तक करतल-ध्वनि से सभामण्डप गूँजता रहा।

बहुत से लोगों को इच्छा हुई उससे मिलने की, उससे बातें करने की। उनमें जीवन अवश्य ही प्रथम था। सभी लोग सभा के समाप्त होने की बाट जोह रहे थे। परन्तु चचला सभा समाप्त होने के पूर्व ही निर्मला के साथ वहाँ से चली गई। कुछ लोग निराश हुए, कुछ ने उसका पता लगाने का निश्चय किया।

निर्मला ने चचला का व्याख्यान मुग्धता तथा आश्चर्य के साथ सुना था। ऐसा धाराप्रवाह और ओजपूर्ण भाषण वह दे सकती है, इसका उसे स्वप्न में भी ख्याल न था। उसके विचारों में भी आज निर्मला को एक नया परिवर्तन दिखलाई पड़ा। सभा में जाने के पूर्व उन दोनों के बीच जो बातें हुई थी उनमें चंचला ने इस परिवर्तन का कोई सकेत नही किया था। निर्मला उसकी

मन.स्थिति को समझने का प्रयत्न करती रहीं, परन्तु वह सफल न हुई। उसके मन में उत्सुकता की सुइयाँ बराबर चुभती रही। अन्त में जब दोनों सखियाँ भोजन आदि से निवृत्त होकर आराम के लिए लेटी तो निर्मला ने उससे कहा--

"आज तो व्याख्यान मे तुमने चमत्कार किया !"

"हॉ, मुझे भी लग रहा है कि मै खूब बोली। आज मुझे अपने अन्दर एक विलक्षण शक्ति महसूस होती थी।"

"क्यों, भला ? ऐसी क्या बात होगई थी ? तुमने बोलने का निश्चय भी तो अकस्मात् ही कर लिया था ?"

"मै जीवन की " वह हिचकिचाकर रुक गई, परन्तु तुरन्त ही अपने-आपको सँभालकर बोली—"जो सज्जन मेरे पहले बोले थे, उनकी कायरतापूर्ण बाते मुझ से सहन नही हुईं। अपनी चमडी बचाने के लिए समाज को धधकती हुई आग में छोड़कर वह अपने भाग्य पर इतरा रहे थे। स्वार्थ की, परचिन्ता-विरहित आत्मतुष्टि की भी तो सीमा होती है !"

निर्मला को यह परिवर्तन अत्यन्त हितकर प्रतीत हुआ और वह मन ही मन प्रार्थना करने लगी कि यह स्थायी हो जाय। परन्तु इसका मूल जानने उसकी इच्छा कम न हुई।

उसने अभी-अभी चचला के मुख से जीवन का नाम सुना था, उसका संकोच और उसकी मुद्रा में सूक्ष्म परिवर्तन देखा था, फिर 'जीवन' के प्रति उसका विरक्ति का भाव महसूस किया था। उसे स्मरण हुआ कि जीवन नाम ही तो उसके बाल-सखा का है। मन ही मन उसने जीवन के बारे में चंचला से अनेक बार सुनी हुई बातो से उसे मिलाया और फिर उत्सुक होकर पूछा—"क्या तुम्हारे जीवनचन्द्र महाशय यही थे ?"

चंचला इस विषय को निकालना न चाहती थी। परन्तु जब वह निकल ही गया, और उसकी खुद की गलती से निकल गया, तो उसने भरसक उसे टालने का प्रयत्न किया, परन्तु वह टल न सका। अन्त में उसने कहा—"हाँ, यही हैं वह सज्जन।"

"तो तुम उनसे सभा के बाद मिलीं क्यों नही ?"--निर्मला ने तार और लम्बा किया।

"मै उनसे कभी मिलना नहीं चाहती।"

"क्यो ? क्या कुछ झगड़ा हो गया है ?"—निर्मला ने मीठी चटकी लेने का प्रयत्न किया, परन्तु परिणाम में यह चुटकी बहुत तीखी सिद्ध हुई। चंचला आवेश से भर गई। उसका चेहरा तमतमा गया। उसने कहा—"जाने

दो इस विषय को।" परन्तु निर्मला जाने देनेवाली नहीं थी। उसने खोद-खोदकर पूछना आरम्भ किया और अन्त में चंचला को जीवन के सम्बन्ध की वे सारी बातें, जो उसने अब तक छिपा रखी थी, निर्मला से कहनी पड़ीं। उसने अपने पत्र-व्यवहार का विवरण, आचार्य का उपदेश, सेठजी से हुई बातचीत, मंगलमूर्ति के पत्र आदि की सब बातें विस्तार के साथ निर्मला को बताईं और कोई बात न छिपाने का वादा करने के बाद भी इतने दिनों तक छिपाये रखने के कारण उसे निर्मला का उलाहना सुनना पड़ा।

निर्मला को चंचला का निर्णय उचित नहीं लगा। उसने आग्रह किया कि चंचला एक बार जीवन से मिलकर व्यक्तिगत रूप से सारी बातें समझ ले। परन्तु चंचला ने स्वीकार न किया।

तीसरे दिन सभा की ओर से सहभोज और पारस्परिक परिचय का कार्यक्रम निश्चित किया गया था। चंचला ने दोनो में भाग लिया और निर्मला सखी के नाते उसके साथ रही। इस बीच जीवन ने उससे मिलने और बातचीत करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु सम्भव न हो सका। अतएव उसने चंचला के पास एक पत्र लिखकर भेज दिया, जिसमें अनेक सुकुमार वाक्यावलियों के पश्चात् लिखा था कि मेरे लिए एक दिन सुरक्षित रखना और आज सायंकाल 'ताज गार्डन' में अवश्य मिलना।

निर्मला ने हर तरह से प्रयत्न किया—चंचला को समझाया, उससे आग्रह किया, परन्तु चंचला किसी प्रकार भी जीवन से मिलने को राजी न हुई। पहले से ही दोनों सखियों ने उस संध्या को ताजमहल देखने जाने का निश्चय कर रखा था, परन्तु अब जो मालूम हुआ कि जीवन वहाँ उपस्थित रहेगा, तो चंचला ने हठपूर्वक वह कार्यक्रम बदल दिया और उसके बदले शहर में घूमने का नया कार्यक्रम निश्चित हुआ।

दोनों सखियो ने नगर के गरीब मुहल्लों में अधिक समय लगाया। लौटने में बहुत देरी हो गई। वे निर्मला के एक सम्बन्धी के घर ठहरी थी। आते ही गृह-स्वामिनी ने चंचला के नाम लिखा हुआ एक बन्द पत्र देकर कहा—एक लड़का दे गया है। उसने तुम लोगों के लौटने की बहुत प्रतीक्षा की। आखिर थककर अभी-अभी गया है। कह गया है कि सुबह ७ बजे आऊँगा। यहाँ पन्द्रह दिन ठहरने वाला है।

चंचला ने पत्र खोला। लिखा था—"मैंने ताज गार्डन में रात तक तुम्हारी प्रतीक्षा की। तुम न आईं तो बेहद निराश होकर लौट आया हूँ। मालूम होता है कि तुम अधिक जरूरी काम में व्यस्त हो गईं। मुझे भूलना

मत, अत्यन्त आवश्यक बातें करनी है। कल ७ बजे प्रात. फिर आऊँगा। आशा है, मिलोगी ...''

पत्र पढकर और समाचार सुनकर चचला के रोष की सीमा न रही। उसने पत्र निर्मला के हाथ मे देकर कहा—"यह व्यक्ति मेरे गले पड़ गया हे। मुझे बरबाद करने पर तुला हुआ है।"

निर्मला ने पत्र को पढकर उसे फिर समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। उलटे चंचला का रोष और बढा ही। उसने कहा—"कल सुबह की गाडी से हम लोग वापस चलेगे।"

"ताजमहल न देखोगी ?"

"भाग्य मे नही हे।"

"ऐसा अवसर बार-बार न मिलेगा।"

"न सही।"

"कल नही, परसों चलेगे, कल ताजमहल देख लेगे।"

"मै कल ही जाऊँगी। तुम्हे देखना हो, देखती रहना।"

निर्मला को बहुत बुरा मालूम हुआ, परन्तु हठ का कोई उपाय उसे न सूझा। वह चुप हो गई।

गाडी साढे सात बजे प्रातः रवाना होती थी। सात बजे से कुछ पहले ही वे दोनों घर से स्टेशन को रवाना हो गईं। जीवन ठीक सात बजे घर पहुँचा और जब पता चला कि चचला स्टेशन चली गई तो वह भी एक तेज इक्के पर बैठकर स्टेशन की ओर चल पडा।

इक्के का घोडा कभी धीरे चलता, तो वह इक्केवाले को डाँटने लगता। इक्केवाला कहता – बाबू, बराबर एक चाल से घोड़ा कैसे चलेगा ? परन्तु जीवन की समझ में न आता। उसने इक्केवाले को कई बार डाँटा और तब इक्केवाले ने चिढकर अपने हाथ बिलकुल ढीले कर दिये। अब घोडा मनमानी रईसी चाल से चलने लगा। जीवन ने घडी देखी। गाडी छूटने के लिए पन्द्रह मिनट शेष थे। रास्ता अभी बहुत था। उसे डर हुआ कि गाड़ी न मिल सकेगी। क्षण भर मे ही अनेक कल्पनाएँ, अनेक चित्र उसके मस्तिष्क में घूम गये। सहसा उसने इक्केवाले से कहा —"यदि तुम गाडी छूटने के १० मिनट पहले मुझे स्टेशन पहुँचा दोगे तो तुम्हे आठ आने अधिक दूँगा।" इक्केवाले ने लालच में आकर घोडे को फिर दौडाते हुए कहा—"आठ आने की क्या बात है, मालिक ! आप लोगों के सहारे पर ही तो हम जीते है। आप-जैसे राजा

लोग न हो, तो इन दो-दो, चार-चार आनो में घोडे और गिरिस्ती सबका काम कैसे चले ?"

पाँच मिनट और बीत गये। रास्ता अब भी लम्बा था। पीछे से एक अधिक तेज़ ताँगा आ रहा था। वह इक्के से उतरकर उस ताँगे पर बैठ गया।

किसी तरह वह स्टेशन पहुँचा, परन्तु उसके प्लेटफार्म पर पहुँचते ही गाडी ने सीटी दे दी। वह दौड पडा और सब डिब्बो में चचला को खोजने लगा। आख़िर वह दिखलाई दी और उसने खिडकी से पुकारा—"चचला !"

चचला ने एक बार उसकी ओर देखा और क्रोध से मुँह मोड लिया।

गाडी रवाना हो गई।

२३

पहली चोट

कॉलेज के आचार्य ने उस दिन के झगडे का जो निर्णय किया था, उससे किसी को भी सन्तोष नही हुआ।

लीला आदि ने उनके निर्णय को अन्यायपूर्ण समझा, करुणाशंकर और उसकी मण्डली ने सलाह की कि हम आचार्य को भी देख लेंगे, जीवन गम्भीर और चिन्तित हो उठा।

अपनी इसी व्यग्रता के कुछ अत्यन्त उत्कट क्षणो मे जीवन ने चचला के नाम वह पत्र लिखा था, जिसका उत्तर वनिता आश्रम के आचार्य ने दिया था और जो चंचला को कभी नही मिला। आचार्य उमापति का पत्र पाने पर उसकी व्यग्रता और भी बढ गई थी और जब कि परीक्षा निकट थी, उसका मन पढ़ने-लिखने से बिलकुल उतर गया था। फलतः परीक्षा मे वह अनुत्तीर्ण हो गया। संयोगवश लीला भी उस परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकी।

आगरे मे चंचला से न मिल सकने का एक और धक्का उसके हृदय पर लगा। और उसने उसे लगभग पागल बना दिया। स्टेशन से लौटने पर वह अनेक स्थानों के चक्कर काटता हुआ ताज गार्डन में जा पहुँचा और घंटो वहाँ बैठा हुआ तरह-तरह के विचारों में डूबा रहा। प्रात.काल के पश्चात् मध्याह्न और मध्याह्न के पश्चात् संध्या भी आ गई, परन्तु वह भूख और प्यास को भुलाये हुए वही पडा रहा। एक माली उसके आने के समय से ही उसकी चेष्टाएँ देख रहा था। सध्या को भी उसे एक स्थान पर पडा देख उसने उसके पास आकर पूछा—"बाबू, आपकी तबीयत कुछ खराब है ?"

"नहीं, क्यों ?"

"आप सुबह से यही पड़े हुए है, खाना खाने तक नही गये।'

"हाँ !"

"अब भी न जायेंगे ?"

"तुम्हे इससे क्या ?"

"कुछ नही, बाबू ! मगर बाग बन्द करने का समय हो रहा है।"

"क्या बाग शाम को बन्द हो जाता है ?"

"हमेशा तो नही होता, मगर आजकल नया हुकम आया है।"

"अच्छा, तो मै जाता हूँ।"—कहकर जीवन चल दिया।

माली खड़ा-खडा कुछ देर तक उसकी विचित्र अवस्था देखता रहा। जब वह कुछ दूर निकल गया तो उसने उसे पुकारा—"बाबूजी !"

जीवन ने पीछे देखा। माली चला आ रहा था। वह ज़रा रुक गया। माली ने निकट पहुँचकर नम्र और मधुर वाणी में कहा—"बाबूजी, मै आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ ?"

कदाचित् माली स्वभाव से ही सेवावृत्ति का था, कदाचित् वह भुक्त-भोगी था, कदाचित् वह समझता था कि ताज गार्डन मे आकर राहत प्राप्त करने वाले अगणित विरहियो जैसा एक विरही जीवन भी है। वह कुछ सस्कारी भी दीख पडा और आश्चर्य नही कि उसने अपनी लम्बी नौकरी में वहाँ आने वाले हज़ारों विरहियो में से किसी से विरह-ताप मिटाने का कोई गैबी नुस्खा प्राप्त कर रखा हो। परन्तु जीवन ने इन सब बातो पर विचार किये बिना ही रूखे स्वर में उत्तर दिया—"नही।" और वह शीघ्रता के साथ वहाँ से चला गया।

दीप जल चुके थे। नगर दूर से दीपावली का-सा दृश्य प्रस्तुत कर रहा था। परन्तु जीवन के हृदय मे सर्वत्र घना अंधकार छाया हुआ था। उसे कुछ भी सूझ न पड़ता था। लोग इधर से उधर और उधर से इधर आ-जा रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम मे व्यस्त था; परन्तु जीवन के लिए कोई काम न था। उसका मन शून्य था, उसका शरीर भी शून्य था।

उसका अन्तरतर शून्य था ? उसका मन और शरीर शून्य था ? तो फिर वह इधर कैसे जा रहा था ? उसका शरीर जवाब क्यो नही देता था ?

और, देखो, वह बराबर ठीक रास्ते पर चला जा रहा है ! वह बराबर नगर की दीपावली को देखता है, प्रकाश से जगमगाती हुई ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओ को देखता है, आने-जानेवाले पुरुषो को देखता है, और स्त्रियो को विशेष ध्यान से देखता है।

वह इक्का कितनी तेज़ी से दौड़ता चला आ रहा है ! हाय-हाय ! वह बच्चा गया ! अरे, रोक ! दुष्ट इक्केवाले ! इक्का रोक दे ! ओह ! गया बच गया ! बच गया ! धन्य भगवान् ! परन्तु जीवन खड़ा-खड़ा क्या देखता रहा ?

उसने दौडकर बच्चे को उठाया क्यो नही ? इक्केवाले को उसने आवाज क्यों नहीं दी ? ऐसे अविचारी को उसने पीट क्यो नही दिया ? उसने बच्चे की रत्ती भर भी चिन्ता नही की ! और देखो, वह कैसे निश्चिन्त, निर्विकार भाव से आगे बढा चला जा रहा है !

लो, उस आदमी से टकरा गया ! पर विचित्र व्यक्ति है, उसकी ओर देखा तक नही ! टकराकर ऐसे चल दिया, मानो कुछ हुआ ही नही !

और अब वह उस घर के सामने क्यो खडा हो गया ? शायद वही वह ठहरा है। परन्तु वह तो बाहर ही खडा है, न अन्दर जाता है, न किसी को पुकारता है ! हाँ, हाँ ! यह वही घर तो है, जिसमे चचला ठहरी थी। परन्तु वह अन्दर क्यो नही जाता ?

चल दिया। भला, अब कहाँ जायेगा ? अपने निवास-स्थान पर ? परन्तु उसका निवास-स्थान तो उस ओर है ! हाँ हाँ, रुका। अब ठीक रास्ते पर चल रहा है। परन्तु इतनी तेजी से क्यो चलने लगा ? शायद किसी भूली हुई वस्तु की याद आ गई है। पहुँच गया अपने घर के सामने।

कितना अस्त-व्यस्त पड़ा है उसका सामान ! अरे भलेमानुस ! इसे लपटकर ठीक तरह से रख तो दे ! अभी तो मुझे कई दिन रहना है। क्या ? नही रहना ? आज ही जाना है ? अभी जाना है ? मगर अभी गाडी कौन-सी है ? तेरी गाडी तो सुबह जायेगी ? फिर भी जाना है ? तू पागल तो नही हो गया ? यहाँ से ग्वालियर तक पैदल जायेगा ? अच्छा, स्टेशन पर पड़े रहना है तो जा ! समेट अपना सामान !

वह इक्का आ गया !

यह स्टेशन है !

इसी मुसाफिरखाने में तुझे रात बितानी है !

अब टहल मत, सो जा !

नही ? आखिर क्यों नही ? तू जरूर पागल हो जायगा। हाँ, पागल हो जायगा। छोड़ दूँ तुझे तेरे हाल पर ? क्या यह हो सकता है ? तू अपना काम कर, मै अपना काम करूँगा। दीवाने, होश में आ !

जीवल ने टहल-टहल कर रात काट दी। और वह सोचता रहा—चंचला ने मुझ से भेंट क्यों नही की ? वह मुझे भूल तो नही सकती। फिर क्या वह नाराज है ? परन्तु नाराज होने का कारण ? उसे कुछ गलत-फहमी तो नही हुई ? यह असम्भव है। मै बचपन से उसे जानता हूँ। गलत-फहमी के वह परे है। मै चाहता था उसे बधाई दूँ। उसने कितना सुन्दर भाषण दिया था।

मेरा उससे मतभद हो सकता है, परन्तु उसका उद्देश्य अधिक उदात्त है। उसमें न्याय और सहनशीलता है, इसीलिए उसका यह विचार है। वह अधिक ऊँची है। कहीं वह मेरे विचारो के कारण ही ता मुझसे विरक्त नही हा गई ? एक प्रकार से उसने मेरे ही भाषण की तो आलाचना की। हो सकता है। तब तो मेरा ही दोष है। नही, मै उसे दोष न दूँगा। चंचला, मै तुम्हारे सम्मुख क्षमाप्रार्थी हूँ। तुम फूलो के बीच में रहो, काटे तुम्हारे मार्ग से दूर हो जायँ।

प्रातः हुआ, वह टिकट लेने चला। परन्तु टिकट कहाँ का ले ? जायेगा कहाँ ? उज्जैन ? वहाँ तो चचला के बिना रह न सकेगा ? तो ग्वालियर ? अभी तो कॉलेज खुलने में कई दिन शेष है, वहाँ जाकर क्या होगा ?

उसने टिकट ख़रीदा। कहाँ का, सो हमें नहीं मालूम। परन्तु कॉलेज खलने के कई महीने बाद वह कॉलेज में अवश्य था।

२४

विष-व्याप्ति

उन दिनो कॉलेज के वर्तमान और पूर्व छात्रो का सम्मेलन होने वाला था। मुख्य कार्यक्रम था—भाषण, वाद-विवाद, नाटक, खेल और प्रीतिभोज। कार्यकारिणी की ओर से छात्र-छात्राओ की समितियाँ बना दी गई थी और वे सब अपनी-अपनी तैयारियाँ उत्साहपूर्वक कर रही थी।

जीवन और उसके साथी मिलकर एक नाटक की तैयारी कर रहे थे। नाटक स्वय जीवन ने लिखा था और आचार्य ने उसे पढ़कर मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशसा की। जिन लोगो ने नाटक का अभ्यास देखा था, वे अभिनय की भी सराहना करते थे। चारो ओर उसकी प्रशंसा का वातावरण था। सभी उसे रंगमच पर देखने के लिए उत्सुक हो रहे थे।

करुणाशंकर और उसकी टोली ने शतश प्रयत्न किया कि नाटक न हो पाये और जीवन तथा उसके साथियों को नीचा देखना पड़े। परन्तु उनका कोई वश न चला। तब उन्होने गन्दी अफवाहे फैलाकर ही अपने उद्देश्य को पूरा करने का प्रयत्न किया और आगे के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

अतिम दिन प्रीतिभोज के बाद नाटक का कार्यक्रम था। नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति और कॉलेज के अध्यापक तथा वर्तमान और पूर्व छात्र एकत्रित हुए थे। श्री और शोभा का मानों वहाँ कटक उतर पडा था। भाँति-भाँति के रग-बिरंगे वस्त्रो, विविध भाषाओ, विविध शिष्टाचार का अति मनोरम समुच्चय दृष्टिगत होता था। वातावरण उत्साह एवं उत्सुकता से परिपूर्ण था

घड़ी ने नव बजाये, फिर साढ़े नव। दर्शकगण यथास्थान आसीन हो गये थे। उत्कण्ठा चरमसीमा तक पहुँच गई थी, परन्तु नाटक आरम्भ होने का कोई लक्षण दिखलाई न पड़ता था। साज-सज्जा के कमरे में सब अभिनेताओ के चेहरों पर उदासी छाई हुई थी।

घड़ी ने दस बजाये। दर्शकमण्डली में कोलाहल शुरू हो गया। इधर-

उधर से सीटियाँ बजने लगीं। परन्तु पर्दा न उठा।

साढ़े दस बज गये।

मण्डल के एक कोने से पुकार उठी—"शुरू करो।" और भी कई तरह की आवाजें आईं। एक ओर कुछ छात्रों ने खड़े होकर लगातार शोर मचाना शुरू कर दिया। एक छात्र ने उन्हे समझाने का प्रयत्न किया और न मानने पर उन्हे धिक्कारा। इससे वहाँ एक खासा झगड़ा हो गया। अन्त मे आचार्य को वहाँ पहुँचकर निबटारा कराना पड़ा।

एक अध्यापक ने साज-सज्जा के कमरे में जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि यमुना और जीवन प्रीतिभोज के बाद से लापता है, और उनके बिना नाटक आरम्भ नही हो सकता। बहुत से साथी उनकी खोज में इधर-उधर दौड रहे हैं।

क्षण-भर में सब दर्शकों में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया। किसी ने कुछ सुना, किसी ने कुछ, परन्तु कोई-न-कोई बुरी बात सबने सुनी। जीवन और यमुना को प्रधान नायक-नायिका का अभिनय करना था। इस सम्बन्ध को जोड़कर मनचले और लम्बी जीभवाले लोगों ने कल्पनाओं और बातों मे यथेष्ट रस लिया।

कुछ लड़को ने आचार्य के पास जाकर कहा—"हमारे कॉलेज की बेहद बदनामी हो रही है; इसका दण्ड अवश्य मिलना चाहिए।"

एक लड़के ने कहा—"प्रीतिभोज के बाद उन्हें सयाजी बाग में देखा गया था। एक कुञ्ज में बैठे हुए थे......दो ही थे ... "

दूसरे छात्र ने कहा—"लोगों ने उन्हे मोटर पर जाते हुए देखा था......"

कोई ऐसा न था, जिसने कुछ-न-कुछ न कहा हो।

यमुना के पिता ने सुना तो उन पर गहरी चिन्ता छा गई। आचार्य और अध्यापकगण की भी यही स्थिति हुई।

विनायक और लीला से पूछा गया, तो मालूम हुआ कि वे दोनों ही भोज के पश्चात् सिर मे दर्द और चक्कर की शिकायत कर रहे थे। दोनो लगभग आधे घण्टे के अन्तर से ग़ायब हुए हैं। वे अलग-अलग कमरों में आराम कर रहे थे।

नाटक न हो सका और आचार्य ने सच्ची स्थिति बतलाकर अत्यन्त लज्जा एवं दु:ख के साथ दर्शकों को विदा कर दिया।

दूसरे दिन प्रात:काल यमुना के पिता ने उसके कमरे से कराहने की

आवाज सुनी। कमरे मे बाहर से ताला लगा हुआ था। सन्देह और आशका से उनका सिर चकरा गया। उन्होने कई बार यमुना को बुलाया, परन्तु कराह के अतिरिक्त कोई उत्तर न मिला। आवाज से उन्हे बहुत-कुछ भरोसा हो गया कि अन्दर यमुना ही है। ताला बडा था, मजबूत था, उनके पास चाबा न थी उन्होंने देखा, सब खिडकियाँ भी भीतर से बन्द थी।

ताला तोडने की तैयारी होने लगी। इसी बीच उन्होने आचार्य को बुलाने के लिए आदमी भेज दिया। आठ-दस घरो का अन्तर होता ही कितना है, ताला टूटने के पहले ही आचार्य भी आ पहुचे।

आखिर ताला टूटा और दरवाजा खुला। सबसे पहले अन्दर से भयानक दुर्गन्ध निकली। यमुना के पिता ने अन्दर जाकर जो स्थिति देखी उससे वह स्तम्भित रह गये।

दो व्यक्ति अलग-अलग बेहोश हालत मे पडे हुए थे। दोनो के वस्त्र अस्त-व्यस्त तथा गदे थे। कै और दस्त से भूमि और दोनो के शरीरो की बुरी दशा हो रही थी।

सबसे पहले डाक्टर को बुलाया गया। पडोसी भी एकत्रित हो गये। डाक्टर ने आकर कहा—"मालूम होता है, इन्हे धतूरा खिला दिया गया है।"

पडोसियो ने बताया कि आठ बजे रात के आसपास यहाँ दो बार मोटर आई थी।

इधर यह छान-बीन हो रही थी, उधर शहर में अफवाह फैलने लगी कि कॉलेज में पढ़नेवाला जीवन नाम का एक अछूत लडका अपनी प्रेमिका यमुना नाम की छात्रा के घर पर पकडा गया। दोनो नशा किये हुए थे

इस अफवाह से कॉलेज के छात्रों और छात्राओ के अभिभावको मे, और विशेषकर उनमे, जो जीवन तथा यमुना की अनुपस्थिति के कारण नाटक देखने से वंचित हुए थे, रोष छा गया। लडकियो के अभिभावको ने सोचना शुरू कर दिया कि इस कॉलेज में हमारी लडकियों की मान-प्रतिष्ठा सुरक्षित नही है। लगभग सभी अभिभावक ऐसे कॉलेज को नमस्कार कर लेने का विचार करने लगे।

इस प्रकार बात बढ़ती चली गई। कॉलेज में छात्र-छात्राओ की संख्या घटने लगी।

उधर जीवन और यमुना अस्पताल में पडे थे। उनके स्वास्थ्य-लाभ करने में कम समय नही लगा। स्वस्थ होने पर उन दोनो ने जो बयान दिया उससे इसकी अपेक्षा अधिक ज्ञान न हुआ कि प्रीतिभोज के बाद उन दोनो को

जोर से चक्कर आने लगा था, सिर में दर्द शुरू हो गया था और वे दोनों अमुक-अमुक कमरो मे जाकर लेट रहे थे। दोनों को ही कुछ धुँधला स्मरण होता था कि बाद को उनके पास कुछ गडबड़ी हुई और दो-चार व्यक्तियों ने उन्हें उठाकर किसी सवारी में बैठाया और कही छोड़ दिया। जीवन ने बताया कि बाद को मेरे पास किसी एक व्यक्ति—सम्भवतः यमुना—को लाकर डाल दिया गया। यमुना न कहा—मुझे जहाँ छोडा गया वहाँ पहले से ही कोई एक व्यक्ति—सम्भवत: जीवन—मौजूद था।

आचार्य के पूछने पर दोनो ने ही कोई बात गुप्त रूप से उनसे कही। उसका हमें ज्ञान नही।

जिन छात्र-छात्राओ का कॉलेज में आना बन्द हो गया था, उनमें से अनेक के अभिभावको ने आचार्य को रोष-भरे पत्र लिखे और उन्हें उनके महान कार्य और उत्तरदायित्व के लिए अयोग्य ठहराया।

करुणाशंकर के पिता का पत्र सबसे कठोर था। उसके बाद ही करुणा-शकर ने भी कॉलेज जाना बन्द कर दिया था।

आचार्य ने काण्ड की जाँच की, परन्तु जिन छात्रो ने कॉलेज छोड दिया था, उनमें से बहुत कम ने सत्य का अन्वेषण करने मे उन्हें सहायता दी। अधिकांश ने उत्तर भेज दिया कि हमें आपसे कोई प्रयोजन नही है। आचार्य ने अभिभावको की एक बैठक की, परन्तु उसमें भी अनेक व्यक्ति न आये, या न आ सके।

अन्त में, कोई उपाय न रह जाने पर उन्होने मामला पुलिस के हाथ में दे दिया। उन्होंने राज्य-मंत्री महोदय को भी एक गोपनीय पत्र लिखा और समाचार-पत्रों में एक वक्तव्य प्रकाशित करा दिया, जिसमें जनता से और अभि-भावको से अनुरोध किया गया था कि वे अफवाहो पर विश्वास न करें और पुलिस की जाँच के परिणाम की प्रतीक्षा करें।

जो लोग कॉलिज छोडकर चले गये थे उनमें से लगभग आधे वापस आ गये। शेष ने ऐसे भ्रष्ट कॉलेज में पढकर अपने चरित्र को कलकित करने से साफ इनकार कर दिया। ऐसे छात्रो में उच्च कुलभूषण महाशय करुणाशकर और उनके अन्य साथी प्रमुख थे।

इधर पुलिस ने बडी सरगर्मी के साथ मामले की जाँच शुरू कर दी।

एक दिन करुणाशकर के पिता राज्य-मत्री महोदय से मिलकर आये तो अपने लडके पर बेहद बरसे। परन्तु वह शेर भी अपने बाप का बेटा था। उसने एक बात का उत्तर दो बातो में दिया। अन्दर-ही-अन्दर पिता के मन

मे आग लग गई थी, परन्तु कोई वश न था। दिन भर वह उदास रहे और सायंकाल फिर उन्होने अपने इकलौते बेटे को बुलाकर प्रेम से समझाया। दुनिया की बातें बताई और उसकी स्वर्गीया माता की बार-बार दोहाई देकर उसकी कोमल भावनाओं को उकसाया। खुद रोये और उसे भी रुलाया। फलतः उन्हे कुछ आशा बँधी, कुछ धैर्य हुआ।

तीसरे दिन करुणाशकर की वर्षगाँठ के उपलक्ष्य मे एक भारी उत्सव मनाया गया। इतना बड़ा उत्सव उनके घर पिछले अनेक वर्षो में कभी नही हुआ था। नाच-गाना हुआ, दावते हुई और विशिष्ट व्यक्तियों के यहाँ डालियाँ भेजी गई। पुलिस के एक अधिकारी के घर विशेष प्रकार की डाली गई। हज़ारों का वारान्यारा हुआ।

पुलिस ने निःसन्देह बडी सरगर्मी से कॉलेज-काण्ड की जाँच की। पाँच-सात दिन बाद ही उसकी जॉच पूर्ण हो गई और उसने अपना निर्णय कॉलेज के आचार्य को सूचित कर दिया। सर्वोच्च पुलिस अधिकारी के पास से आचार्य को एक गोपनीय पत्र भी मिला, जिसमें लिखा था—"प्रमाणो के आधार पर मुकदमा न्यायालय में ले जाने योग्य नही है . यद्यपि यह क्षेत्र मेरा नही है, फिर भी व्यक्तिगत रूप से अनुरोध करता हूँ कि जीवनचन्द्र और कुमारी यमुना के विरुद्ध कठोर कार्रवाई न की जाय। मेरे ख्याल से चेतावनी-मात्र पर्याप्त होगी। फिर, आप अपने काम के लिए स्वयं उत्तरदायी है।"

२५

न हि शंकितव्य :

जीवन विनायक के घर में बैठा हुआ चाय पी रहा था। लीला, यमुना, सरस्वती तथा दो-तीन अन्य मित्र आये हुए थे। सहसा विनायक की आठ वर्षीया बहन मीना अपने दोनो हाथो में कोई वस्तु पीठ के पीछे छिपाये दौडती हुई आई और जीवन से बोली—"जीवन दादा, कुछ इनाम दो तो एक बढ़िया चीज दूँ।"

"क्या चीज दोगी, मीना ?"—जीवन ने चाय का प्याला हाथ से मेज पर रखते हुए प्यार से पूछा।

"पहले इनाम बाताओ।"

"तुम जो कहोगी वही दूँगा, बताओ।"

"नहीं, आप बताइए।"

"अच्छा, एक पैसे का गुड़ !"—जीवन ने हँसकर कहा।

मीना रूठ गई। उसने कहा—"जाइए, मै भी आपको गुड ही दूँगी।"

इस पर यमुना बोल उठी—"तो तुम ही क्यों नही बता देतीं कि क्या लोगी, मीना ?"

"नही बताती, और देती भी नही।"—कहकर मीना पीछे-पीछे भागने लगी।

जीवन ने यह देखकर कहा—"अच्छा मीना, तुम्हे खिलौना ला दूँगा।"

"मुझे खिलौना नहीं चाहिए।"—रूठे कण्ठ से मीना ने कहा।

"कहानियों की किताब ?"

"नही।"

"तो बिल्ली का बच्चा !"—और सब लोग हँस पडे।

"देखिए, आपके बड़े काम की चीज है। एक आदमी लाया था। कहता था जीवन दादा को तुरन्त दे देना। ठीक-ठीक इनाम बताइए, नही तो यह

चली ।"—और वह अधिकाधिक पीछे सरकती गई और दरवाजे के पास पहुँच गई ।

अब जीवन की उत्सुकता बढ गई । उसन कहा—"देखा, रानी, दे दो । इनाम तो तुम जो कहोगी सो ही मिल जायेगा ।"

"अच्छा, तो मै ड्राइंग के रग की डिब्बी लूंगी, अच्छीवाली, और ब्रश भी लूँगी ।"

"बस, इतनी सी चीज ? यह तो मै अभी ला दूँगा । दे दो क्या चीज है ?"

"अभी ठहरिए, यमुना बहन से भी लेना है । उसने उनको भी देने को कहा था ।"

इतने में लीला डाँटकर बोल उठी—"देती क्यों नहीं है ? बडी आई, इनाम लेनेवाली !"

मीना का मुँह उतर गया । उसने कहा—"आप क्यो बोलती है !"

इस पर लीला उससे वह चीज छीनने के लिए झपट पडी । यमुना ने बीच ही में उसे रोककर मीना से प्यार के साथ कहा—"मै तुम्हे ड्राइंग की कापी ला दूंगी, मीना, दे दो !"

मीना प्रसन्न हो गई, फिर भी अभी प्रसनन्ता पूर्ण नही हुई थी । उसने कहा—"हाँ, अच्छी-सी कापी लाइएगा । अब आप सब लोग अपनी-अपनी आँख मूँदिये ।"

लीला ने कहा--"सब लोग क्यो मूँदें ? मै नहीं मूँदूँगी ।"

"मत मूँदिए । आपको कौन देता है ?"

यमुना, जीवन तथा अन्य लोगों ने आँखें मूँदने का ढोग किया । मीना एक-एक पैर आगे बढाती हुई और बार-बार आँखें न खोलने की चेतावनी देती हुई मेज तक आई और कुछ चीज रखकर ज्यों ही भागने लगी त्यो ही यमुना ने लपककर उसे पकड लिया और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी । यमुना ने उसे गोद में लेकर गुदगुदा दिया । और थोड़ी देर के लिए हँसी का समा बँध गया ।

इसी बीच जीवन ने देखा, मेज पर एक समाचार पत्र पडा था । उसने उठा लिया और जैसे ही पहला पृष्ठ खोलकर देखा, उसका हृदय धडकने लगा । वह पत्र को विनायक के हाथ में देकर कुर्सी की पीठ से टिक गया ।

विनायक ने पत्र देखा तो वह भी उदास हो गया । यमुना से न रहा गया । वह पूछ बैठी—"क्यो भाई, क्या बात है ? खैर तो है ?"

विनायक ने पत्र उसकी ओर सरका दिया । उसे देखकर यमुना का

चेहरा तमतमा उठा । उसके मुँह से निकल पड़ा—"नीच !"

सबको उत्सुकता हुई और सरस्वती ने पत्र को लेकर जोर से पढ दिया । बड़े-बड़े अक्षरों में शीर्षक था--"कॉलेज मे घृणित प्रेम-लीला . युवक-युवती बन्द कमरे में पकड़े गये ।" और समाचार था—

"छात्र सम्मेलन के समय एक स्थानीय कॉलेज में जो प्रेम-काण्ड हुआ था, उसकी जॉच पुलिस ने पूर्ण कर ली है । विश्वस्त रूप से ज्ञात हुआ है कि पुलिस उस काण्ड के सम्बन्ध मे अत्यन्त सनसनीखेज निर्णय पर पहुँची है । उसने कॉलेज के अधिकारियो को अपना जो निर्णय सूचित किया है, उसके शब्द ये है—'साक्षियो तथा परिस्थितियों से स्पष्ट है कि जीवनचन्द्र ने कुमारी यमुना को अपने जाल में फँसाने का षड्यत्र रचा था, जिसमें उसे कुछ हद तक सफलता भी मिली ।' आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस आधुनिक 'लैला-मजनू' काण्ड पर पूर्ण प्रकाश पडेगा ।"

उपस्थित मण्डली में अत्यन्त आवेशपूर्ण चर्चा हुई और यमुना ने उसमें दिल भर कर भाग लिया । जीवन निर्वाक् बैठा हुआ सब-कुछ सुनता और गुनता रहा । जब कोई उससे कुछ कहता या पूछता तो वह 'हाँ-हूँ' कहकर टाल देता । उसका मन बेचैन था, परन्तु उसमें क्रोध था या दु:ख, इसका निर्णय करने के लिए उसके भावी रुख को देखना आवश्यक था ।

एकाएक उसने विनायक से कहा—"मै जा रहा हूँ ।" और बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये वह उठ खडा हुआ और बाहर निकल गया । विनायक भी उसके साथ हो लिया और उस समय की वह छोटी-सी मित्र-सभा विसर्जित हो गई । बेचारी मीना खिन्न और निराश होकर चुपके से अन्दर चली गई ।

छुट्टी का दिन था, दोनों को अवकाश था, अतः दोनो एक ओर चले, और चलते ही गये ।

विनायक ने शान्ति भग की—"क्या अब भी तुम्हे सन्देह है ?"

"मै सोचता हूँ, वह मुझसे क्यों शत्रुता करेगा ?"—जीवन ने गम्भीरता से उत्तर दिया ।

"ईर्ष्या, द्वेष, दुष्ट स्वभाव, ये क्या कम कारण है ?"

"मै नहीं मानता कि वह इतना नीच है ।"

"तुम तो पहले कोई भी बात नही मानते । जब भोगना पडता है तब सब कुछ मान लेते हो ।"

"तुम कहना क्या चाहते हो ?"

"यही कि, 'शठ प्रति शाठ्य' का सिद्धान्त स्वीकार करके मुँह-तोड उत्तर दो।"

"परन्तु शठता किसकी है, सो तो सिद्ध हो। इसके पहले उत्तर देने का प्रश्न कैसे उठ सकता है ?"

"तो हाथ पर हाथ रखे बैठे रहो और अपने साथ तीन लडकियो का जीवन भी नष्ट करा दो।"

"मैने तो तुमसे कितनी बार कहा कि मुझे सब लोग अकेला छोड़ दो।"

"तुम्हारे अलग होने से लाभ क्या ? उनकी दृष्टि तो लडकियो पर है। तुम लडकियो की सहायता करके उनकी दुष्ट इच्छाओ का विरोध करते हो, इसलिए वे तुम्हारे विरुद्ध है। तुम दूर हो जाओगे तो उनका मार्ग साफ हो जायेगा। वे इन लडकियो का जीवन दूभर कर देगे। करुणाशकर के पास धन है और धन-लोलुप, नीच प्रवृत्ति का जन-बल भी है।"

"कुछ भी हो, मै वैसी नीचता तो नही कर सकता।"

"तो तुम ससार मे कुछ भी नही कर सकते।"

"यदि सारी दुनिया नीचता के ही वश में रहती है तो मै उसे छोड़ देना पसन्द करूँगा।"

"परन्तु दुनिया ऐसी नही है, जैसी तुम उसे समझ रहे हो।"

"मै तुम्हारा तत्त्वज्ञान नही समझता। मुझे तो सीधी-सादी बातें दिखलाई देती हैं। मै आज सुख से, सिर ऊँचा करके रहना चाहता हूँ, कल की कल देख लूँगा।"

"तो क्या कोई दूसरा मार्ग है ही नही ?"

"तुम बताओ। मुझे तो नही सूझता।"

"एक बार करुणाशकर से मिलकर साफ-साफ बातें क्यों न की जायँ ?"

"मै उसके पास जाकर अपना अपमान कराना नही चाहता। न तुमको ही जाने दूँगा।"

"यह तो हठधर्मी है।"

"मै हठधर्मी का अभ्यस्त नही हूँ; परन्तु मुझे तुम्हारी यह योजना उचित नही जँचती।"

"अच्छा किसी तीसरे व्यक्ति से सलाह करें। वह जैसा कहे वैसा ही किया जाय।"

"किससे ?"

"यदि आचार्य से सलाह ली जाय तो कैसा हो ?"

"कदापि नहीं। वह अपने कॉलेज के हिताहित का ख्याल पहले करेंगे। याद नहीं है, पहले झगड़े में उन्होंने हमारे साथ क्या व्यवहार किया था?"

"तो फिर श्रीकृष्णभाई के पास चलें?"

"हाँ, यह ठीक होगा। वह आज यहाँ आये भी हैं।"

"तो तय रहा दुपहर को उनके पास चलेंगे।"

दोनों मित्र वापस घर चले गये।

श्रीकृष्णभाई को सेठ गंगाप्रसाद का जो पत्र मिला था उसका उत्तर उन्होने तुरन्त दे दिया था कि जब कभी मैं ग्वालियर जाऊँगा, जीवन के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करके भेज दूंगा। अब जो उन्हें ग्वालियर आने का अवसर मिला तो उन्होंने उस काम को भी स्मरण रखा।

जीवन से वे उज्जैन में अनेक बार मिल चुके थे और उसने उनके मन पर अपनी बहुत अच्छी छाप डाली थी। उन्होने उससे मन-ही-मन अनेक प्रकार की आशाएँ बाँध रखी थी। परन्तु उस दिन प्रातःकाल के पत्र में उन्होंने जो वह समाचार देखा तो चकित रह गये। उन्हे सहसा उस समाचार पर विश्वास तो नहीं हुआ, परन्तु वह शका में डाल देने के लिए पर्याप्त था। और जब उन्हें स्मरण हुआ कि सेठ गगाप्रसाद भी उसके बारे में दिलचस्पी रखते हैं तो वह सबसे पहले उस पत्र के सम्पादक के पास, जो उनके परिचित थे, गये। जाँच करने पर मालूम हुआ कि वह समाचार एक महाशय मौखिक रूप से दे गये थे और प्रकाशित होने के पूर्व सम्पादक उसे देख नही सके। कल जब उन्होंने उसे पत्र में देखा तो अनेक कारणों से वह उन्हे पसन्द नही आया। उन्होने उसके लिए जिम्मेवार उपसम्पादक को, जो हाल ही में कॉलेज छोडकर पत्र की नौकरी में आया था और जिसकी बड़े-बड़े लोगों ने सिफारिशें की थी, कठोर दण्ड देने का निश्चय किया है। समाचार की सचाई के विषय में सम्पादक महाशय कोई आश्वासन नही दे सके।

सम्पादक महाशय की सलाह से श्रीकृष्णभाई उन्हे साथ लेकर कॉलेज के आचार्य के पास गये। आचार्य ने व्यक्तिगत रूप से उन्हें पुलिस के दोनों पत्र दिखला दिये और अपना मत व्यक्त करते हुए बताया कि मै जीवन और यमुना को बहुत अच्छी दृष्टि से देखता हूँ। उन्होंने यह भी कहा कि मै दोनो को प्रेम और सहानुभूति से समझा देने के अलावा कोई कार्रवाई न करूँगा। पत्र के प्रकाशित होने के सम्बन्ध में उन्होने आश्चर्य व्यक्त किया।

दुपहर को जीवन और विनायक श्रीकृष्णभाई के पास पहुँचे तो उन्हें

बहुत प्रसन्नता हुई। वह स्वय जीवन से मिलना चाहते थे। जीवन के आ जाने से उनका कार्य सरल हो गया।

जीवन ने अपनी सारी कहानी उन्हे सुनाकर उनकी सलाह माँगी। श्रीकृष्णभाई ने थोडा-सा सौम्य उपदेश देकर कहा—"अभी कुछ समय तुम्हे चुप रहना चाहिए। यह बाबेला आप ही शान्त हो जायेगा। तुम सन्मार्ग पर चलते रहो। बुराई करनेवालो की ओर बिल्कुल ध्यान न दो। बुराई का प्रतिकार न करने के सिद्धान्त की परीक्षा करके देखो।"

जीवन और विनायक को मानो डूबते हुए सहारा मिल गया। वे सन्तुष्ट होकर लौट आये।

इधर श्रीकृष्णभाई ने सेठ गगाप्रसाद को लिख दिया—"जहाँ तक मै समझ सका हूँ, जीवन अत्यन्त शुद्ध और उदात्त चरित्र का युवक है। साथ पढनेवाली कुछ बालिकाओ से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ अवश्य है, परन्तु वे सब भी बहुत चरित्रवान् बालिकाएँ है। कॉलेज के कुछ उपद्रवी लडको के उत्पातो से वह उन बालिकाओ की रक्षा करता है; इसलिए कुछ मनचले और उद्धत छात्र, जिनका नेता एक रईस का बिगडा हुआ लडका है, उससे रुष्ट है। उन्होने कई बार उसे सताया और डरा-धमकाकर उन लडकियो से अलग करने का प्रयत्न किया। इसमें सफल नही हुए तो नीचता पर उतर आये है . "

इसके पश्चात् उन्होने दोनो घटनाओ का वर्णन करते हुए लिखा—"कॉलेज के आचार्य ने मुझे बताया कि वह गत वर्ष से कुछ उद्विग्न रहता है और कलाओ की शरण में शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया करता है। कलाओ मे, विशेषत. काव्य में, इसने बहुत प्रगति की है, परन्तु दूसरे विषयो की उपेक्षा कर गया है। इसीलिए परीक्षा मे उत्तीर्ण नही हो सका

"परिस्थितियों से उसके चरित्र पर—कम-से-कम उसकी मनोवृत्ति पर—शका करने की बहुत गुजाइश है और असावधान व्यक्ति अवश्य भ्रम में पड़ सकता है। परन्तु मुझे कोई सन्देह नही है . "

श्रीकृष्णभाई का यह पत्र जिस दिन सेठ गगाप्रसाद को मिला उसी दिन स्वामी अभयानन्द का उत्तर भी प्राप्त हो गया। उन्होने कलकत्ते में अध्यापक का काम करनेवाले अपने एक ब्राह्मण शिष्य की सिफारिश की थी। सेठजी ने उसके सम्बन्ध में भी जाँच-पड़ताल शुरू कर दी।

२६

दुर्भाग्य

उस दिन आगरा स्टेशन पर जीवन की थोडी-सी झलक दिखलाई दी थी, उसकी एक पुकार कानो मे पडी थी और चचला ने अपने दानो कान हाथो से ढककर मुह मोड लिया था। गाड़ी चल दी और आगरे की सब वस्तुएँ दूर होने लगी। निर्मला को चचला का यह व्यवहार अभद्र और अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ। उसने सात्त्विक रोष के साथ कहा—

"प्रत्येक वस्तु की सीमा होती है, परन्तु तुम्हारी हठ की कोई सीमा नही है।"

चचला ने खिड़की से बाहर सिर निकालकर देखा। आगरा स्टेशन दूर निकल गया था। अब वहाँ के किसी व्यक्ति को देखकर पहचाना नहीं जा सकता था। वहाँ से आनेवाली कोई आवाज़ उसके कानो में नही पड सकती थी। उसने एक बार निर्मला की ओर देखा और फिर स्टेशन की ओर देखती-देखती बोली—"तुम यदि मेरे हृदय को देख सकती, निर्मला, तो ऐसा कहने की आवश्यकता महसूस न करती।" और बरबस उसके अन्दर से एक गहरी साँस निकल पडी।

निर्मला ने हताश-भाव से कहा—"ऐसा कौन-सा गूढ रहस्य तुम्हारे हृदय में छिपा है, जो शब्दो में बिल्कुल ही नही उतरता?"

"मै तुम से जो कुछ बता चुकी हूँ उससे अधिक मे स्वय नही जानती। परन्तु इतना कह सकती हूँ कि उसके लिए मेरे हृदय में असीम प्रेम था, और आज मै महसूस करती हूँ कि किसी ने अन्दर हथौड़ियाँ चलाकर सब-कुछ तोड़ दिया है।"

"परन्तु क्या तुम्हारा महसूस करना गलत नही हो सकता?"

'शायद हो सकता है।'

"फिर स्थिति को साफ करने का जो अवसर तुम्हें अनायास ही मिल

गया था, उसे इतनी बेदर्दी के साथ तुमने क्यों ठुकरा दिया ?"

"मै और कुछ कर ही नही सकी।"

"यह बात व्यर्थ है। मैंने तुम्हें समय पर समझाया था। तुम चाहती तो सब-कुछ कर सकती थी। तुमने पसन्द नही किया।"

रेलगाडी धडधडाती हुई चली जा रही थी। आगरा लगातार दूर होता जा रहा था, और वैसे ही जीवन भी। परन्तु क्या चचला के मन मे इसका खेद था, पछतावा था ? उसने उत्तर दिया—"इसीलिए मै कहती हूँ कि तुम मेरे हृदय को नही जानती।"

"खैर, जाने दो। परन्तु, अब भी स्थिति को सुधारने के लिए तैयार हो ?"

"यह असम्भव है। आखिर अभी नई स्थिति क्या उत्पन्न हो गई ?"

"तुम केवल अनुमति दो। मै सब-कुछ कर लूँगी।"

"मै अपनी ओर से कोई आश्वासन नही दे सकती, परन्तु तुम्हें रोकूँगी नही।"

"तो हम टुँडला में उतर जायँ और एक-दो दिन के लिए ग्वालियर चलें। मै सब ठीक कर लूँगी।"

"ग्वालियर मे कौन है ?"

"वह वातारण है, जिसमें जीवन रहता है। वे लोग है, जिनके बीच उसकी जिन्दगी कटती है। और हम उसे भी बुला लेंगी।

"मुझे बीच मे नही डालना होगा।"

"स्वीकार। परन्तु तुम सब सुनोगी तो ? सलाह तो दोगी ?"

"सम्भव हुआ तो। और वहाँ ठहरना कहाँ होगा ?"

"मेरे एक सम्बन्धी है।"

"मै किसी के घर मे न ठहरूँगी।"

"तो धर्मशाला में ठहर जायंगे।"

प्रत्येक स्टेशन पर ठहरती हुई और अनेक गाडियों को राह देती हुई पैसेंजर गाड़ी धीरे-धीरे ग्वालियर पहुँच गई। दोनों सखियाँ एक धर्मशाला में जा ठहरीं और प्रातःकाल, सबसे पहले, निर्मला ने जीवन को यह तार भेज दिया—"पहली गाड़ी से जरूर-जरूर आइए ....निर्मला-चंचला।"

निर्मला जब तार लिख रही थी उस समय चचला सोच रही थी कि क्या यह उचित हो रहा है ? और जब उसने तार का फार्म बाबू के हाथ में दिया तो चंचला के मन में प्रश्न उठा—"क्या यह अनधिकार चेष्टा और बल-प्रयोग नही है ?"

और तार देकर निर्मला ने कहा—"घण्टे-दो-घण्टे मे जीवन को मिल जायेगा। वह रात की गाडी से आ जायेगा।"

चंचला अपने विचारो में डूबी हुई थी। उसने यत्रवत् कह दिया—"हाँ!"

दिन-भर दोनो सखियो ने घूम-घूमकर ग्वालियर नगर देखा। निर्मला नगर से परिचित थी, अतः वह अनेक स्थानो तथा प्रासादो का परिचय देती जाती थी। परन्तु चचला के मन में इस सब की ओर आज कोई आकर्षण नहीं था। जिस व्यक्ति से मिलना टालने के लिए उसने ताजमहल जैसी अनुपम कलाकृति को देखने से इनकार कर दिया, उसी की प्रतीक्षा में अब ग्वालियर के अकिञ्चन स्थानो को देखना उसे विडम्बनामय मालूम होता था। उसका सारा ध्यान इस एक गुत्थी को सुलझाने में लगा हुआ था कि मैंने निर्मला का आग्रह मानकर वह पीडाप्रद कार्रवाई करना क्यो स्वीकार कर लिया? जिसे मैंने इतनी नीची निगाह से देखा है उसे ही आमत्रित करके उससे जीवन की अत्यन्त मर्मपूर्व बातें कैसे कर सकूँगी?

निर्मला ने उसके उद्देश्य को ताड लिया और उसे बहलाने के प्रयत्न किये। किसी तरह सफल न होने पर वह उसे ठहरने के स्थान पर ले आई। शेष समय वहीं कटा। जब रेलगाड़ी का थोड़ा ही समय रह गया तो निर्मला ने प्रस्ताव किया कि स्टेशन पर जाकर गाड़ी देख आयें।

चचला को यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द न आया। उसने किंचित् त्वेष के साथ कहा—"यह नही हो सकता। दो बजे रात को मै स्टेशन नही जाऊँगी।"

"तो उसे मालूम कैसे होगा कि हम कहाँ है?"

"हो या न हो। मै नही जाऊँगी। मुझे सोने दो।"

"दीवानी मत बनो, चचला! जरा सोचकर काम करो।"

चचला तैश मे आ गई। उसने कहा—"तो तुमने मुझे दिन-रात परेशान करने के लिए ही यह सब किया था?"

"जो काम करना ही है उसमें परेशानियो का ख्याल नही किया जाता।"

"तुम अकेली ही क्यो नही चली जाती?"

"इतनी रात को मेरा अकेला जाना ठीक होगा? और यदि चली भी जाऊँ तो उसे पहचानूँगी कैसे? मैने तो उसे केवल एक बार उसी सभा में देखा है, उसने मुझे देखा भी नहीं।"

"अच्छा चलो, बाबा ! तुम्हारी ही इच्छा पूरी हो।"—कहकर चंचला उठ बैठी।

गाडी जैसे ही स्टेशन के अन्दर आई, चचला का हृदय धडकने लगा। वह बैठ जाना चाहती थी; परन्तु निर्मला जल्दी-जल्दी चलकर हर एक डिब्बे को देखने लगी, अतएव उसे भी उसके साथ चलना पडा। तथापि उसका ध्यान व्यक्तियो के चेहरों की ओर नही था। हाँ, बीच-बीच में वह किसी-किसी व्यक्ति को देखकर चोक अवश्य पडती थी। शायद उसे बार-बार जीवन का भ्रम होता था। शायद उसमे उसके सामने होने की हिम्मत ही नही थी। शायद ...

सारी गाडी देख डाली गई, परन्तु जीवन कही भी दिखलाई न पडा। निर्मला शीघ्रतापूर्वक फाटक पर पहुँची और समस्त यात्रियो पर ध्यानपूर्वक दृष्टि फैलाने लगी। उनमे भी जीवन दिखलाई न पडा। तब उसने ताँगो पर दृष्टि दौडाई। एक बार उसे कुछ आशा हुई, परन्तु वह भ्रम सिद्ध हुई। निराश होकर उसने चचला से कहा—"मालूम होता हे, नही आ सका।"

चचला ने कोई उत्तर नही दिया।

निर्मला ने पूछा—"तुमने ठीक तरह से देखा ?"

'मै कुछ नही जानती।"—चचला ने रूठे हुए स्वर मे उत्तर दे दिया।

निर्मला चुप हो गई। दोनो अपने स्थान को लौट आईं, और शायद सो गईं। प्रात काल फिर निर्मला ने चचला को स्टेशन जाने के लिए तैयार किया और वह अनमनी होकर, कुछ रुष्ट होकर उसके साथ हो ली। रात के समान सारी गाडी देखी गई, इक्के-ताँगे देखे गये, परन्तु जीवन न मिला। लौटते समय दोनो का मन भारी था। दोनो शिथिल थी। चंचला ने रास्ते में केवल एक वाक्य कहा—"व्यर्थ परेशान होती हो, और मुझे भी परेशान करती हो। समझती हो, पुरुषों के हृदय भी स्त्रियों के समान कोमल होते है !"

निर्मला क्या उत्तर देती ? यहाँ तो उसे चचला की ही कठोरता का परिचय मिला था। और क्या चचला ने भी यह बात सोच-विचार कर कही होगी ?

आशा विलक्षण वस्तु है। वह मनुष्य को अधा बना देती है। बार-बार निराश होने पर भी वे दोनो दो दिन तक ग्वालियर में पड़ी रही और उन्होंने आगरे से आनेवाली प्रत्येक गाडी देखी, परन्तु अन्त तक जीवन उन्हे न मिला। कोई कारण नही था कि वह उन दोनो का तार पाकर तुरन्त न आता। उन्होंने

शहर के खूब चक्कर काटे, शायद आ गया हो, कही दिखलाई पड़ जाय ! अन्त में वे ग्वालियर से रवाना हो गईं।

चलते-चलते चचला ने कहा—"इतना अपमान सहने की मैं अभ्यस्त नही हूँ, निर्मला !"

निर्मला ने कोई उत्तर नहीं दिया।

गाडी सीटी देकर और ग्वालियर को पीछे छोड़कर चल दी। बाहर सूर्य असह्य वेग से तप रहा था। गर्म हवा गाडी की खिडकियो से अन्दर घुसकर यात्रियों को झुलसा रही थी। अन्दर, चचला के हृदय में भी, कुछ वैसा ही ताप था। बाहर की खिडकियाँ बन्द करने से उमस होती थी, हृदय की खिड़कियाँ बन्द हो ही नही सकती थी। वह व्यग्र थी—इतना अपमान ! इतनी उपेक्षा ! क्या यह वही जीवन है, जो मेरे बिना जीना ही नही चाहता था ? कितना पाखण्ड, कितना कपट ! क्या ऐसे व्यक्ति से मै कभी मिल सकती हूँ ?

परन्तु .. . कही ऐसा तो नहीं हुआ कि उसे तार मिला ही न हो ! नही, वह आया ही नही।

आया ही नहीं ? मैंने तो उसे ठीक तरह से गाड़ियो में देखा नही ! सम्भव है निर्मला पहचान न सकी हो ! वह आया हो और हमारा पता न लगा सका हो ! हो सकता है, वह हमारा पता लगाने में अब भी परेशान हो !

परेशान हो ? हाँ, हो क्यों नही सकता ? आखिर उसने तो अपनी ओर से मुझ से मिलने का कोई प्रयत्न उठा नही रखा। तीन-तीन बार वह मुझ से मिलने आया। स्टेशन पर भी भागा हुआ आया। कितना उत्सुक, कितना व्यग्र था वह ! मैंने ही तो उसके साथ अन्याय किया !

मैंने अन्याय किया ? नि.सन्देह मैंने अन्याय किया। मैंने उसे कितना टाला ! उससे न मिलने के लिए मैंने ताजमहल नहीं देखा। उससे भेंट न हो, इसीलिए आगरे से चल दी। फिर भी वह बराबर मुझ से मिलने का प्रयत्न करता रहा। स्टेशन पर तो मैंने अपनी क्रूरता की हद कर दी !

क्रूरता की हद कर दी ? हाँ, क्रूरता की हद कर दी ! फिर यदि वह भी रुष्ट हो गया हो तो इसमें उसका क्या दोष ? आदमी कहाँ तक सह सकता है !

सम्पूर्ण यात्रा इसी ऊहापोह मे कटी।

२७

भवितव्य ?

आश्रम में लौटने पर चचला अपने कलामण्डल, सेवा-कार्य और अध्ययन मे व्यस्त हो गई। धीरे-धीरे उसकी सखियों की सख्या भी बढने लगी। प्रति वर्ष के समान इस वर्ष भी अनेक नई छात्राएँ आई और पुरानी चली गई थी। अब चंचला सबसे बडी छात्राओ मे शामिल थी। उसकी मान-मर्यादा पहले से बहुत बढ गई थी। शिक्षक-शिक्षिकाओ के लिए भी वह अनिवार्यप्राय हो गई थी।

चंचला इस परिवर्तन से प्रसन्न थी। परन्तु जब से वह झूले से गिरी, उसकी निद्रा में कमी हो गई थी। वह बहुधा भयानक स्वप्न देखती और उनका प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर पडता था। अतएव उसकी चिकित्सा जारी रही। उसे अकेली न रखने के उद्देश्य से निर्मला को उसके कमरे में रख दिया गया।

एक दिन सोती-सोती चचला बहुत ज़ोर से चीख उठी—'बचाओ! बचाओ!" निर्मला जाग पडी और उसने देखा कि चचला अपने बिस्तर पर बैठी काँप रही है। निर्मला ने पास जाकर उसके शरीर पर हाथ फेरा और पूछा, क्या हुआ ? चंचला ने बताया कि उसने एक बहुत डरावना स्वप्न देखा। स्वप्न को याद कर-कर के उसने कहा—

"मैने देखा, मेरा विवाह हो रहा है। खूब धूमधाम है। काकाजी, महात्माजी, अम्मा, बापू, सब उपस्थित हैं। मै कहती हूँ, विवाह न करूँगी। रोती हूँ, अनुनय-विनय करती हूँ, पर कोई नही सुनता। आखिर विवाह हो गया। मं अपने पति के घर चली गई। रात को मै नदी-तालाब में डूब मरने के लिए खिड़की से कूदकर भागने के लिए तैयार होती हूँ; पर जब खिड़की के पास पहुँचती हूँ तो वहाँ जीवन खड़ा हुआ मिलता है। उसके हाथ में एक रस्सी और एक बड़ा छुरा है। उसका चेहरा विकृत और भयकर हो रहा है। उसने मुझ से कहा—तुमने मुझे धोखा दिया है, मै बदला लेने आया हूँ। मै

डर गई। निकल भागने की सारी इच्छा मिट गई। मैने उससे विनतियाँ की। उसने उत्तर दिया—तुम्हारी कोई कला आज काम न आयेगी, मै अवश्य बदला लूँगा। मने देखा, उसके कपड़े खून से तर है, उसके छुरे में भी खून लगा है। मै भयभीत हो गई। उसने मेरा हाथ पकड लिया और छुरा उठाकर जोर से हँसा। पर मैं चीख उठी "

निर्मला ने उसे समझाकर सुला दिया और स्वय भी उसी के साथ सो गई। सुबह उठने पर चचला का चेहरा मुरझाया हुआ और पीला था—मानो वह कई दिनो से बीमार हो।

उस दिन से वह लगभग रोज ही भयकर स्वप्न देखने लगी और निर्मला का उसके साथ सोना आवश्यक हो गया।

पहले दिन के स्वप्न के बाद जब कभी मौका आता, निर्मला चचला से विनोद करती हुई कह उठती—"बुलाऊँ छुरे वाले को ?"

और चचला रूठकर कहती—"यह अच्छी बात नही है, निर्मला !"

होते-होते बात यहाँ तक बढ़ गई कि यदि निर्मला के मुँह से 'बु' या 'छु' भी निकल जाता तो चचला तिनक उठती। और 'बु छु' निर्मला का तकिया कलाम बन गया। एक दिन 'बु छु' की ध्वनि एक विनोदप्रिय शिक्षक के कानो पर पडी, तो उन्होंने सशोधन करके, विस्तृत भाष्य के साथ, उसे 'बिच्छू' का रूप दे दिया। यह उपाधि इतनी लोकप्रिय हुई कि सभी शिक्षक प्रेम-रोष के अवसर पर उसे 'बिच्छू' कह उठते। बाद को 'बिच्छुओ' की एक टोली का ही आविर्भाव हो गया।

चचला इस अभिधान से तिनकती, रूठती अवश्य, परन्तु वह महसूस करती थी कि इस शब्द के अन्दर शिक्षक-शिक्षिकाओ का कितना प्रेम भरा हुआ है। अतएव उसके रूठने में गुदगुदी निहित होती।

निर्मला से उसका प्रेम लगातार बढ़ता गया। अब वह सदैव उसके साथ ही सोती। पहले जब वह रात को कोई स्वप्न देखती, तो निर्मला से चिपट जाया करती थी। निर्मला उसे सहारा देती थी। धीरे-धीरे इस क्रम में प्रगति हुई। अब वह सोने के पहले ही उससे चिपट जाने लगी, स्वप्न देखने पर उसे बाहुपाश में भरकर सारी शक्ति से दबा लेती है।

एक दिन निर्मला ने कहा कि तुम बड़े मजेदार स्वप्न देखती हो। किसी एक स्वप्न को चित्रो में अकित करो। चचला को यह प्रस्ताव अच्छा लगा और कई दिनो के परिश्रम से उसने एक लम्बी चित्र-मालिका तैयार कर ली। इसमें यह स्वप्न चित्रित किया गया था—

"एक हरा-भरा और मनोरम बन। उसमें चचला की कुटिया। अनेक हरिजन बच्चे उसके पास पढ रहे है। एक सुन्दर हिरनी अपने छोटे-से बच्चे के साथ उसके पास बैठी है। बच्चा चचला की गोद मे मुँह रखे हे और चचला उसे सहला रही हे। चचला ने देखा, एक शिकारी हिरनी पर बन्दूक का निशाना लगा रहा है। चचला हिरनी पर हाथ रखकर पुकार उठती हे—मारो मत! मारो मत! शिकारी उसके पास आ जाता है। उसकी सूरत भयकर हे, उसकी आँखो मे क्रूरता और हत्या खेल रही है। वह कहता है, हट जाओ! मै इसे जरूर मारूँगा! चचला हिरनी को अपने पीछे छिपा लेती हे। शिकारी उसे धक्का देकर गिरा देता हे और उसकी छाती पर चढकर उसका गला दबाने लगता हे। चचला चीख उठती हे—बचाओ! बचाओ!"

निर्मला ने माला का पहला पटल देखा और बोली—"आँखे बडी-बड़ी और मुँह टेढा कर देने से ही क्या शिकारी का रूप भयकर हो गया?"

"वाह! तुम्हे भयकर दीखता ही नही!" चचला ने मन्दस्मित के साथ उत्तर दिया।

निर्मला ने दूसरा पटल देखा और कहा—"इसमे तो शिकारी का चेहरा बिल्कुल परिचित-सा मालूम होता हे!"

"पडा होगा कोई मौका तुम्हे!"—चचला ने विनोद-व्यग से कहा।

निर्मला ने हँसते हुए तीसरा पटल खोला और कुछ चौककर और फिर हँसकर कहा—"अरे! यहाँ तो तुमने जीवन का ही चित्र बना दिया है!"

"हटो! बकती हो!"

"बकती नही, सच कहती हूँ। किसी से भी पूछ लो। मै तो शुरू से ही कह रही थी कि चेहरा परिचित-सा मालूम होता है!"

"अच्छा, रहने दो। आगे देखो।"

"नहीं, मै पिछले चित्र फिर देखूँगी" कहकर निर्मला उन्हे फिर देख गई और बोली, "मुझे तनिक भी सन्देह नही, तुम आरम्भ से ही उसी का चित्र बनाने का प्रयत्न करती रही हो।"

"अपनी समालोचना रहने दो, आगे देखो।"—कहते हुए चचला ने पटल उलट दिया।

निर्मला ने पूरी मालिका देख डाली। उसे बहुत अच्छी लगी। परन्तु शिकारी की जगह जीवन का चित्र बनाया गया था, इसमें उसे कोई शंका नहीं रही।

उसने कहा—"चित्र बहुत सुन्दर है, परन्तु शिकारी के स्थान पर जीवन का चित्र बनाकर तुमने अन्याय किया है।"

चचला ने उत्तर दिया—"इसमे किसी के प्रति न्याय-अन्याय क्या ? मान लो उसका ही चित्र है, तो क्या मैंने जान-बूझकर बनाया है ?"

"यह चित्र मुझे दे दो। मै आचार्य और काकाजी को दिखलाऊँगी।" और निर्मला ने चंचला के इनकार कर देने की आशका से पहले ही उस पर अधिकार कर लिया। चचला ने बहुत विरोध किया, परन्तु वह उसे लेकर चली गई।

जब उसने सेठजी को चित्र दिखलाये तो उन्होने चचला की बहुत प्रशंसा की। निर्मला को इससे सन्तोष न हुआ। उसने उलाहने के स्वर में जिज्ञासा की—"मगर, काकाजी, किसी बाल-सखा को बहेलिये के रूप में चित्रित किया जाय तो क्या यह अन्याय नही है ?"

"तो क्या इसमे किसी बाल-सखा का चित्र है ?"

"हाँ ! मैंने सुना है कि आप 'जीवन' को जानते है। यह चित्र उसी का है—हू-बहू उसका।"

"हाँ, मैंने जीवन को कई वर्ष पूर्व उज्जैन में देखा था—जब चचला को लाया था।"

"तो आप ही बताइए, काकाजी, मै ठीक कहती हूँ या नही।"

"वैसा ही तो लगता है, परन्तु उसे देखे बहुत दिन हो गये। तूने चंचला से ही क्यों नही पूछा ?"

"वह स्वीकार नही करती, परन्तु मैने अभी-अभी आगरे में देखा था। ठीक ऐसा ही है।"

"होगा। और यदि ऐसा है तो अन्याय अवश्य है। अच्छा, चचला को मेरे पास भेज देना। यह चित्र भी छोड जाओ।"

निर्मला के चले जाने पर सेठजी ने पूरे चित्र को फिर से देखा और उससे चचला की मनोदशा को समझने का प्रयत्न किया। वह कई दिनो से चचला से बातें करने की इच्छा कर रहे थे, किन्तु कार्य-भार के कारण समय न पा सके। आज अनायास ही यह मौका आ गया तो उन्होंने इसका उपयोग कर लेना ही ठीक समझा।

चचला उनके पास आई तो उन्होने विनोद में उससे कहा—"तू तो आजकल बड़ी भारी चितेरी बन गई है ! चित्रलेखा को भी मात कर रही है !"

चंचला ने विनोद का उत्तर विनोद से देते हुए कहा—"आपका चित्र बना दूँ, काकाजी !"

"हाँ हाँ ! क्यों नही ? लम्बी, ऊँची-सी नाक, टेढा मुँह, चढी हुई आँखें .... "

चंचला बिना समझे ही ज़ोर से हँस पड़ी और सेठजी की आगे की बात उनके ही हास्य में डूब गई ।

सेठजी ने चचला से उसके स्वास्थ्य की बातें पूछने के बाद कहा—"श्रीकृष्णभाई का पत्र आया हे । वह तो जीवन की बडी प्रशंसा करते हैं ।" चचला का मँह लाल हो गया, क्रोध से या लज्जा से, हम नही जानते । उसने अपना सिर झुका लिया और कोई उत्तर नही दिया । सेठजी ने फिर पूछा—"क्या सोचती है ?"

चंचला फिर निर्वाक् !

"तू बोलेगी नही, तो कैसे काम चलेगा ?"

चंचला के सामने जीवन का चित्र घूम गया । उसे ग्वालियर के अपमान की बात स्मरण हो आई और फिर .

उसने उत्तर दिया—"मै क्या जानूँ इसके बारे में !"

"तू उससे रुष्ट तो नही है ?"

"मै क्यों रुष्ट हूँ किसी से !"

"मै उसे तय करना चाहता हूँ ।"

चचला सिर नीचा किये पैर की अँगुलियाँ गिनने लगी ।

"तुझे कुछ आपत्ति तो नहीं है ?"—सेठजी ने प्रश्न किया ।

चंचला फिर चुप ।

"तेरे मौन से मै समझता हूँ कि तू सहमत हे । अब मैं सीधा पत्र-व्यवहार शुरू करता हूँ ।"

"जी नही, ऐसा मत कीजिए ।"—चंचला ने अपना सारा बल इकट्ठा करके कहा ।

"क्यो भला ?"

"मै विवाह नही करूँगी ।"

"इससे नही करेगी या करेगी ही नही ?"

"करूँगी ही नही—इनसे तो कदापि नही ।"

"यह पागलपन है,"—सेठजी ने प्यार से कहा, "सोचकर कहो तो मै प्रबन्ध करूँ । विवाह कोई बुरी वस्तु नही है । विवाह न करना तो अच्छी बात

है, परन्तु तुम्हारे लिए अच्छी न होगी।"

चंचला फिर चुप रही और जब सेठजी ने ज़ोर देकर पूछा तो उसने लज्जा-मिश्रित गम्भीरता के साथ कहा—"मैं कह तो चुकी, उनके साथ नहीं।"

"तो विवाह बिल्कुल न करने का विचार छोड़ दिया न ?"

"मुझे अभी पढ़ लेने दीजिए, फिर विचार करूँगी।"

सेठजी प्रयत्न करने पर भी उसके मुख से इससे अधिक कुछ न निकाल सके। अतएव उन्होंने उसे फिर मिलने को कहकर जाने की अनुमति दे दी।

२८

सेवा-पथ पर

"प्रौढ पाठशाला, रात्रि पाठशाला, धीरे-धीरे ग्राम-सेवा, समाज सेवा— कितना काम हम कर सकते है !" जीवन ने उत्साहपूर्वक कहा ।

लीला ने उसे और भी प्रोत्साहित किया—"बहुत अच्छी कल्पना है, जीवन तुम्हारी । कुछ-न-कुछ अवश्य करना चाहिए । मै तुम्हारा साथ दूँगी ।"

"और मै भी ।"—यमुना ने कहा ।

"फिर मै ही कैसे पीछे रहूँगी ?"—सरस्वती बोल उठी ।

परन्तु विनायक ने कहा—"भइ मेरी समझ मे नही आता कि इतनी शीघ्रता क्या है ? हम पढाई समाप्त करने के बाद जो चाहे, कर सकते है । आखिर पढना-लिखना भी तो समाज की आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सेवा है पढ़े-लिखे बिना तो हम कुछ भी नही कर सकते । सब चार दिनो का खेल होकर रह जायेगा । एक ओर ध्यान लगाने से तो कुछ काम हो भी सकता है, सब ओर हाथ फैलाने से कुछ भी न हो सकेगा ।"

"किसी भी शुभ काम मे बाधा खोज निकालना तो तुम्हारी आदत है, विनायक ?"—सरस्वती ने उसकी बात काटकर कहा—"यदि तुम्हे स्वय कुछ नही करना है तो चुप क्यों नही रहते ? हम लोग कब तुम्हे अपने साथ घसीटते है ? तुम बैठे-बैठे किताबो को चाटा करो, अर्थशास्त्र और दर्शन के शाब्दिक सिद्धान्तो की आराधना किया करो..."

"अरे भइ, बस भी करो !"—विनायक ने कुछ विनोद करते हुए कहा —"तुम्हारा व्याख्यान तो सत मुनि के प्रवचन से लम्बा होता जा रहा है।"

"सरस्वती ठीक तो कहती है विनायक ! इसमें व्याख्यान की क्या बात है ? तुम्हे स्वय न आना हो, न आओ, परन्तु हमें क्यों पीछे खीचते हो ?"—यमुना ने किचित् आवेश के साथ कहा ।

विनायक ने पूर्ववत् कहा—"आप जरूर जाइए, बहनजी ! जो आप को रोके उसके मुँह मे चूहा समा जाये "

सब लोग हँस पडे । और विनायक कहता ही गया—

" आप चलती ही जाइये, चलती ही जाइये । जब तक आप टिम्बकटु तक न पहुँच जायँ, बराबर चलती जाइये । पढाई-लिखाई बिल्कुल छोड दीजिये । वृक्षो की छाल, जानवरो के चर्म ।"

"हो गया, हो गया! देख ली आपकी प्रतिभा, टिम्बकटू के पण्डित !"—सरस्वती ने चुटकी लेते हुए बात काट दी ।

यमुना और लीला तालियाँ बजाकर हँस पडी । जीवन और बिनायक ने भी साथ दिया ।

"तो तय रहा, जीवन ?"

"तय रहा ।"

"कल से ?"

"नहीं, परसो से ।"

"सही । पर भूलना मत ।"

और 'परसो' जो आया तो शहर के भिन्न-भिन्न भागों में तीन प्रौढ़ पाठशालाएँ खुल गई—एक रात्रि पाठशाला पुरुषो के लिए, दो मध्याह्न पाठशालाएँ स्त्रियो के लिए । धीरे-धीरे प्रत्येक में आशातीत उपस्थिति होने लगी । ये युवा शिक्षक-शिक्षिका अपनी-अपनी शालाओं में रामायण, महाभारत तथा अन्य धार्मिक ग्रंथ और समाचारपत्र पढकर सुनाते, उन पर अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार प्रवचन करते और थोड़ा-सा समय अक्षर-ज्ञान देने में व्यतीत करते । सायकाल लीला के घर में सब की बैठक होती और किये हुए काम पर चर्चा की जाती तथा अगले दिन की योजना पर विचार होता । विनायक भी इस 'सभा' में यथारुचि भाग लेता और अधिकतः सब से विनोद करता रहता ।

शालाएँ चलती रहीं और इन युवा शिक्षक-शिक्षिकाओ की ख्याति तथा लोकप्रियता बढ़ती रही । पढ़नेवाले सभी स्त्री-पुरुषों में उनके शील-स्वभाव और उनकी सेवावृत्ति की चर्चा होती । शीघ्र ही समस्त नगर में चर्चा फैल गई और कुछ प्रमुख नागरिको ने भी इन शालाओ में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया । शालाओ के लिए उपयुक्त भवन उपलब्ध हो गये और आवश्यक व्यय के लिए कुछ आर्थिक सहायता का आश्वासन भी मिला ।

अब विनायक उनसे अलग न रह सका और उसने भी उनके साथ मिलकर एक दूसरे मुहल्ले में पुरुषों की रात्रि पाठशाला खोल दी । स्त्रियो की

भी एक शाला और खुली । इस प्रकार इस मित्र-मण्डली के प्रत्येक सदस्य के जिम्मे एक-एक पाठशाला हो गई और सब पाठशालाएँ अच्छी तरह चलने लगीं । इन पाठशालाओ में धीरे-धीरे छोटे-छोटे हस्तोद्योग भी शुरू किये गये ।

शालाएँ दो-तीन मास तक चल चुकी तो एक दिन कॉलेज के आचार्य महोदय अपने छात्रो और छात्राओ का यह सेवा-कार्य देखने के लिए गये । सब कार्य देखकर उनके मन पर इतनी अच्छी छाप पडी कि उन्होने कॉलेज की सभा मे इस मित्र-मण्डली के आदर्शो की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की और अन्य छात्रो को इसका अनुकरण करने की प्रेरणा दी ।

शालाएँ अभी अपने शैशव-काल में थी, किन्तु 'होनहार बिरवान के चीकने पात' दिखलाई पडने लगे थे । उत्साही कार्यकर्ता और कार्य-कत्रियाँ अपना जीवन खपा रहे थे । उनमे सेवा की शक्ति और सत्य की धुन थी। चरित्र के सम्बन्ध मे तो हम क्या कहे ? और क्यो कहे ?

परीक्षा-पिशाचिनी समय के व्यवधान को लम्बे-लम्बे डगो से काटती हुई, भीषण अट्टहास करती निकट आती जा रही थी । शूरवीर निधड़क मैदान मे डटे हुए थे और कायरो के हृदय जवाब देने लगे थे । जो सो रहे थे वे जागने लगे; जो जाग रहे थे, वे दौड़ने लगे ।

पिशाचिनी अपनी दोनों मुट्ठियाँ बाँधे पूछ रही थी—"कौन-सी लोगे बोलो, सोच के मुँह को खोलो ।"

किसी ने डरते-डरते प्रश्न किया —"तुम्हारी मुट्ठियो में क्या है ?"

उसने कहा—"मेरी दाहिनी मुट्ठी में पश्चात्ताप और बाईं मुट्ठी में अभिशाप है ।"

"समझाओ, हम नही समझे ।"

"इतना भी नही समझते तो स्कूल-कॉलेज छोड़ दो । यही समझाने के लिए तो आधुनिक शिक्षा का आरम्भ होता है; इसी को समझने मे उसका पर्यवसान है । अच्छा सुन लो—मेरी दाहिनी मुट्ठी में ज्ञान है, पर बेकारी भी है; महत्वाकाक्षा है, पर साधनहीनता भी है; बुद्धि है, पर कार्य-शक्ति का अभाव भी है; महत्त्व है, पर दासता भी है; अभिमान है, पर अपमान भी है; आँखे है, पर देखने की वस्तुओ का दुर्भाव भी है .....मेरी बाईं मुट्ठी मे लालसा है, पर-मुखापेक्षण है, ठोकरें है, दयनीयता है .. ."

"बस करो, बस करो ! अब नही सुना जाता । तुम्हें आना ही है तो मूक बनकर आओ । तुम बकासुर की बहन बनकर आ रही हो । हम सब अपना-

अपना हिस्सा तुम्हारे उदर-समर्पण कर देंगे। कृपा कर अपने दाँत बन्द कर लो, मुट्ठियाँ समेट लो, हम स्वयं तुम्हारे निकट आते हैं ...''

और जब सम्पूर्ण विद्यार्थी-समाज इस प्रकार परीक्षा की ओर दौड़ा चला जा रहा था, तब जीवन और उसके साथियो ने निश्चय किया कि हम परीक्षा में सफल हो या विफल, अपनी शालाओं के कार्य में व्याघात न पहुँचने देंगे। यह जीवन की प्रेरणा थी और यद्यपि शेष सब ने इसे स्वीकार कर लिया था, तथापि उनके मन मे एक आशका-सी, आतुरता-सी समा गई थी। विनायक तो स्वभाव से ही अधिक अध्ययनशील था और वह अपने समय को स्पष्ट रेखाओ से विभाजित रखता था। उन रेखाओ का अतिक्रमण उसके लिए असम्भव-सा हो गया था। अब उसने अनेक रेखाएँ मिटा दी और केवल एक मोटी रेखा रह गई—उसकी शाला और उसके अध्ययन के बीच। शेष व्यक्ति अपनी शालाओ मे मग्न थे। वे शालाओ की आवश्यकता पहले पूरी करते और जो समय बच जाता उसमें अपना अध्ययन कर लेते थे।

जीवन ने कहा—''हमें यही क्रम रखना होगा और फिर भी उत्तीर्ण होना होगा। अध्ययन में समय अधिक लगाने की आवश्यकता नही है, परन्तु ध्यान अवश्य अधिक लगाना चाहिए।''

सब ने उसकी बात मान ली और प्रत्येक कार्य में उत्कटता बढ गई।

कॉलेज के कुछ छात्र—वे कौन थे, इसका अनुमान करना कठिन न होगा—हृदय से चाहते थे कि जीवन और उसके साथियो की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा कुछ ऐसा धक्का खाये कि फिर उठकर खड़ी न हो सके। परन्तु होता गया बिल्कुल इसका उलटा। शालाओ की लोक-प्रियता बढती गई, उनके पाठ्यक्रम में भी सुधार हुआ। इन सेवा-मार्गियों ने अपनी शालाओ में आनेवाले लोगो के व्यक्तिगत जीवन से जो अपना सम्पर्क स्थापित किया, उनमें जो घुलने-मिलने लगे, उनके सुख-दु ख में जो हिस्सा बँटाने लगे, उस सबसे इनकी लोक-प्रियता और प्रतिष्ठा भी न केवल दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी, वरन् सुरक्षित हो गई।

शालाओं के कार्य में वैज्ञानिकता आती गई।

सेवको का अध्ययन-कार्य भी पिछडा न रहा।

उनके कतिपय सहपाठियो का ईर्ष्या-द्वेष भी बढ़ता गया।

और उस रात को, जब शीत कड़ाके की पड़ रही थी, सूट-बूट से सजे, शाल-दुशाले लिये, सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए, तेज दीपक के प्रकाश में बैठ उन दर्जन भर युवको ने क्या किया?

एक ने कहा—''यह तो चलने नही दिया जा सकता।''

दूसरा—"कुछ उपाय भी बताओ।"

तीसरा—"मेरी समझ में नहीं आता, हमें उनके पीछे क्यो पडना चाहिए ?"

पहला—"समझ में नही आता तो तुम्हे चुप रहना चाहिए।"

तीसरा—"और आपका साथ देना ही चाहिए ?"

पहला—"जी हाँ, सरकार ! न देना हो तो आप यहाँ से जा सकते है।"

तीसरा—"यह खूब रही !"

चौथा—"आखिर बात बढाने मे क्या मिलता है, आपको ?"

तीसरा—चुप।

पहला—"हाँ, तो कुछ करना अवश्य होगा।"

पाँचवाँ—"आप कहते क्यो नही ? हम सब तैयार है।"

पहला—"पहले किसी तरह उनके स्कूल बन्द कराये जायँ।"

पाँचवाँ—"कैसे ?"

पहला—"यह क्या बड़ा कठिन है ? स्त्रियो के स्कूलो में बात फैला दी जाये कि वे लडकियाँ चरित्रहीन है। वे स्कूल तो इतने से ही बन्द हो जायेंगे। मेरे ड्राइवर की स्त्री राधा भी वहाँ पढने जाती है। बडी चतुर-चलाक है। उससे इस काम मे बहुत सहायता मिलेगी।"

तीसरा—"यह कदापि नही हो सकता। यह नीचता है। हम उन्हे व्यर्थ ही सताया करते है।"

चौथा—"ओह ! यह तो उनके जासूस मालूम होते है !"

तीसरा—"या मुझ में अभी इतनी नीचता नही आई ?"

पहला—"यहाँ आप-जैसे भले आदमियो का काम नही है। आप चले जाइये।"

तीसरा—"मै यह चला। परन्तु याद रखना, यदि अब आप लोगो ने कोई नीचता की तो परिणाम अच्छा न होगा। मै सारी बातें खोल दूँगा—"

पहला—"जा जा ! तुझसे जो बने, कर लेना।"

वह चला गया। गुट का काम उस पर कुछ दुर्वाद की वृष्टि करने के बाद/में पूर्ववत् आरम्भ हो गया।

पहला—"तो इस तरह स्त्रियों के स्कूल बन्द हो जायेगे !"

पाँचवाँ—"बिल्कुल ठीक !"

और भी कुछ लोगो ने हाँ में हाँ मिलाई।

पहला—"रही जीवन की बात, सो ....."

पाँचवाँ—"वह हम समझ गये।"

पहला—"तो फिर कल ही काम शुरू हो जाये।"

कुछ लोगों ने स्वीकृति दी, कुछ चुप रहे।

पहला—"आप सब करेंगे न ?"

पाँचवाँ—"हाँ हाँ ! करेंगे क्यों नही ? क्यों भाइयो, जिसको न करना हो वह अभी कह दे। बाद को धोखा नही होना चाहिए।"

इस पर कई ने अपने-अपने कारण बताकर साथ देने से इनकार कर दिया। दूसरे व्यक्ति ने साफ़ कहा कि मुझे यह सब बातें पसन्द नहीं हैं। इस पर उसका अपमान किया गया।

दूसरे दिन से ही उनका काम शुरू हो गया। लोगो में छुटपुट चर्चाएँ होने लगी। परन्तु जीवन आदि का काम उसी प्रकार उत्साहपूर्वक जारी रहा। जब कोई विद्यार्थिनी बीमार हो जाती तो 'शिक्षिकाएँ' उसके घर जाकर शुश्रूषा करती। किसी के घर बच्चा पैदा होता या छोटा बच्चा होता तो वे माता और शिशु दोनो की परिचर्या करती और स्त्रियों को बाल-संगोपन का शास्त्रीय ढग बतलाती। त्योहार-बार में अपनी विद्यार्थिनियों के घर जाकर उन्हे त्योहारो का महत्त्व और उन्हे अच्छे-से-अच्छे ढग से मनाने की रीतियाँ बताती। जीवन और विनायक अपने पुरुष विद्यार्थियों के साथ इसी प्रकार प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करते। और सब मिलकर अपने विद्यार्थी-विद्यार्थिनियो की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्हे छोटे-छोटे कला-कौशल सिखाते। कला-कौशल के प्रति आकर्षण बढ़ाने के उद्देश्य से उन्होंने उनकी बनाई हुई वस्तुओं की प्रदर्शनी करने का निश्चय किया। उसकी तिथि निश्चित कर दी गई और ज़ोरो से तैयारियाँ होने लगीं।

आचार्य और अध्यापको को मालूम हुआ तो वे बहुत प्रसन्न हुए। आचार्य ने कहा—"इतने परिश्रम से तुम लोग परीक्षा के समय बीमार न पड जाना।"

स्वजन-परिजनो ने कहा—"पढ़ाई गई !"

देखने वाले कहते—"ये दीवाने हो गये हैं।"

परन्तु काम उसी वेग से चलता रहा।

२६

विष में अमृत

करुणाशंकर के ड्राइवर ने जब अपनी पत्नी को अपने मालिक का प्रस्ताव सुनाया तो सबसे पहले उसने ऐसा षड्यन्त्र रचने से साफ इनकार कर दिया। परन्तु जब उसके सामने नौकरी की समस्या प्रस्तुत की गई तो उसने बेमन से उसे स्वीकार कर लिया और अपनी 'शिक्षिकाओं' की बदनामी फैलाने में थोड़ा-बहुत योग देने लगी।

जब प्रदर्शनी के दो-तीन दिन शेष रह गये तब एक दिन पाठशाला में चर्चा छिड़ गई। पार्वती ने रहस्यमयी हँसी हँसते हुए सुलोचना से कहा - "सुना है, मास्टरनीजी बड़ी रँगीली हैं।"

"हाँ, बाई! जहाँ देखो, यही सुनाई देता है।"—सुलोचना ने जरा मुँह मटकाकर कहा।

यह सुनकर तारा से न रहा गया। उसने कहा—"मेरे घर में भी तो बातें हो रही थी। कहते थे, अब स्कूल जाना बन्द कर दो।"

सुलोचना—"मै तो दूसरे स्कूल में जाया करूँगी। परदर्सनी हो जाये फिर यहाँ न आऊँगी।"

"यह स्कूल और वह स्कूल सब एक-से हैं, बाई! कह रहे थे कि इन लोगो का एक गुट है। बहुत से जवान लड़के-लड़कियाँ एक साथ रहते हैं। धरम-करम कुछ नही मानते। सिर्फ अपनी बदनामी बचाने के लिए ये स्कूल खोल रखे है।"—राधा ने कहा।

"मेरे घर में बात हो रही थी कि मास्टरनी बाई अपने एक दोस्त के साथ शराब पिये बन्द कमरे में पकड़ी गई थीं।"—सविता ने नई चिनगारी छोड़ी।

सुलोचना ने तार को खीचा—"सच तो यह है, बाई! वह मामला तो पुलिस के पास गया था। कहते हैं, कुछ भले आदमियो ने बीच-बचाव कर दिया, नहीं जेल जाने तक की नौबत आ गई थी।"

पार्वती—"ऐसे स्कूल में हम कैसे आयेंगी बहन !"

"मै तो अब नही आऊँगी।"

"मै भी।"

"सच तो है, बाई, कौन झंझट में पडे ! मै भी नहीं आऊँगी।"

राधा ने अपना ब्रह्मबाण फिर छोड़ा—"ऐसा क्या डर पड़ा है ? हम पवित्र है तो हमारा कौन क्या बिगाड़ सकता है ? फिर आप लोग न आयेंगी तो मै भी न आऊँगी। मगर हम सबको सलाह से काम करना चाहिए। आयें तो सब आयें, नहीं तो कोई न आये।"

सविता—"ठीक तो है। पूछ लो न सब से।"

राधा—"तुम्ही पूछो भइ ! मुझे तो बात करना नहीं आता।"

"हाँ हाँ ! मै पूछती हूँ। इसमें क्या है ! बोलो बहनो, कौन क्या कहती हो ? मेरी सलाह तो है कि कल से स्कूल में ताला ही पड़ जाये।"

"ताला क्यो पड जाये ?"—माधुरी ने आवेश से कहा—"जिसे न आना हो, न आये। हम तो आयेंगी।"

"और क्या, बहन ! मास्टरनी बाई ऐसी नहीं है।"—सुमति बोली।

माधुरी—"अरे ! दुश्मनों ने उड़ा दिया है।"

"हाँ बाई, वो तो कैसी देवी जैसी मालूम होती है। हमें तो गुन लेना है। हम तो आयेंगी।"—विमला ने कहा।

और, बहुत-सी बोलीं और बहुत-सी नहीं बोलीं। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन यमुना की पाठशाला की उपस्थिति आधी रह गई। यमुना ने सब बातें सुनीं तो एक-एक के घर गई, परन्तु जो नहीं आने वाली थीं वे कैसे आतीं ?

दूसरे स्कूलो की स्त्रियो ने सुना तो उनमें भी सनसनी फैल गई। किसी ने कहा कि उस स्कूल में वारदात हो गई है। किसी ने समर्थन किया, किसी ने विरोध किया; परन्तु दूसरे दिन उनकी भी उपस्थिति घट गई।

दूसरे दिन प्रदर्शनी थी। शाम को मित्रमण्डली की बैठक में निश्चय किया गया कि सब मिलकर बहिष्कार करनेवाली महिलाओ के घर जाये और उन्हे तथा उनके घर के पुरुषों को समझाकर दूसरे दिन प्रदर्शनी में यथावत् भाग लेने के लिए उन्हे राज़ी करें।

यह कार्यक्रम तुरन्त आरम्भ कर दिया गया और वे घर-घर घूमने लगे।

रात अधिक बीत गई। जब ये लोग बाज़ार के चौराहे-से निकले तो वहाँ कुछ छिपी हुई हलचल दिखलाई पड़ी। थोड़ी ही देर में एक व्यक्ति सामने

से आया और लीला को जोर का धक्का देता हुआ सब के बीच से आगे बढ गया। इधर लीला गिरती-गिरती बची, उधर जीवन ने लपककर उस व्यक्ति का हाथ पकडा और कडककर कहा—"क्यो, अन्धे हो ?"

सब लोगों ने उसे घेर लिया, परन्तु उसने निर्भीकता के साथ सामना करते हुए उत्तर दिया—"सारी सडक घेरकर चलोगे तो धक्का न लगेगा, क्या तुम्हारे पैर पूजे जायेगे ? छोड दो मेरा हाथ !"

विनायक ने लपककर उसे जोर का तमाचा जड दिया और कहा—"गुण्डाशाही मचा रखी है !"

आततायी ने झटका देकर जीवन से अपना हाथ छुडा लिया और वह विनायक से भिड गया। विनायक अकेला ही उसके लिए बस था। वह उसकी अच्छी मरम्मत करने लगा। इतने ही में पीछ से उसके सिर पर एक लाठी पडी और वह खूनाखून होकर भूमि पर लोट गया। जीवन जैसे ही उसकी सहायता के लिए दौडा वैसे ही उस पर भी लाठियाँ बरसने लगी। दोनो पर कितनी लाठियाँ बरसी, इसका अनुमान करना कठिन है। लीला आदि ने कुछ झगडने का प्रयत्न किया, कुछ शोर मचाया। परन्तु लोगो के इकट्ठा होने के पूर्व ही आततायी लापता हो गये। जीवन और विनायक को बेसुध अवस्था में अस्पताल पहुँचाया गया।

कॉलेज में यह समाचार फैला तो वहाँ दो दल हो गये। एक दल ने आचार्य और अध्यापको की प्रेरणा से जीवन द्वारा आयोजित प्रदर्शनी को सफल करने का बीडा उठाया। वह तत्परतापूर्वक उस कार्य में जुट गया। दूसरा दल जीवन की मित्रमण्डली के विरुद्ध लोगो को भडकाने में प्रवृत्त रहा, परन्तु यह दल बहुत छोटा और नगण्य था।

प्रदर्शनी का उद्घाटन ठीक समय पर बडी धूमधाम से किया गया। सकट ने सारे नगर की सहानुभूति को इन कार्यकर्ताओ की ओर आकृष्ट कर दिया। सब प्रौढ़ शिक्षार्थिनियाँ भी अपना भेदभाव भुलाकर प्रदर्शनी में सम्मिलित हुई। उद्घाटन के अवसर पर कॉलेज के आचार्य ने एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी भाषण में इन युवा सेवको की प्रशंसा और रात्रि की दुर्घटना की निन्दा की। उन्होंने जनता से अपील की कि वह इन कार्यकर्ताओ की हर प्रकार से मदद करे।

एक धनिक सज्जन ने प्रदर्शनी देखने के बाद आचार्य से कहा कि यदि इन पाठशालाओं के संचालन के लिए विधिवत् समिति बना दी जाये तो मैं एक बड़ी इमारत उसे दान करने के लिए तैयार हूँ।

इधर धूमधाम से प्रदर्शनी हो रही थी,उधर जीवन और विनायक अस्पताल मे बेहोश पडे हुए थे । डाक्टर उदास थे और उनका कहना था कि मनुष्य का अधिकार केवल प्रयत्न पर है, फल ईश्वर ने अपने अधिकार में रखा है । वह बडी लगन और तत्परता के साथ दोनों का उपचार तथा देख-भाल कर रहे थे । लीला आदि तीनों सखियाँ प्राणपण से उनकी शुश्रूषा में निरत थी । आचार्य, अध्यापक और कॉलेज के लगभग सभी छात्र शुभ सन्देश सुनने की आशा से बार-बार वहाँ जाते थे । नगर के अनेक गण्यमान्य सज्जनो ने भी सहानुभूतिपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन किया । सभी पाठशालाओ के प्रौढो पर चिन्ता की छाया पड गई थी । वे दोनों की प्राण-रक्षा के लिए हार्दिक प्रार्थनाएँ कर रहे थे ।

पन्द्रह दिन बाद दोनो की हालत में सुधार हुआ और वे ख़तरे से बाहर हो गये । परन्तु पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करने मे उन्हे महीनो लग गये ।

इसी बीच परीक्षा आई और चली गई । दोनों मित्र यान्त्रिक युग की यान्त्रिकता के शिकार हो गये । उनके लिए परीक्षा कैसे रुक सकती थी ? और विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ जो ठहरी । फिर से भी तो नहीं ली जा सकतीं !

एक दिन जीवन और विनायक लीला आदि के साथ बैठे हुए अपनी पाठशाला के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर रहे थे । इसी बीच करुणाशंकर वहाँ आ पहुँचा । यद्यपि विनायक आदि की इच्छा नहीं थी, फिर भी जीवन ने उसे आदर के साथ बैठाया ।

करुणाशंकर ने आते ही शुरू किया—"मै आपका उपकार कभी नही भूल सकता । आपसे क्षमा-याचना के लिए आया हूँ ।"

जीवन ने किंचित् आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"यह आप क्या कह रहे है ? कौन-सा उपकार और किस बात की क्षमा-याचना, भाई ?"

"जब आप जेल की लम्बी सजा दिला सकते थे, आपने मुकदमे मे मदद करने से इनकार करके मुझे और मेरे साथियों को बचा लिया ।"—करुणाशंकर ने कहा ।

"तो क्या यह सब आपने ही कराया था ?"

शेष लोगों के चेहरों पर रोष की लालिमा दौड़ गई ।

करुणाशंकर ने लज्जित होकर उत्तर दिया—"अब उस बीते हुए अध्याय को फिर मत खोलिए । मै बहुत लज्जित हूँ । भाई विनायक और बहनो, मै आपसे भी क्षमा-प्रार्थी हूँ ।"

"भाई, क्षमा माँगने की क्या बात है ? और क्षमा करनेवाले हम कौन

है ? मनुष्य को मनुष्य के प्रति जैसा व्यवहार करना चाहिए वैसा ही हमने किया है। उसमे हमारी बडाई क्या ? यदि तुम्हे सच्चा पश्चात्ताप हो तो पर्याप्त है। हम समझेंगे कि ईश्वर हमारे हाथ से इतना भला काम कराना चाहता था और वह हो गया।" —जीवन ने गद्‌गद् होकर उत्तर दिया।

"मै उपकृत हूँ। पर क्या मै आप लोगो की कोई सेवा नहीं कर सकता ?"

"हम तो स्वय सेवक है, भाई ! करना हो तो अपार जनता पडी है। उसकी सेवा करो !"

"क्या आपकी किसी सेवा में मै योग नही दे सकता ?"

"अवसर आयेगा तो हम आपको सूचित करेंगे।"

"अवश्य कीजिए। परन्तु इस समय मेरी और मेरे पिताजी की इच्छा "

"बोलिए, बोलिए, आप तो मित्रो से भी सकोच कर रहे है।"

"पिताजी आपकी पाठशालाओ को दस हजार रुपये दान करना चाहते है।"

"बडे हर्ष की बात है। यह तो जनता की ही सेवा है। मैं आचार्य से सलाह करके उत्तर दूँगा।"—जीवन का हृदय उमड पडा।

"हमारी यह छोटी-सी सेवा !"

"नही नही ! आपका यह महान् हृदय-परिवर्तन !"

× × ×

गर्मी की छुट्टियो के अन्त में, जब कॉलेज खुलने के कुछ ही दिन शेष रह गये, जीवन के मन में एक नया सघर्ष आरम्भ हुआ—वह कॉलेज जाये या अपनी समस्त शक्ति सेवा में लगा दे ?

"अध्ययन ? क्या होगा अध्ययन से ?" उसने सोचा—"चार पुस्तकें अधिक पढ़ लेने के लिए और दो-चार परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेने के लिए, क्या जीवन का यह अमूल्य समय नष्ट किया जा सकता है ? क्या जनता-जनार्दन की सेवा में अपने जीवन के एक-एक पल को व्यय कर देना, अपने रक्त की एक-एक बूँद को सुखा देना अधिक अच्छा नही है ?... .

"··· 'और 'वह' भी तो यह पसन्द करती है ! 'उसके' जीवन का भी तो यही उद्देश्य है ! हम दो दीवाने मिल जायेंगे तो कितना काम होगा ! हमारी आत्माएँ एक-दूसरे के कितने निकट पहुँच जायेंगी ! कोई दिन होगा, जब इस सेवा का भी फल मिलेगा . ..

"परन्तु यह क्या ? क्या मेरी अन्तरात्मा में चोर छिपा है ? क्या मै इस फल के लिए ही सेवा करना चाहता हूँ ? छि· यह भावना दूर करनी होगी। केवल सेवा के लिए सेवा। सेवा के समक्ष दूसरी सब वस्तुएँ गौण।

"परन्तु क्या मै चचला के प्रेम को, उसकी स्मृनि को गौण बना दूँ ? उसे किसी दूसरी वस्तु में विलीन कर दूँ ? नही, यह नहीं हो सकता। मेरे जीवन के दो साम्राज्य होगे। एक की अधीश्वरी होगी चचला, उसकी स्मृति; दूसरे का अधीश्वर होगा जनता-जनार्दन। जब तक ये दोनो साम्राज्य स्वयं ही एक-दूसरे में विलीन न हो जायें तब तक मुझे इनको घटाने-बढ़ाने का कोई अधिकार नही .. .."

और उसने निश्चय कर लिया कि अब कॉलेज न जाऊँगा।

३०

भूत उतर गया

चंचला जब से आगरे से लौटी उसके मन में उसके ही भाषण के ये शब्द बारबार गूँजते रहे—"मैं सात करोड अभागे अस्पृश्यों को छोड नहीं सकती, उनके ही साथ डूबना और उनके ही साथ उबरना चाहती हूँ।" उसका मन बराबर उसे प्रोत्साहित करता—डूबने का विचार ही क्यों, हम उबरेंगे और समस्त मानव-जाति के साथ बराबरी से रहेंगे। परन्तु इसका उपाय उसकी समझ में न आता। महात्मा गांधी का कार्यक्रम उसे बहुत धीमा और दूसरों की सद्भावना पर अवलम्बित मालूम होता। उससे उसको सन्तोष न होता था। साम्प्रदायिक संघर्ष को वह देश के लिए घातक समझती। इसमें उसे अन्याय मालूम होता कि मानवता के मूल अधिकारों को प्राप्त करने के लिए भी सात करोड लोगों को अपनी उन्नति करने का उपदेश किया जाये। घूम-फिरकर वह साम्प्रदायिक धर्म-परिवर्तन की कल्पना पर जा टिकती। धीरे-धीरे यह कल्पना उसके मन में जडें जमाने लगी।

एक दिन जब वह इसी प्रकार के विचारों में डुबकियां लगा रही थी और अपने कार्य में सहायता देने योग्य व्यक्तियों की गिनती कर रही थी तब उसने अकस्मात् सुना कि आचार्य उमामति ने त्यागपत्र दे दिया है। उन्हें उसने अपने सहायकों की सूची में ऊँचे स्थान पर रखा था और जब वह दूर होते दिखे तो स्वभावतः ही उसे दुःख हुआ।

उसने आचार्य के पास जाकर पूछा—"आखिर आप जा क्यों रहे हैं?"

'तुम लोगों से बहुत मोह हो गया है। उसे तोड़ना है न?"—आचार्य ने हँसकर उत्तर दिया।

"तब तो आपको जंगल में जाकर रहना होगा। मोह के लिए सभी जगह लोग मौजूद रहते हैं।"—उलाहना मिला।

"हाँ, जंगल में ही तो जा रहा हूँ। जहाँ तुम सब न हो, वह स्थान

जंगल नही तो क्या है ?"—फिर हँसी के साथ उत्तर मिला ।

चंचला और अन्य छात्राओ ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु आचार्य के जाने का निश्चय अटल रहा । उन्होने चलते-चलते छात्राओ से कहा—

" .. हत्या करना पाप है, आत्महत्या करना उससे भी बडा पाप है और अपने हृदय की हत्या करना सबसे बडा पाप है.. "

उन्होंने और कहा—"पौधे में कली लगती है तो मनुष्य उसकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखते है, वह खिलती है तो वे उसकी लालसा करते है; परन्तु जब वह मुरझा जाती है तो कोई उसकी ओर देखता भी नही.. .

"जीवन खिले हुए फूल के समान प्रफुल्लित, सौरभपूर्ण, पवित्र और आकर्षक होना चाहिए। उसे कुम्हलाने न दो। हृदय जाग्रत और विकसित हो तो यह सम्भव है। अतः हृदय को जाग्रत और विकसित रखो। पवित्रता की डोर में बाँधकर उसे अनन्त गगन में मुक्त उडान भरने दो। दूसरे सब बन्धनो को झटक दो, तोड दो . . ."

आचार्य के इन शब्दो में चंचला को सात करोड अस्पृश्यों की समस्या हल करने के लिए एक महामंत्र छिपा दिखलाई पडा। उसने सोचा—हिन्दू समाज ने अस्पृश्यता का व्यवहार करके सबसे बडा प्रहार हरिजनो के हृदय पर, उनकी आत्मा पर किया है। फलतः सात करोड मानवो का विशाल समाज आज कीड़े-मकोडों के समान अपनी स्थिति से सन्तुष्ट दिखलाई पड़ता है। महत्वाकांक्षा और आत्मगौरव उसके लिए परायी वस्तुएँ हो गई है। यदि उसमें ये दोनो जाग्रत हो जायें, यदि वह अपने-आपको दूसरे से ओछा न समझे, तो तीन-चौथाई काम पूरा हो जायेगा।

परन्तु जब तक अस्पृश्यता मौजूद है महत्वाकांक्षा और आत्मगौरव का जागरण असम्भव है। अतएव अस्पृश्यता-निवारण की मूल समस्या फिर भी शेष रह जाती है। पहले यह, शेष बाद को। धर्म-परिवर्तन इसके लिए उसे जादू की लकड़ी जैसा जान पड़ता।

आचार्य उमापति जा रहे थे और यह अनुमान तो किया ही नही जा सकता था कि फिर कब उनसे भेंट होगी, इसलिए चचला ने उनसे अपनी इस समस्या पर बातें कर लेना आवश्यक समझा और उसने कहा—

"जिनके हृदयो को बिल्कुल कुचल दिया गया हो, वे क्या करें, आचार्य ?"

"किसी के हृदय को कोई दूसरा कुचल नहीं सकता। मनुष्य स्वय अपने हृदय को कुचलता है।"

"क्या सात करोड़ हरिजनो पर भी यही बात लागू है ?"

"हरिजनो के हृदय कुचले नही है। उन पर आवरण पड गया है, जिसके बाहर वे स्फुरित नही हो सकते। क्या हरिजन अपने बाल-बच्चों को देखकर प्रसन्न नही होते ? क्या झरनो, प्रपातो और उद्यानो की शोभा से उनके हृदय में आह्लाद उत्पन्न नही होता ? सूर्य और चन्द्र, तारो और मुक्त आकाश को देखकर उनके हृदय उमगित नही होते ? "

"परन्तु क्या आप जानते है कि जब हमे हरिजन कहकर दूर-दूर रखा जाता है, बराबरी का व्यवहार करना तो दूर, अस्पृश्य मानकर हम से घृणा की जाती है, तो हमें कितनी पीडा होती है ?"

"इस व्यवहार का अन्त अब निकट आ गया है। महात्मा गाधी की समर्थ भुजाओ का प्रहार यह बहुत दिन तक झेल न सकेगा।"

"महात्मा गाधी का कार्यक्रम दीर्घकालीन और दूसरो की सद्भावना पर अवलम्बित है। उससे मुझे सन्तोष नही होता।"

"महात्मा गाधी का कार्यक्रम तुम शायद समझी नही। फिर भी, तुम्हे कोई दूसरा कार्यक्रम सूझता है ?"

"हाँ, मुझे लगता है कि सामुदायिक धर्म-परिवर्तन तात्कालिक और प्रभावोत्पादक उपाय होगा।"

"कैसे ?"

"हम हिन्दू धर्म मे न रहे तो अस्पृश्यता आपो-आप मिट जायेगी, अस्पृश्यता के मिटने से हमारी अन्य बाधाएँ मिटेंगी, हमारे हृदय खिल सकेंगे, हम में आत्मगौरव उत्पन्न होगा और हमारी अन्य प्रकार की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।"

"बडी भ्रान्त कल्पना है, चचला ! धर्म से अस्पृश्यता का क्या सम्बन्ध ? अस्पृश्यता का मूल तो रूढियाँ है। यदि रूढ़ियाँ सुरक्षित है तो जो आज अस्पृश्य माने जाते है, वे कल भी माने जायेगे, भले ही वे अपने-आपको किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न कहने लगे ? हाँ, अपने-आपको पूरा ही बदल दिया जाय तो यह अवश्य हो सकता है। इसके लिए अपना नाम, अपना रूप, अपना काम, अपना स्वभाव, सब-कुछ बदलना होगा, जिससे बिल्कुल पहचाना न जा सके। यह सब हो सकता है ?"

"नही।"

"तो फिर यदि उसका मूल ही ग़लत है तो आगे बढ़ने का क्या प्रश्न ?"

"परन्तु महात्मा गांधी के कार्यक्रम से तो हमारी उन्नति के लिए सैकड़ों

वर्षों की आवश्यकता होगी। इतने पर भी सबकी उन्नति हो ही जायेगी, यह निश्चय नही !"

"तुम्हारी पहली बात यदि सही हो तो समाज के जीवन मे इतना समय बहुत बड़ा नही होता। परन्तु, वह सही नही मालूम होती। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से चतुर्मुखी आक्रमण किया है। इतने ही दिनों मे उसका जीर्ण-शीर्ण गढ गिरने पर आ गया है।"

"कैसे ?"

"अस्पृश्यता के दो आधार है--जन्म और धन्धा। गाधीजी ने सीधा आन्दोलन किया कि जन्म के आधार पर अस्पृश्यता धर्म-सम्मत नही है। अधिकाश लोगों ने बौद्धिक रूप से इस मत को स्वीकार कर लिया है। धधागत अस्पृश्यता को मिटाने के लिए उन्होने श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित की और उसमें भगी, चमार आदि के कामों को, जो हमारे समाज में सबसे घृणित समझे जाते है, विशेष महत्त्व दिया। अब जैसे-जैसे यह प्रतिष्ठा बढती जायेगी, वैसे-वैसे इन पर आधारित अस्पृश्यता भी मिटती जायेगी। एक तीसरी बात और है। मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक स्थिति और रहन-सहन का परिणाम उसकी सामाजिक मान-प्रतिष्ठा पर पडता है। गाधीजी के कार्यक्रम में हरिजनो के लिए इन सब बातों की व्यवस्था है और उन्हे अविलम्ब उन्नति आरम्भ कर देने का अवसर प्राप्त है। उन्हे इससे लाभ उठाना चाहिए।"

"आपके कहने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमें अस्पृश्यता की चिन्ता छोडकर सीधे अपनी उन्नति के कामो मे जुट जाना चाहिए ?"

"नि.सन्देह ! अस्पृश्यता अब रही ही कहाँ ? अब तो क़ानून भी उसका विरोधी होता जा रहा है।"

"मुझे क्या करना चाहिए ?"

"यदि तुम हरिजन-कार्य करना चाहती हो तो समस्त हरिजनो को बताओ कि अब वे अस्पृश्य नहीं रहे। उन्हे स्वास्थ्य, सफाई और साधारण ज्ञान की शिक्षा दो। उद्योग सिखाकर उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करो।"

आचार्य के इस विदायी-सदेश ने चचला के मन से धर्म-परिवर्तन का भूत निकाल दिया और उसमें नये आनन्द तथा उत्साह का सचार हुआ। वह सोचने लगी—एक वर्ष बाद मेरी पढाई समाप्त हो जायेगी। तब मै हरिजन बच्चों के लिए एक स्कूल खोलूँगी—परन्तु हरिजन बच्चो के लिए ही क्यो ? ऐसा करने से तो हरिजनो के पार्थक्य का मौन स्वीकरण हो जायेगा।

नही, मै बच्चों की एक शाला खोलूँगी । उसमें सभी बच्चे—अवर्ण और सवर्ण पढने आयेंगे । मै सब के बीच मे भाईचारा उत्पन्न करूँगी । सब बच्चे मुझ से बडी बहन के समान प्रेम करेंगे और मै उन्हे अच्छी शिक्षा दूँगी । सबको सच्चे मनुष्य बनाऊँगी । जाति-पाँति के, वर्ग-सम्प्रदाय के, धर्म-कर्म के, सब भेद मिटा दूँगी । मानवता मेरी शाला मे फले-फूलेगी और चरमसीमा तक बढती चली जायेगी । थोड़े ही दिनो मे मेरी शाला बहुत बडी हो जायेगी । देश-भर में उस जैसी अनेक शालाएँ खुल जायेंगी और जो काम सदियो के प्रयत्न से पूरा नही हो सका, अनेकानेक सन्त-महात्माओ ने जिसे पूर्ण करने मे अपने जीवन खपा दिये, उसी को पूर्ण करने मे मेरा भी जीवन लग जायेगा। बापू ! तुम स्वर्ग से मेरी सहायता करना। अम्मा, तुम ख्याल रखना, तुम्हारी बेटी तुम्हारे और बापू के चरण-चिह्नो पर चलने में चूकने न पाये ! जब तक काकाजी का हाथ मेरे सिर पर है, मुझे रुकने की कोई आवश्यकता नहीं । मै बढती ही जाऊँगी—मेरा स्थान समस्त रूढियो के परे, समस्त बन्धनो से मुक्त होगा ....!

और हरिजन-कार्य के बारे मे वह आचार्य के बताये कार्यक्रम पर विचार करने लगी ।

३१

अभिशाप नहीं, आशीर्वाद

अपने हृदय की हत्या करना सबसे बड़ा पाप है—चंचला आचार्य के इन शब्दों को बहुधा मन में दुहराती रहती और इनका अर्थ समझने का प्रयत्न करती। वह सोचती कि क्या मै हृदय की हत्या नही कर रही हूँ ? परन्तु मेरा हृदय चाहता क्या है ? और उसे भिन्न-भिन्न उत्तर मिलते।

और वह सोचती—"फूल जब मुरझा जाता है तो लोग उसकी ओर देखते भी नही।" हाँ ! सच है। परन्तु क्या फूल फिर भी अपना गुण छोड देता है ? वह तो धूल में मिलकर भी अपना सौरभ बिखेरता रहता है !

वह बार-बार अपने हृदय को जीवित-जाग्रत रखने का प्रयत्न करती, परन्तु उसके प्रयत्न मानो उसे नितान्त प्रतिकूल दिशा में ले जाते। सघर्ष होता, और उसे थकान मालूम होने लगती। इस सबको भूलने के लिए उसने कलामण्डल, सेवा-कार्य और चरखे मे अधिक समय लगाना आरम्भ किया।

एक दिन कलामण्डल की ओर से आश्रम में समारोह किया गया। चंचला आग्रहपूर्वक सेठजी को भी ले आई। नृत्य, भावाभिनय एवं प्रहसन के पश्चात् सगीत का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। चचला सितार बजाने में इतनी मग्न थी कि उसे किसी दूसरी वस्तु की सुध नही थी। उसके वाद्य ने सभी को मुग्ध कर लिया। अब सेठजी के आग्रह से उसने गाना भी आरम्भ किया—

"अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे !
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे ! अन्तर "

स्वर, लय और आरोह-अवरोह के इस प्रथम विन्यास से ही श्रोतागण झूमने लगे। चचला आगे बढी—

"जाग्रत करो, उद्यत करो, निर्भय करो हे !
मगल करो, निरलस, नि.सशय करो हे ! अन्तर ”

'जाग्रत करो' की उसने बार-बार पुनरावृत्ति की और इसके साथ उसके 'अतर' के जो भाव प्रभावित हुए उन्होने श्रोताओ के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न कर दी। उसने आगे गाया—

"युक्त करो हे सबार संगे, मुक्त करो हे बध !
संचार करो सकल कर्मे शान्त तोमार छंद। अन्तर . ”

उसके भाव अधिकाधिक उत्कट होते गये।

"चरण पद्मे मम चित्त निस्पन्दित करो हे !
नन्दित करो, नन्दित करो, नन्दित करो हे ! अन्तर ”

और वह गीत में समा गई। उसका हृदय और कण्ठ एक हो गया !

श्रोताओ ने मत्र-मुग्ध की भाँति गीत सुना और जब वह समाप्त हुआ तो सारे भवन में एकदम निस्तब्धता छा गई। अभी-अभी खिला हुआ जीवन, अभी-अभी छिटकी हुई ज्योत्स्ना, अभी-अभी फैली हुई जाग्रति जैसे अकस्मात् लुप्त हो गई। क्षण भर बाद सेठजी ने निस्तब्धता भग करते हुए कहा—"इसके कण्ठ में तो साक्षात् वीणावादिनी का निवास है !" किन्तु वातावरण में एक भिन्न ध्वनि गूँज रही थी—"यह सगीत नही, आकुल हृदय की पुकार है, इसे समझने का प्रयत्न करो।"

कार्यक्रम समाप्त होने के पश्चात् सेठजी ने चंचला को अपने पास बुलाया और प्यार के साथ उसके सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा—"तूने सगीत और वाद्य का यह अभ्यास क्या यही किया है ?"

चचला ने बहुत दिन बाद पितृस्नेह का अनुभव किया। उसके नेत्रो में जल छा गया और उसने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"जी, पर आरम्भ मैंने बहुत बचपन में किया था।"

"किस आयु में ?"

"सात-आठ वर्ष की। बापू सिखाते रहते थे। उन्हे सगीत ”

आगे वह न बोल सकी। हृदय उमड पडा और बोलना असम्भव हो गया। नेत्रो से अजस्र जलधारा बहाती हुई वह वहाँ से चल दी। सेठजी ने उसकी स्थिति का अनुभव करके उसे बहुत बुलाया, किन्तु वह समारोह से बाहर चली गई। वह रात्रि उसने कैसे काटी होगी ?

इस घटना से सेठजी के हृदय में चचला के लिए और भी कोमल स्थान बन गया। दूसरे दिन उन्होने उसे अपने निवासस्थान पर बुलाकर

समाधान बँधाया और जब वह चलने लगी तो उससे कहा—

"कलकत्तेवाले लडके के विषय में बहुत-कुछ पत्र-व्यवहार हो चुका है। अब तुम भी कुछ निश्चय कर डालो।"

"जल्दी क्या है, काकाजी ? इस वर्ष मेरी पढाई पूरी हो जायेगी। फिर सोच लूँगी।"

"निश्चय हो जाता तो अच्छा होता। दोनो साथ ही.. ..."

"अभी मुझे समय दीजिए।"

"अच्छा, फिर मुझसे बात करना।"

"बातें तो समाप्त हो गईं, परन्तु चचला का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो गया। और वह इस विचार में रह-रहकर डुबकियाँ खाती रही।

'दोनो' से काकाजी का क्या अर्थ था ? यह प्रश्न उसके सामने नया उपस्थित हुआ।

और फिर—उन्हें क्या उत्तर दिया जाये ? 'हाँ' कह दूँ ? ऐसा करने से उलझन तो बहुत-सी मिट जायेगी । परन्तु क्या मै लाखो और करोडो का ही मार्ग स्वीकार करूँ ? क्या अपने-आपको समुद्र में बूँद के समान मिला दूँ ? ओह ! आततायी पुरुष ! अविश्वासी पुरुष ! उसके हाथ में अपने-आपको जीवन भर के लिए सौप दूँ ? तो क्या 'नही' कह दूँ ? 'नही' कहकर सदा के लिए प्रश्न ही समाप्त कर दूँ ? परन्तु क्यो ? मै पुरुषो की इतनी विरोधी, इतनी द्वेषी क्यो हो गई हूँ ? सभी पुरुष एक-से तो नहीं होते ! सभी पुरुष 'जीवन' भी नहीं

जीवन ! कही वह जानता होता कि उसने क्या किया है ! यदि सारी पुरुष जाति उसी के समान अविचारी है तो नि.सन्देह वह द्वेष की पात्र है। कितना कपट ! परन्तु मै अन्याय तो नहीं कर रही हूँ . .. ?

हाँ, मै हरिजन भी हूँ। अतिशय पीडित, दलित और दुःखी हरिजन-समाज मेरा समाज है—वह अपमानित और प्रताडित समाज ! वह निरीह, निर्दोष किन्तु अभागा समाज ! क्या मै विवाह करके उसी समाज की सख्या बढ़ाऊँ ? मै स्वयं सह लूँगी, किन्तु मेरे बच्चों के साथ जब तिरस्कारपूर्ण व्यवहार होगा तो मै कैसे सह सकूँगी ? भगवन् !... . नही नहीं, विवाह का प्रश्न ही नही उठता। मै विवाह नहीं करूँगी !

इसी बीच जया ने आकर कहा—"दीदी, कुछ सुना ?"

"क्या ?"

"निर्मला बहन का विवाह होने वाला है।"

"चल ! झूठी कही की !"

"जाओ, अब मै तुम्हे कोई बात न बताया करूँगी !"—जया ने त्रिकोणाकृति मुँह बनाकर कहा ।

"तो क्या सचमुच विवाह होने वाला है ?"

जया नही बोली और चचला को उसे बहुत समझाना-मनाना पडा । अन्त मे उसने कहा—"अब तो कभी मुझे 'झूठी' नही कहोगी ?"

चंचला ने हँसकर कहा—'नही, यदि तू सफेद झूठ बोले तो भी तुझे 'झूठी' नही कहूँगी ।"

और दोनो हँसती हुई निर्मला के कमरे मे पहुँची । वहाँ छात्राओ की भीड लगी हुई थी । कोई उसे बधाई दे रही थी, कोई परिहास कर रही थी । कुछ बालिकाओ ने उसके माथे पर सिन्दूर लगा दिया था और कुछ बलपूर्वक उसे नई चूड़ियाँ पहनाने की घात लगा रही थी । निर्मला बेचारी संकट मे थी; पर वहाँ उस पर दया करनेवाला कौन था ? चचला ने जो उसकी सहायता करनी चाही तो बालिकाएँ उस पर भी टूट पडी ।

एक ने कहा—"इनके भी लगा दो सिन्दूर ।"

दूसरी ने जोड मिलाया—"हाँ हाँ ! लगाओ । आज नही तो कल यह भी तो जाने वाली है !"

तीसरी और आगे बढकर बोली—"आज-कल क्या ? दोनो को साथ ही जाने दो ।"

पहली ने कहा—"और एक ही घर में ।"

चचला लजाकर सोचने लगी—मैं भी अच्छी फँसी ! और उधर, जया ने चुपके-चुपके पीछे से आकर उसके माथे पर सिन्दूर लगा दिया । चचला ने अपने को बचाने की चेष्टा की तो सिन्दूर उसके आधे माथे पर और गाल में भी फैल गया । लडकियो ने किलकारी भरते हुए तालिया बजाई और जब तक ऊधम सुनकर गृह-व्यवस्थापिका वहाँ न पहुँच गई तब तक सब मिलकर दोनो सखियो को इसी प्रकार छेडती रही ।

शान्ति होने पर चचला ने निर्मला से पूछा—"अकस्मात् !"

निर्मला ने उत्तर दिया—"मा की इच्छा !"

× × ×

विवाह के कई दिन बाद जब निर्मला वापस आश्रम में आई तो चंचला

ने उससे वैवाहिक जीवन के बारे मे बातचीत की। निर्मला ने गद्गद् होकर कहा—

"मै तो उबर गई, चचला !"

"तो क्या अब तक डूबी हुई थी ?"

"हॉ, पुरुष के बिना स्त्री और स्त्री के बिना पुरुष डूबा हुआ ही रहता है।"

"क्या अच्छा होता कि पुरुष भी ऐसा ही सोचता ?"

"हॉ, सब पुरुष ऐसा नही सोचते, सो सब स्त्रियॉ भी ऐसा नही सोचती। परन्तु जो ऐसा सोचते है उन स्त्री-पुरुषो की ससार मे कमी नही है।"

"ससार मे नही, भारत मे कहो।"

"इससे बात में क्या विशेष अन्तर पड जायेगा ?"

"अन्तर बहुत बडा होगा। शताब्दियो की दासता हमारी नस-नस मे भिद गई है। हमे दासता में ही उद्धार दीखने लगा है।"

निर्मला ने मर्माहत होकर उत्तर दिया—"तुम अपने देश की, अपने धर्म की, अपने समाज की, अपनी सस्कृति की और अपने लोकोत्तर ऋषि-मुनियो की व्यर्थ ही निन्दा करती हो, चंचला ! हम पर दासता का प्रभाव पडा, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता; परन्तु जब तुम हमारी प्राचीन संस्कृति को भी हेय बतलाने लगती हो तो तुम्हारे इस विचार पर मुझे दु ख होता है, तुम पर मुझे दया आती है।"

चचला ने भी आवेश के साथ कहा—"तुम यह कहना चाहती हो कि विवाह दासता का प्रतीक नही है ? क्या स्त्री सदैव अपने पति की दासी बनकर नही रही ? क्या पुरुष ने सदैव उसे कुचलकर नही रखा ?"

"विवाह कदापि दासता का प्रतीक नही है। उलटे, यह मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जाने वाला एक अत्यन्त पुनीत साधन है। वह मनुष्य के हृदय का परिष्कार करता है, उसे समुन्नत करता है, उसमे प्रेम एव औदार्य का विकास करके इसी जीवन में साक्षात् परमेश्वर का दर्शन करता है। हॉ, स्त्री अपने पति की दासी बनकर रही है, परन्तु यह उसकी महानता है, उसके लिए गौरव की बात है, लज्जा की नही। नि:स्वार्थ आत्मसमर्पण में, सेवा की भावना में, दासता नही होती; आत्मत्याग और जीवन्मुक्ति के लक्षण होते है ."

"और इसके बदले में पुरुष उसे देता है पूर्ण मुक्ति—स्वास्थ्य से मुक्ति, महत्वाकाक्षाओ से मुक्ति, स्वतंत्रता से मुक्ति, विचारो से मुक्ति, भावनाओं से मुक्ति !"—चंचला ने व्यंग्य के साथ कहा।

"तुम पागल हो गई हो, चंचला !"—निर्मला ने संतप्त होकर कहा —"मुझे आश्चर्य है कि तुम बातो को उनके वास्तविक रूप में क्यो नही समझ सकती ? क्या तुम समझती हो कि हमारी अवनत अवस्था के लिए केवल पुरुष उत्तरदायी है ? हमारा इसमें कोई भी दोष नही है ?"

'यदि हमने पूर्ण और नि स्वार्थ आत्मसमर्पण कर दिया तो हमारा उत्तरदायित्व कैसे ?"

"आत्मसमर्पण किस लिए ? इसीलिए न कि इससे पुरुष और स्त्री दोनो की उन्नति और विश्व का कल्याण हो ?"

"हाँ !"

"परन्तु हम तो अपने उच्च और महान् सहयोग से उत्तरोत्तर पराङ्मुख होती गई और अन्त में हमने अपने-आपको पुरुषो के ऊपर भारी बोझ के रूप मे लाद दिया, जिसका वहन करना उनके लिए क्रमश असम्भव होता गया। हम आत्मत्याग के मार्ग से आत्मघात के मार्ग की ओर अग्रसर होती गईं। दो चक्र के रथ में एक चक्र ही रह गया और टूटा हुआ चक्र भी उस पर लद गया। स्वभावत. ही एक चक्र का रथ चल न सका। वह चक्र भी वक्र और जर्जर हो गया और रथ एक स्थान पर पडा-पडा वायु, वर्षा और ताप के आक्रमणों से नष्ट होने लगा। हम स्वय तो अवनत हुई ही, अपने साथ पुरुष को भी ले बैठी।"

"तब तो पुरुष और सारे समाज की दुर्दशा का कारण स्त्रियाँ ही हुईं ?"

"मै इस सीमा तक न जाऊँगी । पुरुष अपराध से मुक्त नहीं है। वास्तव में पुरुष हमारी और हम उसकी अवनति का कारण हे। हम दोनो के कारण समाज की अवनति हुई है। हम दोनों मिलकर उसे फिर उबार सकते है।"

"कैसे ?"

"स्त्रियाँ अधिक दलित हे, पुरुष उन्हें उठाने का प्रयत्न करें। पुरुष अधिक भार-ग्रस्त हे, स्त्रियाँ उनका भार बँटाने का प्रयत्न करें। विवाह के बिना यह सम्भव नही हे और अयोग्य विवाहो से भी काम न चलेगा। योग्य विवाह हों और समुचित रीति से जीवन का रथ चलाया जाये तो मार्ग के ऊबड-खाबड़ होने के कारण विलम्ब भले ही हो, किन्तु एक दिन निर्देश पर पहुँचा अवश्य जा सकेगा।"

"तो क्या तुम्हारा ख्याल है कि सब सुधारो का मूल विवाह-संस्था और वैवाहिक जीवन के सुधार में ही है ?"

"किसी समय यह बात अक्षरशः सत्य हो सकती थी, किन्तु अब हमारा

जीवन बहुत जटिल हो गया है। अब बहुत से क्षेत्रों में एक साथ सुधार करने की आवश्यकता है। फिर भी व्यक्ति की उन्नति में योग्य विवाह बहुत दूरी तक सहायक हो सकता है। क्या तुम उस दिव्य जीवन की कल्पना नहीं कर सकतीं जिसमें पति पत्नी सुखी और पारस्परिक उन्नति में परस्पर सहायक हो? जिसमें बच्चे किलकारियाँ भरते हो और उत्साह असम्भव को भी सम्भव कर देता हो? जिसमें पारस्परिक विश्वास आत्मविश्वास का उत्पादक हो और सयुक्त शक्ति मनुष्य को अनवरत आगे बढ़ाती रहती है?"

"परमेश्वर करे, तुम्हारा विवाह ऐसा ही सिद्ध हो!"

"परमेश्वर करे, तुम्हे भी मेरे पति-सा पति मिले!"

चचला सोचने लगी कि क्या विवाह इतनी अच्छी वस्तु है?

३२

श्रेष्ठतम महाविद्यालय

ग्वालियर से कुछ दूरी पर रामपुरा नामक छोटा-सा ग्राम है, जिसमे किसान और नगर के श्रमजीवी निवास करते है। उसके आस-पास का दृश्य अत्यन्त रमणीय होने पर भी रोटी की समस्या मे अविरत व्यस्त जन-समुदाय को अधिक आकर्षित नही कर पाता। पौधे अपने फूलो को अक में भरे गुण-ग्राहक की प्रतीक्षा करते-करते थालो में चुआ देते हैं। नदी का सुन्दर स्फूर्तिमय प्रभात भ्रात पथिको को पुकार-पकार कर मार्ग दिखलाता है, पहाडी अपना मस्तक ऊँचा किये सृष्टि का गौरव बखानती है, परन्तु रोटी की समस्या में व्यस्त जन-समुदाय भागा चला जाता है। उसे यह सब देखने-सुनने का अवकाश नहीं।

जो सो रहे थे, वे सो रहे थे; परन्तु जीवन जाग चुका था और, जाने-अनजाने, उसने ससार को जगाने का महत् कार्य आरम्भ कर दिया था। अब यही ग्राम उसकी प्रवृत्तियो का केन्द्र बना। यद्यपि नगर में खोली हुई पाठशालाएँ सुचारु रूप से चल रही थी और वह उनका कार्य पूर्ववत् परिश्रम और निष्ठा के साथ करता चला जा रहा था, तथापि अब इस ग्राम की ओर अधिक ध्यान देने लगा।

विनायक कॉलेज छोड देना आत्मघात समझता था। सरस्वती और यमुना को भी उसने अपनी बात पटा दी। लीला के विचार पूर्णतया जीवन के विचारों से मिलते थे, परन्तु वह अपने भाई और माता-पिता के प्रभाव का अतिक्रमण न कर सकी। फलतः उसने भी कालेज का त्याग न किया।

तथापि नगर की पाठशालाओ को उत्साहपूर्वक चलाते रहने मे इन मित्रो के बीच कोई मतभेद न था। उनमें सबकी शक्ति पूर्ववत् लगती रही और नये-नये कार्यकर्ता तथा सहायक भी उन्हे मिलते गये। करुणाशकर के दान एवं व्यक्तिगत सहयोग से इन उत्साही कार्यकर्ताओ को बहुत सहायता मिली।

और जीवन नदी के किनारे एक फूस की झोंपडी बनाकर रामपुरा मे ही रहने लगा। नगर मे यह समाचार फैला तो सहानुभूति रखनेवालो ने कहा —"लडका बडा होनहार है;" बड़े-बूढो ने निर्णय दिया—"यौवन की उमगो में बह गया।" कॉलेज मे भाँति-भाँति के मत प्रकट किये गये और विनायक ने आचार्य तथा अध्यापको के साथ मिलकर उसे फिर वापस लाने का निश्चय किया।

रविवार के दिन आचार्य, अध्यापको और अनेक सहपाठियो के साथ विनायक रामपुरा में आ धमका। जीवन की झोपडी से कुछ दूर एक पुराना वट-वृक्ष है, जिसके कोटरो मे और डालियो पर सहस्रो पक्षी बसेरा लेते है। जब से जीवन यहाँ आया, वह प्रतिदिन प्रात.काल उस वृक्ष के नीचे की भूमि साफ कर लेता है। उसका दिन-भर का कार्य उसी की छाया मे होता है। दुप-हर को जब हारे-थके किसान और मजदूर थोडी देर विश्राम करना चाहते है तो यह वट-वृक्ष अपनी विशाल शाखाओं की घनी छाया में उन्हे शरण देता है। यही गाँव के छोटे-बड़े लडके-लडकियो का अड्डा भी बनना आरम्भ हो गया है।

इसी वट-वृक्ष के नीचे विनायक के समाज को जीवन ने ला बैठाया। ऊपर पक्षियो का सगीत उस समय भी हो रहा था। नीचे एक गाय अपने बछडे सहित बैठी हुई पागुर कर रही थी और निकट ही किसान खेत जोत रहे थे।

एक छात्र ने हँसकर कहा—"आपका यह बोधिद्रुम तो गौतमबुद्ध के बोधिद्रुम से भी विशाल है!"

जीवन ने एक क्षरण के लिए उसकी ओर देखा। उसकी आँखो ने चुपके से एक करुणा का सदेश दे दिया।

प्राय: सभी ने उस छात्र की ओर देखा और फिर जीवन की ओर देखा —मानो एक से कहना चाहते हो—"यह परिहास नही, उपहास है" और दूसरे की आँखो की प्रतिक्रिया देखकर उससे कह रहे हो—"हमे इस व्यग्य से आघात पहुँचा है।" विनायक का चेहरा तमतमा गया, परन्तु उसने सिर नीचे झुका लिया।

जीवन ने कहा—"यह ससार का सर्वश्रेष्ठ कॉलेज है। यदि यहाँ रहकर भी मै परीक्षा में उत्तीर्ण न हुआ तो मेरे लिए कोई आशा न रह जाएगी।"— और वह हँस पड़ा।

हँसी का उत्तर हँसी से देते हुए आचार्य ने कहा—"मेरे कॉलेज के सब विद्यार्थियो को यहाँ न खींच लाना!"

"आप डरिए मत। जब तक विनायक और करुणा भाई आपके कॉलेज मे विद्यमान है, तब तक वह पूर्णत सुरक्षित है।"—और एक बार फिर सारी मण्डली मे हँसी छा गई।

"परन्तु हम तो तुम्हे भी लेने आये हैं।"—आचार्य ने प्रकाश्यरूप में ये शब्द हँसते हुए ही कहे, परन्तु इनके भीतर छिपी हुई गम्भीरता का अनुभव सब ने किया। जीवन ने उसी भाव से उत्तर दिया—

"इतने अच्छे कॉलेज को मैं छोड दूँ, आचार्य ?"

"यह कॉलेज बहुत ऊँचा है। एकदम ऊँची कक्षा मे कैसे छलाँग मारोगे ?"—गम्भीरता और बढी।

"यह ऊचा भी है और भिन्न भी। इसमें प्रवेश के लिए केवल मस्तिष्क की परीक्षा नही होती—हृदय की उत्कट अनुभूति और सवेदनशीलता की परीक्षा मुख्य है "

"यह कर्मभूमि है, जीवन ! कर्मभूमि पर उतरने के पूर्व कर्म की विधि और उसका महत्त्व समझ लेना आवश्यक है। तुम्हे अभी कुछ वर्षो के लिए फिर कॉलेज में लौट चलना चाहिए।"

"कर्म की विधि और कर्म का महत्त्व क्या कर्म से दूर रहकर सीखा जा सकता है, आचार्य ? पानी में बिना कूदे ही क्या तैरना सीखा जा सकता है ? सूर्य के साक्षात् दर्शन किए बिना क्या उसकी भव्यता, उसकी महानता, उसके तेज की कल्पना की जा सकती है ?"—जीवन ने नम्रता किन्तु प्रज्ञता की दृढ़ता से कहा।

"नही, मैं यह नही कहना चाहता। परन्तु किसी भी कार्य के पूर्व यदि उसकी मानसिक तैयारी कर ली जाये तो काम बहुत सरल और व्यवस्थित हो जाता है।"

"यही तो मै नही समझ पाता। विशाल भवनों में बैठकर, ऐश्वर्य की लालसाएँ जाग्रत करनेवाले साहित्य का अध्ययन करके, वैयक्तिक महत्वाकाक्षाओ की उधेड-बुन करते हुए हम दीन-हीन, पतित और पद दलित, वंचित और प्रवंचित जन-समुदाय की समस्याओ का हल करने की तैयारी कैसे कर सकते हैं ?"

"ससार में हर प्रकार के महापुरुष हुए हैं, जीवन ! उन्होने अपनी-अपनी दृष्टि से ससार की समस्याओ का अनुशीलन किया है। उनके विचार और अनुभव हमे उपलब्ध हैं—पुस्तकें उनसे परिपूर्ण है। साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान और विविध शास्त्र इसके उदाहरण हैं। हमें उन महापुरुषों के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए—यही तो इतिहास और विविध ग्रन्थो तथा शास्त्रो का उद्देश्य

है। शताब्दियों का अन्तर होने पर भी वे महापुरुष, वे ऋषि-मुनि हमारे सम्मुख उपस्थित होकर हमें मार्ग प्रदर्शित कर सकते है। उनकी उपेक्षा मत करो, उनका तिरस्कार मत करो " आचार्य की वाणी में व्याकुलता का आभास था।

"भगवान् क्षमा करें ! मै महापुरुषो का तिरस्कार नहीं करता। राम और कृष्ण, बुद्ध और ईसा मेरे हृदय में निवास करते हैं। गाधी के उपदेश मै निरन्तर सुनता रहता हूँ। उनके सकेत मै स्पष्टत देख रहा हूँ "

"परन्तु क्या उनके आदेशो और सकेतो को समझने के लिए बुद्धि की परिपक्वता आवश्यक नही है ?"

"लोकनायक अपने आदेश स्वय समझा देते हैं। अन्यथा वे लोकनायक हो ही नही सकते। बालक, युवा और वृद्ध, शिक्षित और अशिक्षित, स्त्री और पुरुष—सब से वे बोलते है, सब को अपनी बात समझाते है। वे अपनी भाषा में नही, हमारी भाषा में बोलते है, अपनी बात नही हमारी बात कहते है।"

"परन्तु क्या लोकनायको में विरोध नही होता ? उनके दृष्टिकोण भिन्न नहीं होते ? गांधी और जिन्ना दोनो लोकनायक नही ? फिर भी, दोनो में विरोध दिखलाई नहीं पड़ता ? अपने नायक, अपने आदर्श को चुनने के लिए भी तो बुद्धि की परिपक्वता आवश्यक है ?"

"यह बुद्धि का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है, आचार्य ! छोटा बच्चा भी समझ लेता है कि कौन उसके निकट है, कौन दूर; कौन उसे और उसके परिजनों को प्यार करता है, कौन नहीं करता।"

"अनुभूति धोखेबाज होती है। मनुष्य का रूप, उसका ढग, उसकी ख्याति, उसका प्रचार—सब अनुभूति को प्रभावित कर सकते है। सत्यासत्य की गवेषणा के लिए तो बुद्धि, परिपक्व बुद्धि, समंजस बुद्धि ही आवश्यक है।"

आचार्य का तर्क व्यर्थ नही गया। इस पर जीवन को क्षणभर सोचना पड़ा। तत्पश्चात् उसने कहा—

"तो क्या बुद्धि की परिपक्वता कॉलेज से बाहर रहकर प्राप्त नहीं होती ?"

आचार्य को भी क्षणभर के लिए निरुत्तर हो जाना पड़ा और फिर उन्होने कहा—

"कॉलेज में बुद्धि के बैज्ञानिक विकास की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अध्यापक, पुस्तकालय, प्रयोगशाला—सब यहाँ कहाँ ?"

"क्या यहाँ रहने पर आप और अन्य गुरुजन मुझे छोड़ देंगे ? और क्या वहाँ की वह प्रयोगशाला प्रकृति की इस अनन्त प्रयोगशाला से बड़ी है

आचार्य ? स्वामी शकराचार्य और शिवाजी आदि किन कॉलेजो मे पढे थे ?"

"वह काल भिन्न था। उस समय भिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रस्तुत थी। आज हमारा जीवन इतना जटिल हो गया है कि उस प्रकार की सुविधाओ से काम नही चल सकता। आज विकास के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस गॉव मे तुम्हारे पास न तो धन होगा, न आधुनिक साधन होगे। तुम क्या कर सकोगे ?"

जीवन किंचित् उलझन मे पड गया—बुद्धि की परिपक्वता, विकास, साधन-सामग्री, रुपया, जीवन की जटिलता !—सब की एक ही कुँजी, कॉलेज मे विद्याध्ययन ! इसके बिना कुछ भी नही हो सकता ! क्या यह सच है ? एक क्षण के लिए इसका मन चारो ओर घूम गया। उसकी दृष्टि शून्य हो गई। दूसरे ही क्षण उसने फिर एकाग्र होकर उत्तर दिया—

"परन्तु आचार्य, बुद्धि की परिपक्वता या विकास क्या कोई अपने-आप मे सम्पूर्ण या निरपेक्ष वस्तु है ? मनुष्य अपनी-अपनी मर्यादाओ के अनुसार ही तो उसे प्राप्त करता है ? फिर क्या जिनकी बुद्धि की परिपक्वता अथवा विकास का प्रमाण कम है वे सेवा नही कर सकते ?"

आचार्य को जीवन के अन्दर ऐसे बीज दिखलाई देते थे जो उचित सवर्धन से प्रस्फुटित और अकुरित होकर एक अति विशाल और मधुर फलदायी वृक्ष का वश स्थापित कर सकते थे। अतएव उन्होने अपना आग्रह नही छोड़ा। उन्होने कहा—

"सेवा का अधिकार सबको है; किन्तु सफलता के लिए सेवक में अपनी सेवाओ का मूल्य आँकने की योग्यता होनी चाहिए। व्यवहार-कुशल सेवक अधिकतम संख्या के अधिकतम हित का ही लक्ष्य रखता है। इसके लिए दुहरा काम आवश्यक है—अपनी योग्यता की निरन्तर वृद्धि और सेवा। सेवक का पूरा लाभ ससार को मिलना चाहिए। सेवक के जीवन मे अबुद्धिमत्ता, अधीरता, आलस्य अथवा उपेक्षा के लिए कोई स्थान नही है। सेवक का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए—सतत विकास, सृष्टि में समाहित हो जाने, उस के साथ एक रूप हो जाने तक विकास। यही चरम सेवा है, इसी में सेवा का पर्यवसान है। यदि मनुष्य सृष्टि के सुख-दुःख, उसके आवेग-उद्वेग, उसके उत्थान-पतन और उसके जीवन-मरण के साथ एकरूपता प्राप्त कर ले तो फिर उसके लिए कौन-सी सेवा शेष रह जाती है ? इस सिद्धान्त के अनुसार ससार को सेवक की पूर्ण शक्ति का लाभ प्राप्त होगा। सेवक अपनी शक्ति को चुरा रखने अथवा उसे नष्ट कर देने का अपराधी न हो सकेगा।"

"यह सिद्धान्त श्रेष्ठ नही है, आचार्य ! इसमे मनुष्य की कायरता, स्वार्थपरता और मिथ्याचार के लिए अवकाश है। अधिकतम की अधिक सेवा करने के नाम पर क्या वह अनन्त काल तक अपने कार्य को टालता नही रह सकता ?"

"तत्त्व सच्चे लोगों के लिए होते है, मिथ्याचारियो के लिए नही।"

"तो साधारण लोगों के लिए क्या व्यवस्था है ?"

"वे जिस परिधि तक जा सकेंगे, जायेंगे।"

"तो क्या गुणप्रधान सेवा का कोई मूल्य नही है ?"

"गुणप्रधान और परिमाणप्रधान को पृथक् नहीं किया जा सकता। गुणप्रधान की श्रेष्ठता इसीलिए स्वीकार की जाती है कि उसमें अप्रत्यक्ष रूप से परिमाणप्रधानता सन्निहित रहती है।"

"आपकी बातें मेरी समझ में नही आती। यदि किसी घर में आग लगी हो और उसके अन्दर एक नन्हा-सा बच्चा बन्द हो तो क्या मनुष्य का यह कर्तव्य नही होता कि वह अपने प्राणो को देकर भी उसकी रक्षा करे ? यदि वह अधिकतम की अधिकतम सेवा का सिद्धान्त लिये बैठा रहेगा तो कभी किसी जोखिम में हाथ न डाल सकेगा। उसका काम तो नाप-जोख करते रहना ही हो जायेगा। जो सामने है उसी की सेवा करना श्रेष्ठ है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर, व्यक्ति से समष्टि की ओर और निकट से दूर की ओर जाना सम्भव होता है। आचार्य, मुझे इस श्रेष्ठ मार्ग से विमुख करने का प्रयत्न न कीजिए। गुण में जब परिमाण निहित ही है तो वह मुझे अनायास ही प्राप्त हो जायेगा।"

३३

भँवर में भँवर

चंचला अध्यापन की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई और सेठजी के आग्रह से उसने कुछ समय के लिए आश्रम में ही अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया।

निर्मला पतिगृह चली गई और उसके जाने से चचला की कोई अनरग सखी अब आश्रम में नही रही।

विवाह के सम्बन्ध में चचला ने सेठजी को कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया और जब कभी सेठजी उससे इस विषय पर बात करते तभी वह यह कहकर निकल जाती कि मै सोचकर उत्तर दूँगी।

उधर जब कलकत्तेवाले लडके के पिता ने जल्दी उत्तर माँगा तो सेठजी ने चंचला से कहा—"अब आगे बात टल नहीं सकती, तुम्हे तुरन्त निश्चय करना होगा।"

इस पर वह दूसरे दिन निश्चित उत्तर देने की प्रतिज्ञा करके चली आई। इसी सिलसिले में सेठजी ने उससे पूछा—"जीवन के सम्बन्ध में तो तुम्हारी अस्वीकृति ही है न ?"

"जी हाँ . . नही, मै कल ही बताऊँगी।"—चचला ने कहा।

सेठजी मुसकराये और बोले—"कल कौन-सा मुहूर्त्त है, जो तू सब बातें कल पर ही टाल रही है ?" और उन्होने मन में सोचा—"क्या जीवन के बारे में इसने अपना विचार बदल दिया है ?"

सेठजी का प्रश्न सुनकर चंचला लजा गई। तय हुआ कि दूसरे दिन सायंकाल जब सेठजी घूमने निकलेंगे तो चचला भी उनके साथ होगी और इस विषय को सदा के लिए निबटा दिया जायेगा।

जब वह आश्रम को लौटी तो विचारो में डूबी हुई थी। परन्तु उसके विचार गुथे हुए थे—भँवर के अन्दर भँवर उत्पन्न होती जाती थी। कभी वह

विवाहित जीवन के सुखमय, उत्साहमय, हरे-भरे दृश्य देखती, प्रेम की गगा में स्नान करती, शिशुओ के चचल, चपल, मनोरम, आक्रोशमय, हास्यमय, स्पदनमय परिवेश में किलकारियाँ भरती, सुन्दर से घर, उसकी निर्मल साज-सज्जा, उसके दायित्व की कल्पना करती, और वह मुग्ध होकर भावनाओ के प्रवाह में बह जाती और कह उठती—मै इतने सुन्दर जीवन को कैसे ठुकरा सकती हूँ ! फिर उसे दूसरा दृश्य दिखलाई पडता—परिवार का बन्धन, बच्चो का रोना-चीखना, पति की डाँट-फटकार, स्त्री की दासता। पुरुष की आततायिता का चित्र उसके सम्मुख आता, उसका स्वार्थ और उसकी अहता उसे कँपा देती। फिर वह अपने माता-पिता की याद करती, उनके काम को पूरा करने की बात उसके सामने आती और वह सोचती कि विवाह के बाद यह सब कैसे पूरा होगा ? और वह सोचती कि मै हरिजन हूँ, हरिजन को सुख-शान्ति कहाँ ? पग-पग पर अपमान कौन सहेगा ? और फिर हरिजनो की सख्या बढेगी।

और वह किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। रात उसने जागकर इसी प्रकार के द्वन्द्वपूर्ण विचारो में काट दी। प्रात.काल जब वह उठी तो सभी को सन्देह हुआ कि उसका स्वास्थ्य बिगड गया है।

वह कक्षा में पहुँची तो बालिकाओ ने आपस में कानाफूसी की और फिर एक छोटी लड़की ने कहा—"बहनजी, आज पद्मावती की कहानी पढाइए।" घटा आरोग्यशास्त्र का था, परन्तु बालिकाएँ पद्मावती की कहानी पढने पर तुल गईं और चचला को उनका आग्रह स्वीकार करना पडा।

कहानी आरम्भ हुई और आगे बढ़ी—

"अलाउद्दीन खिलजी की विशाल सेना ने चित्तौड पर घेरा डाल दिया।"

चंचला ने मीमासा की—"कितनी क्रूरता ! क्या अधिकार था उसे पद्मिनी को माँगने का ? इसी प्रकार सदैव पुरुषो ने स्त्रियो पर अत्याचार किये हैं। घर के पुरुषो ने बचाया तो बाहर के पुरुषो ने नाश कर दिया और बाहर के पुरुषो से बची तो घर के पुरुषों ने जीवन भार बना दिया ! . "

कहानी और आगे बढी—

" सब स्त्रियो ने महल में एकत्र होकर उसमें आग लगा ली। महल धू-धू करके जलने लगा। उसके अन्दर ज्वाला का आवाहन और स्वागत करने के लिए चित्तौड की वीर रमणियाँ नृत्य और गान मे मग्न थी "

चंचला की मीमासा भी आगे बढी—"और यह है चित्र नारियो का, जो अबला कही जाती है, जो सर्वथैव दासी मानी जाती है, जिनका सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है, जिन्हे पुरुष अपने खेलने का खिलौना मात्र

मानता है, जिन्हे अपनी इच्छा के अनुसार नचाना पुरुष अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है ''

एक छात्रा ने कहा—"परन्तु बहनजी, पुरुषो ने भी तो उतनी ही वीरता से, हँसते-हँसते प्राण दिये ?"

दूसरी छात्रा बोली—"यह युद्ध भी तो सभी की मान-रक्षा के लिए ही हुआ था ?"

इतने मे समय-समाप्ति का घटा हो गया। चचला यह कहकर चली गई कि इस कहानी को कल पूरा करेगे।

वह दूसरी कक्षा मे गई तो उसने देखा एक नई छात्रा आई है और वह सबसे अलग थोड़े अन्तर पर बैठी हुई है। चचला ने उसका नाम और निवास आदि पूछने के पश्चात् पढाना आरम्भ कर दिया। उस छात्रा के पास पुस्तक नही थी, अत' चचला ने उससे दूसरी छात्रा के पास बैठकर उसकी पुस्तक में देखने को कहा। बालिका ने उत्तर दिया—"मै यही बैठी हूँ। कल तो पुस्तक आ जायेगी।"

"परन्तु दूसरी छात्रा की पुस्तक देखते जाने मे कोई हानि है ?"

बालिका कुछ खिन्न हो गई। उसने कोई उत्तर न दिया।

एक छात्रा ने उससे कहा—'मेरे पास आ जाओ।"

दूसरी छात्रा बोल उठी—"मेरे पास जगह है।"

बालिका ने एक बार लज्जा के भाव से छात्राओ की ओर और फिर चंचला की ओर देखा। बाद मे खिन्नता के साथ कहा—"मै हरिजन हूँ।"

पता नही, सबने सुना अथवा नही, परन्तु चचला के कानो में ये शब्द अवश्य पहुँचे और उसने विस्मय के साथ पूछा—"क्या ?"

बालिका बिना उत्तर दिये वैसे ही बैठी रही।

एक छात्रा चुपके से उठी और उसके पास जा बैठी। शेष छात्राओ ने उसके ही पास से पंक्ति बना ली।

चंचला ने कविता पढनी शुरू की—"एक हरिजन बालक की फरियाद।"[१] आज उसका पढाना बहुत मर्मस्पर्शी था। आज की जैसी भावुकता उसके पढ़ाने मे पहले कभी न उतरी थी। कक्षा में एक प्रकार के त्वेशका का

---

१. मन्दिर से मै दूर खडा हूँ, नाथ, निकट आऊँ क्यो कर ?
सुनता हूँ, है मूर्त्ति मनोहर, पर दर्शन पाऊँ क्यो कर ?

वातावरण छा गया। एक बालिका ने कहा कि यदि हम मनुष्य के प्रति ऐसा अमानुषिक व्यवहार करते हैं तो परमेश्वर हमें कभी क्षमा न करेगा।

विद्यालय का समय समाप्त हुआ तो चंचला भारी हृदय से अपने कमरे को लौटी। उसके सामने अनेक समस्याएँ घूम रही थीं और उसे उनका कोई हल सूझ न पड़ता था। वह सोच रही थी कि यदि आज निर्मला यहाँ होती तो कितनी सहायता मिलती! उसने अपने बापू की याद की—अह! बापू! आप आज जीवित होते तो मै आपके चरणो पर अपना सिर रखकर और अपने-आपको आपके ऊपर छोडकर कितनी निश्चिन्त हो जाती!

उसने पुस्तकें रखीं और खिडकी से बाहर देखती हुई चिन्तामग्न हो गई। इसी बीच पीछे से किसी ने चुपके-चुपके आकर उसकी आँखें मूँद लीं। उसने अपने को सँभालकर कई नाम लिये, परन्तु आँखें न खुलीं। अब उसने आँखें मूँदने वाली के शरीर पर हाथ फेरा और उसका चेहरा खिल उठा। उसने पूर्ण विश्वास के साथ कहा—"निर्मला!" और आँखो पर से हाथ हटा दिये।

निर्मला ने हँसते हुए कहा—"कैसे पहचान गई।"

चचला ने उत्तर दिया—"देवता मेरे कानो में कह गये!"

दोनों हर्ष से फूली नही समाती थीं। चचला ने पूछा—"वहाँ से कब आई?"

कहते हैं—"अछूत लोगो को दर्शन का अधिकार नही,
तेरे लिए देव-मन्दिर का खुल सकना है द्वार नही।"

यदि मै भीतर आऊँ तो क्या नाथ करोगे मुझ पर कोप?
अथवा मेरी छूत के डर से इस मन्दिर से होगे लोप?
करुणानिधि! क्यो दिया आपने मुझ बालक को ऐसा शाप?
"यदि पवित्रता को भी छू दूँ तो उसको लग जावे पाप!"
इस मन्दिर से मै निराश हो घर को लौटा जाता हूँ!
दर्शन-अमृत-अभिलाषा का मृगतृष्णावत पाता हूँ!
है सकीर्ण बहुत ये मन्दिर, बहुत कडे इनके बन्धन,
फिर स्वतत्र हो महि पर विचरो, हम भी चरण छुएँ भगवान्!

छोडो यह अस्पृश्य शुद्धता, मन्दिर से बाहर आओ!
बहुत रहे ऊँचे लोगो मे, अब नीचो के घर आओ!
—श्री 'निवेदक'—गुलदस्ता भाग १ से उद्धृत।

"अभी चली ही आ रही हूं ।"

"पहले से समाचार भी नही दिया ?"

"अकस्मात् काकाजी का तार मिला । उन्होने तुरन्त बुलाया था ।'

"क्यो ?"

"फिर बताऊँगी ।"

"अच्छा । मगर अभी-अभी मै तेरी ही याद कर रही थी, निर्मला ! कितना अच्छा हुआ ! कितनी बडी आयु है तेरी !"

"किस लिए याद कर रही थी ?"

"बहुत-सी बाते है । तू भगवान् की भेजी हुई-सी आ गई । परन्तु पहले स्नान-भोजन आदि से निबट लो, फिर सब बाते करेगे । तुम्हे शीघ्रता तो नही है ?"

"नहीं, मै काकाजी से मिल आई हूं । उन्होने दुपहर को फिर बुलाया है ।"

"अच्छा, तो चलो ! कपडे निकालो ।"

३४

वज्राघात

जब दोनो सखियाँ भोजनादि से निवृत्त हो गई तो उनके बीच इतने दिनो की सारी बातें हुई, यद्यपि यह बात निर्मला ने अब तक नही बताई कि 'काकाजी' ने उसे क्यो बुलाया है।

अन्त में चचला ने कहा—"काकाजी ने आज ही सायकाल उत्तर माँगा है। मै क्या कहूँ, निर्मला ?"

"मेरा तो निश्चित मत है कि अब तुम्हे विवाह कर लेना चाहिए। विवाह करने से तुम सुखी होगी।"

"तुम्हारी बातें बुद्धिगम्य तो हैं, परन्तु हृदय डरता है। मै विवाहित जीवन का दायित्व न उठा सकूँगी। अपनी महत्वाकाक्षाओ और भावनाओ की हत्या मुझसे सहन न हो सकेगी।"

"तुम ससार की ओर ग़लत दृष्टि से देखती हो, चचला! जिनकी तुम सेवा करना चाहती हो उनकी दुरवस्था ने यदि तुम्हे इतना भयभीत कर दिया है, तो तुम सेवा कर ही कैसे सकोगी ? सेवक के हृदय में केवल एक ही भय हो सकता है और वह है, सेवा से वचित होने का। तुम्हारी मनोवृत्ति तुम्हे सेवा से ही दूर कर रही है। मुझे आशंका है कि यदि तुमने अब भी अपने आपको न सँभाला तो तुम अपने ही हाथो अपने सब मनोरथो को नष्ट कर डालोगी।"

"कैसे ?"

"वर्षों से तुम इसी उधेड-बुन मे लगी हो कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं ? आज तक न तुम किसी निश्चय पर पहुँच सकी और न किसी ठोस काम की ओर अग्रसर ही हुईं।"

"अब तक तो मैं पढती ही रही ?"

"तुमने पढने में भी पूरा चित्त लगाया ? तुम्हारा ध्यान सदैव बँटा हुआ नही रहा ? परमेश्वर ने तम्हे जो असाधारण प्रतिभा दी है उसका पूरा

उपयोग तुमने किया? यह हुई है वास्तविक हत्या, महा भयंकर और गर्हणीय हत्या! . .."

"मेरी जैसी परिस्थितियों में और क्या सम्भव था?"

"सब की परिस्थितियों में कोई-न-कोई गुत्थी होती ही है। उसे पराक्रम से सुलझा लेनेवाले ही ससार मे कुछ कर पाते है।"

चचला को प्रतीत हुआ कि वार्तालाप आवश्यक विषय से दूर हो रहा है, या उसने ऐसा मान लेना सुविधाजनक समझा। अतएव उसने कहा—

"परन्तु इन सब बातो से मूल प्रश्न का क्या सम्बन्ध ?"

"मूल प्रश्न के हल न होने से ही तुम्हारी यह स्थिति रही है। हृदय की अदम्य और शाश्वत माँगो को क्षणिक परिणामकारी ठोकरो की पुनरावृत्ति से दबाया नही जा सकता। समय पाकर वे दूने वेग से उभडती है। या तो उन्हे पूरा किया जाये, या फिर योग की अग्नि में भस्म कर दिया जाये। नही तो वे स्वय अपने आलम्बन को भस्म कर देंगी।"

"मै उन्हे भस्म कर दूँगी।"

"मै तुम्हे अधिक जानती हूँ। तुम उन्हे भस्म करने की शक्ति प्राप्ति करने का विचार ही करती रहोगी, और वे तुम्हे भस्म कर देंगी।"

"तुम मुझे प्रभावित करना चाहती हो।"

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है। परन्तु मै मान भी लूँ कि तुम उसमें सफल हो जाओगी, तो भी अस्वाभाविक बनने की क्या आवश्यकता? प्रेम से पूर्ण, स्निग्ध, सुन्दर और सरल जीवन के अवसर को ठुकराकर, रूक्ष और अनुर्वर जीवन को अपनाने में क्या आनन्द ?"

"मै दलितो से, दीनो से, दुखियो से प्रेम करूँगी।"

"हाँ, यह हो सकता है; परन्तु मन के पीडित होने पर प्रिय के नही, प्रियतम के शीतल कर-स्पर्श की आवश्यकता होती हे। तुम कैसे अनुभव कर सकती हो, चचला, कि वह स्पर्श कितना शान्तिदायी, उन्नयनकारी प्राणप्रद होता है!"

"और बच्चो का भार? उनका तिरस्कार? तिरस्कृतो की अभिवृद्धि?"

"बच्चे कही भार होते है, बहन! क्या तुम अपने माता-पिता के लिए भार थी? क्या एक के बाद दूसरे दिन, लगातार उन्होने तुम्हारी हँसी और तुम्हारे प्यार से अपने श्रम का परिहार नहीं किया? और तुम्हारा तिरस्कार होने से उन्हे सारे समाज को ऊपर उठाने का अक्षय, अक्षुण्ण, अविरल उत्साह प्राप्त नहीं हुआ? बच्चे तो प्रेम के फूल और फल है। लोग उनके लिए मनौतियाँ

मनाते है, तपस्या करते है—और यदि तुम भी अपने हृदय को टटोलकर देखो तो उसके अन्दर बच्चो का प्रेम, उनकी लालसा छिपी हुई पाओगी। यदि ऐसा न होता तो अभी से तुम्हे उनके अपमान और तिरस्कार की चिन्ता क्यो होती ? अपनी प्यारी वस्तु की हानि सहने मे ही तो मनुष्य असमर्थ होता है ? और, अपमानितो की अभिवृद्धि का प्रश्न भी उदारतापूर्ण नही है। यदि कोई हमारे वृक्ष पर पत्थर फेंकता है तो हम न उस वृक्ष को काट देते है और न दूसरे वृक्ष लगाना बन्द करते है। यदि कोई हमारे ऊपर कीचड़ उछाले तो हम घर मे बन्द नहीं हो जाते। यदि ऐसा करें तो कायरता होगी, पराजय की मनोवृत्ति का परिचय देना होगा। बुद्धिमान् और वीर परिस्थितियो से ऐसे भागते नही, डटकर उनका सामना करते है।"

"तुमने पीडक और पीड़ित की शक्ति का अन्तर महसूस नही किया।"

"वीर अन्तर का विचार नही करते। वे उचित मार्ग पर चलते हुए केवल अपने को कर्तव्य पर आरूढ करते है। हुतात्माओ का जो रक्त उनके अस्थि-चर्म से अधिक प्रबल होता है, चचला ! वह व्यर्थ नही जाता।"

"तो तुम मुझे हुतात्मा बनाना चाहती हो !"—चचला ने हँसकर कहा।

निर्मला ने कुछ हँसकर कुछ गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"मुझ में क्या शक्ति कि मै किसी को कुछ बना सकूँ ? परन्तु मै जानती हूँ कि तुम्हारी जैसी युवती को वीर बनना ही होगा। बिना वीरता के तुम एक पग भी आगे न बढ़ सकोगी। और वीर भ्रान्तिपूर्ण बातें सोच सोचकर अपने जीवन को अकर्मण्य तथा दु.खमय नहीं बना सकता।"

अन्त में चंचला को स्वीकार करना पड़ा कि विवाह उसके लिए कल्याणकारी होगा। घड़ी का काँटा डेढ़ पर पहुँच चुका था अतः निर्मला ने स्मरण कराया कि तुम्हारा विद्यालय का समय हो चुका है, अब जाओ। चचला ने कहा कि मुझे तुम से बहुत बातें करनी है अत. आज मैने छुट्टी ले ली है। और उसने कहा—

"जीवन और कलकत्तेवाले महाशय के बीच चुनाव का प्रश्न ?

निर्मला ने उत्तर दिया—"मै तो मानती हूँ कि तुमने जीवन के प्रति बहुत अन्याय किया है। अब तुम बनाना भी चाहो तो उसके साथ बात शायद ही बनेगी।"

"तुम सदा यही आरोप करती रहती हो। मैंने क्या अन्याय किया है ?"

"आगरे की बाते तुम्हें स्मरण नही है ?"

"तो ग्वालियर जाकर हमने प्रायश्चित्त नही किया ?"

"प्रायश्चित्त तो तुमने नही किया। प्रत्येक बात का तुम विरोध ही करती रही।"

"मगर उन्होने न आकर क्या किया ?"

निर्मला कुछ मुसकरा दी। 'उसने' से 'उन्होने' तक की प्रगति उसे बहुत मीठी मालूम हुई। उसने चचला को छेडकर कहा—"उसने" ही कहो "उन्होने क्यो ?"

चचला ने रूठकर कहा—"अब यदि तू इन बातो पर उतरेगी तो मै बाते बन्द कर दूँगी।"

निर्मला ने मनाते हुए कहा—"अच्छा छोडो। तो, मै अबतक नही मानती कि वह न आया होगा। तुमने उसे ठीक तरह से गाडियो मे देखा ही नही। बेचारा तुम्हारी खोज मे भटकता फिरा होगा।"

"नही, वह आया ही नही।"

"तो भी मै उसे दोष नही दे सकती। तुमने आगरे में उसका जो अप-मान किया वह उसका हृदय टूक-टूक कर देने के लिए पर्याप्त था।"

"पिछली बातो को छोडो। आगे क्या किया जाये ?"

"अब क्या सोचना है ?"—निर्मला ने एक बार फिर छेडा—"कलकत्ते के हरीश बन्दोपाध्याय महाशय तैयार है।"

"देखो, सीधी बात करो, निर्मला ! बार-बार व्यग्य मत करो।"—चचला ने फिर वैसे ही तिनककर कहा।

और निर्मला ने स्पष्ट देखा कि चचला के हृदय मे जीवन के प्रति पुराना अनुराग नष्ट नही हुआ है। केवल उस पर धूमिलता छा गई है, जो सरलता से दूर हो सकती है। अतः उसने कहा—

"बात कठिन हो गई है, पर अब भी असम्भव नही दीखती। तुम जीवन से एक बार मिल आओ। चाहो तो मै तुम्हारे साथ चलूँगी।"

"उसे यहाँ बुलाया जाये तो ?"

"यह ठीक न होगा। ग्वालियर जाने से हमें बहुत सी बातें सरलता से मालूम हो सकती है। हम उस लडकी से भी मिल लेंगे।"

"तो मै काकाजी से यही कह दूगी।"

बात समाप्त होते-होते ढाई बज गये। निर्मला सेठजी के पास चली गई और चचला एकान्त मे बैठकर अपने भविष्य का नया चित्र बनाने लगी।

परन्तु सेठजी के सामने ये सब बातें मुह से कैसे निकलेंगी ?

अतएव उसने पत्र लिख देने का निश्चय किया और लेखन आरम्भ हो गया—

"पूज्य काकाजी ! मै . "

और जया ने दौडते हुए आकर उसकी लेखनी रोक दी। उसने समाचार दिया कि काकाजी अकस्मात् बहुत बीमार हो गये है। प्राणो को खतरा है !"

चचला पर मानो एकाएक बज्रपात-सा हो गया। पत्र जहाँ का तहाँ रहा और वह तत्काल उठकर दौडती-हाँफती हुई विद्यालय पहुँची। समाचार सच था और सब के मुखो पर उदासी छाई हुई थी।

उस दिन उसी समय विद्यालय में एक सत का प्रवचन था। सब छात्राएँ और कार्यकर्तागण सभा-भवन मे एकत्रित हो रहे थे।

सत पधारे। उन्होने व्याख्यान आरम्भ करके एक-दो वाक्य ही कहे थे कि सेठजी के यहाँ से उनके लिए बुलावा आ गया। सत यह कहकर चले गये कि सेठ गगाप्रसाद का स्वास्थ्य अकस्मात् बहुत खराब हो गया है। डाक्टरो का कहना है कि उनके मस्तिष्क की कोई नस फट गई है और हम सब पर दुख का महासागर उमड रहा है।

सेठजी का आदेश था कि जब तक अनिवार्य न हो, ससार की घटनाओ से प्रभावित होकर अपने नियमित कार्य में व्याघात न पडने दो। अतएव यह सम्भव नही था कि आश्रम के लोग उन्हे देखने के लिए दौड़ पडते। अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार प्रार्थना-मात्र करना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात रह गई।

चचला अपनी सब समस्याओ को क्षण-भर के लिए भूल गई। उसका सारा ध्यान सेठजी के स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रार्थनाएँ करने में लग गया ! — भगवान् उन्हे प्राणदान दो ! स्वय उनके लिए नही, तो उन सहस्रो व्यक्तियो के लिए जो उन्हे अपना एकमात्र आश्रय मानते है, उनके प्राणो की रक्षा करो ! अभी तो वह ५० वर्ष से थोडे ही ज्यादा है ! उनके ससार में रहने से तुम्हारी इच्छा तो पूर्ण होती है ! सत् के प्रचार और असत् के निवारण का कितना महान् कार्य वह कर रहे है ! भलो को ले जाकर पृथ्वी की इतनी भारी क्षति करने में तुम्हे क्या आनन्द मिलेगा, प्रभो !

और उसकी अन्तरात्मा कभी कहती कि काकाजी अवश्य अच्छे हो जायेगे, कभी उसके अन्दर से आवाज आती—भले ही तो शीघ्र जाते है, कौन जाने भगवान् की क्या इच्छा है ! कौन जाने हमारे हृदय की करुण प्रार्थना उसके कानो तक पहुँचती है या नही !

बाहर कोलाहल बढ गया । वह सहम उठी । उठकर देखने का साहस नही था—कही अशुभ समाचार ! परन्तु उसने अपने मन को झिडक दिया—ऐसा अशुभ विचार ही क्यो !

कोलाहल बढता ही गया । दौड-धूप होने लगी । वह भीत होकर उठी । और उसका मन फिर अशुभ कल्पनाओ की ओर दौडा और उसने उसे फिर दाब दिया—ऐसा कैसे हो सकता है ? ११ बजे तो निर्मला मिलकर आई थी ! तब तो वह बिल्कुल स्वस्थ थे !

बाहर से एक बालिका आँसू पोछती हुई आई । चचला का रहा-सहा धैर्य भी अब टूट गया । अवश्य अनहोनी हो गई !

बालिका ने कहा—"बहन जी !" और उसका गला रुँध गया ।

चचला को विश्वास हो गया । उसके पैरो के नीचे की धरती जैसे खिसकने लगी । फिर भी उसने अपने विचारो को रोका और धैर्य एकत्रित करके डरते-डरते बालिका से पूछा—"क्या हुआ ? रोती क्यो हो ?"

वह उत्तर नहीं चाहती थी । कही कोई अवाछित उत्तर न मिल जाये ! परन्तु फिर भी वह उत्तर चाहती थी—

बालिका ने कहा—"काका जी! . "

चचला पर वज्र टूट पडा । उसने सँभलते हुए पूछा "काका जी ..क्या ?"

"काका जी. .. नही रहे !"—और बालिका बाँध को तोडकर फूट पडी ।

चचला उद्भ्रान्त होकर दौड पड़ी !

बाहर अध्यापक गिरधर कह रहे थे—विश्वास नही होता ! सुषमा देवी ने उत्तर दिया—फिर भी, सत्य तो सत्य ही हे, भाई !

चचला दीवाल से टिक गई । उसके अन्दर-बाहर अधकार छा गया, जिसमें उसने सुना—

"वह हजारो के पिता थे ! सब अनाथ हो गये !"

विराट् एव कातर जन-समुदाय की उपस्थिति में चिता की लपटे आकाश को छूने लगी । जो कुछ ही घटो पूर्व तक अपने मन्द स्मित और मधुर वाणी से लोगो के हृदयो में आशा का संचार कर रहे थे, उनका स्थूल शरीर चन्दन की चिता मे भस्म हो गया ।

३५

सेवक और सेव्य

जीवन रात्रि को सो नही सका। सम्पूर्ण रात्रि किसी उलझन को मिटाने में जागते-जागते ही व्यतीत हो गई। प्रातःकाल वह उठा तो चारो दिशाओ के सौन्दर्य ने उसे आकर्षित किया। वह नदी के तट पर जाकर उसमें अपने अन्तरतर की वेदना के लिए किसी दिव्य आलेप के अन्वेषण में निरत हो गया, परन्तु उसे कही सान्त्वना प्राप्त न हुई। नदी की लोल लहरें, बालसूर्य की अरुण रश्मियाँ और चारों ओर की वनराजि, जिनसे उसे सदा अलौकिक आनन्द और स्फूर्ति की उपलब्धि होती थी, आज उसके हृदय को आश्रय देने में असमर्थ रही और वह अपने ही अन्तर के भावो में बहने लगा।

इतनी व्याकुलता क्यों? क्या तुमने धूप और छाँह नहीं देखी? सूर्य और चन्द्र का ग्रहण एव पुनः उग्र होना, समुद्र का ज्वार और भाटा, झंझावात और स्निग्ध मलय पवन क्या तुम्हारी दृष्टि से कभी नहीं गुजरा? क्या तुमने इतिहास और पुराण, अंकगणित और रेखागणित, भूगोल और खगोल कभी नही पढ़ा? क्या तुमने उत्थान और पतन के दृश्य कभी नही देखे? क्या तुम जीवन और मरण का अर्थ भूल गये? फिर यह आकुलता क्यो? तुम्हारी विशालता, उदारता और दृढ़ता आज कंपित क्यों हो रही है? तुम्हारे अन्तर में ज्वालामुखी है और तुम हिम की निगूढ शीतलता से आच्छादित हो! तुम्हारी वह प्रस्तरमयी शीतलता द्रवित क्यों हो गई? तुम्हारा वह ज्वालामुखी शीतल क्यों होने लगा?

× × ×

नही, मै उसे नहीं भूल सकता! मेरे शतश. प्रयत्न व्यर्थ होते जाते है। परन्तु मै उसे भूल जाने का प्रयत्न ही क्यो करता हूँ? क्या उसकी

स्मृति को निरन्तर अपने मन प्राण मे सचित किये हुए मै सेवा का कार्य नही कर सकता ? क्या उसके ही प्रेम के आकर्षण से मेरे जीवन मे यह परिवर्तन नही हुआ ? उसे अपने पार्श्व मे प्राप्त करने की आतुरता क्यो ?

क्यो ? अह ! फूल कितना सुन्दर होता है, कितना कोमल ! पौधे पर खिला हुआ वह कितने मनुष्यो के मुरझाये हुए हृदयो को हरा-भरा बनाता है। परन्तु मनुष्य इससे सन्तुष्ट नही होता। स्वार्थ के वशीभूत होकर वह उसे निर्दयतापूर्वक तोड लेता है। वह उसका स्वामी बन जाता है। अह ! स्वामित्व ! तेरी कल्पना अवश्य ही किसी हताश की चिता-भस्म पर उभारी गई होगी। तेरा दूसरा नाम होना चाहिए विनाश ?

स्वामित्व और रक्षा ? नही, स्वामित्व और भोग ! स्वामित्व और बदी-गृह ! स्वामित्व और छीना-झपटी ! स्वामित्व और सघर्ष ! स्वामी, तू जिसे अपनी सम्पत्ति कहता है वह तेरे पाश मे फँसने के पूर्व कितनी स्वच्छन्द और कितनी प्राणप्रद, प्राणवान थी ! कितने उसका उपयोग करके कृतार्थ होते थे ?

और वही स्वामित्व मै भी चाहता हूँ। क्या मनुष्य के प्रेम का पर्य-वसान स्वामित्व मे ही होता है ? बिना स्वामित्व के तुष्टि हो ही नही सकती ? क्या सुन्दर फूल को देखकर तोडना ही आवश्यक है ?

चन्द्र ! क्या तू भी अपनी सहस्र-सहस्र रश्मियो से अमृत-वर्षा करता हुआ स्वामित्व चाहता है ? ग्रह नक्षत्रो ! क्या तुम भी स्वामित्व चाहते हो ?

और मै ? मै क्या स्वामित्व चाहता हूँ ? नही, मै तो अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता हूँ।

परन्तु जीवन की पूर्णता के लिए क्या उसे प्रत्यक्ष, स्थूल रूप मे प्राप्त करना आवश्यक है ? मै अपने जीवन को पूर्ण करने के लिए उसके जीवन को मर्यादित कर दूँ ? आज उसका जो प्रेम समस्त विश्व को मिलता है उसे केवल अपने पर केन्द्रित करा लूँ ? उसे उसके स्वीय जीवन से पृथक् करके अपना सुख-दुःख, अपने आदर्श-उद्देश्य, अपनी आकाक्षाए-महत्वाकाक्षाएँ उस पर लाद दूँ ?

हाँ ! यही तो मार्ग है ! इसका ही अनुसरण तो राम और कृष्ण तक ने किया ! यह स्वामित्व नही, आदान-प्रदान का शान्त, स्निग्ध, शीतल आयो-जन है ! आत्मसमर्पण और आत्मव्याप्ति का गुरुमत्र है।

किन्तु आदान-प्रदान तो दोनो पक्षो से होता है। यदि कही उसे स्वीकार न हो !

क्या यह हो सकता है ?

क्या यह नही हो सकता ?

× × ×

मेरे जीवन मे उसका आगमन उदीयमान सूर्य की भाँति हुआ था। सूर्य समस्त ससार को प्रकाश और ओज प्रदान करता है, किन्तु मेरे प्रकाश की किरणे उसके साढे तीन हाथ के देदीप्यमान शरीर से आती थी—उसी में मेरी प्रतिभा थी, उसी में मेरी शक्ति।

अब क्या वह मेरे पास से चली गई है ? यह मेरी चारो दिशाओ में अक्षय अमावस्या की सी तमिस्रा क्यो छा गई ?

तिमिराच्छन्न रजनी को प्रकाशित करने के लिए असख्य तारागण अपनी-अपनी शक्ति का प्रयोग किया करते है, किन्तु कितना व्यर्थ होता है उनका प्रयास ! तारक, तुम कितने महान् हो ! जब अखिल सृष्टि सूर्य के प्रचण्ड तेज के प्रति नतमस्तक होती है, तब तुम अपने-आपको छिपा लेते हो और उसकी प्रतिष्ठा में हिस्सा बँटाने का अहकार-युक्त प्रयास नही करते। जब चन्द्र की विमुग्धकारिणी चन्द्रिका विश्व के वक्षस्थल पर अठखेलियाँ करती है तब तुम उसकी प्रभुता एव श्रेष्ठता को स्वीकार कर मुखमण्डल पर झीनी ओढ़नी ओढ़ लेते हो। परन्तु, अमावस्या को घोर अँधियारी में पथिक को मार्ग बतलाने और भूले-भटके हुए को घर पहुँचाने में अपनी स्वल्प ज्योति का सदुपयोग करते हो !

परन्तु क्या तुम मेरी अमावस्या को समुज्ज्वलित कर सकोगे, तारक ? मेरे सिर पर घटाएँ छाई हुई है, मेरा पथ बीहड़ है, क्या तुम मुझे घर पहुँचा सकोगे, तारक ?

छि. ! तारक ! ऐसा अहकार-युक्त प्रयास न करना ! मेरी रात्रि को प्रकाशित करने के लिए चन्द्र की ही आवश्यकता है ! और वह मुँह मोड गया है ! परन्तु वह फिर आयेगा, समय हो जाने पर वह फिर लौटेगा। मेरे घर में पूर्णिमा छिटकेगी—प्राणद, अरुण प्रभात भी खेलेगा !

हाँ ! यह मेरा आशावाद ही है। आशा जीवन का नव-प्रभात है। पवन के शीतल, मन्द झकोरो से जब वह सोये हुए मनुष्य को हौले-हौले थपकियाँ देकर जाग्रत करती है, तभी तो मनुष्य नवजीवन प्राप्त करता है। वह फिर से अपनी पराजय को विजय मे परिणत करने के लिए प्रयत्नशील होता है। मध्याह्न से गुजरता हुआ वह जब सध्या की गोद मे पहुँचता है, तब फिर प्रभात की ओर टकटकी बाँधता है। बारबार सध्या आती है, रात्रि भी आती

है, किन्तु निराशा का सदेश लेकर नही, आशा के नव-प्रभात मे जाग्रत करने के लिए, नवजीवन प्रदान करने के लिए, अरुण राग-रजित विश्व के दर्शन कराने के लिए !

× × ×

मै उसके लिए तपस्या करूँगा—अपने रोम-रोम को उसकी स्मृति मे, उसकी आराधना में उत्सर्गित कर दूँगा । वह आयेगी—मेरी वीणा की झकार उसके कानो में पहुँचे बिना रह नही सकती । पवन के रथ पर बैठकर सरिता की तरगो में कल-कल करती हुई, पक्षियो के सुरम्य सगीत मे प्रस्फुटित होती हुई, खिले हुए फूलो के साथ हास-परिहास करती हुई वह मुझे दिखलाई पडेगी ।

किसी मगलमय प्रभात मे ग्राम के ये सरल, प्रेमी निवासी आह्लाद से पुलकित होकर दौड़ते-भागते मेरे पास आयेंगे और सन्देश देंगे—वह आ गई ! उसका असीम, पक्षपातहीन, नि स्वार्थ प्रेम पाकर ये भोले ग्रामीण विभोर हो उठेंगे । यहाँ अहर्निश आनन्द मनाया जायेगा । मेरी कुटिया आनन्द से व्याप्त हो जायेगी !

× × ×

तपस्या ? किसके लिए तपस्या ? किस लिए तपस्या ? कैसी तपस्या ? मनुष्य मनुष्य की प्राप्ति के लिए तपस्या करे ? दो पंचभूतो का पार्थिव व्यवधान दूर करने के लिए तपस्या ? क्या दूर रहते हुए भी, स्थूल दृष्टि से परे होते हुए भी आत्माएँ एक नही हो सकती ? जीवन-भर दर्शन और स्पर्शन न होने पर भी किसी व्यक्ति के साथ एकात्म्य अनुभव करने के उदाहरण क्या संसार मे कम है ?

सान्निध्य मे सन्तोष है—सन्तोष मृत्यु का दूसरा नाम है । क्या मै अपनी मृत्यु की कामना करूँ ?

दूरत्व मे लालसा है, वेदना है, अतृप्ति है—यही जीवन है, यही जाग्रति है । मै निरन्तर इसकी कामना करूँगा । मेरे प्राण विशाल से विशालतर होते हुए निरन्तर उसके समीप पहुँचने का प्रयत्न किया करेंगे । मेरे प्राणों का विकास होगा, मेरा विकास होगा, और आनन्द से मेरा जीवन ओतप्रोत हो जायेगा । सृष्टि में भिदे हुए उसके प्राण, उसका श्वास, उसका स्पर्श आनेवाला पवन, सब मुझे उसकी कहानियाँ सुनाया करेंगे । मेरे आसपास, अन्दर-बाहर, सर्वत्र वह समाई रहेगी । वह निकट रहती हुई भी दूर और दूर रहती हुई भी निकट रहेगी । इससे अच्छी स्थिति और क्या हो सकती है ?

परन्तु, यदि वह स्वय न माने ? किसी शुभ प्रातर्वेला में यदि वह पैदल चलकर, नदी, पर्वत, जंगल पार करती हुई, ग्रीष्म, शीत और वर्षा के निर्दय आक्रमण सहती हुई, पैरों में छिदे हुए काँटों को निकाल-निकालकर, दौड़ती-हाँफती मेरे पास आकर खड़ी हो जाये और कहे—"अब तुम्हारे इस ग्राम-कार्य में मै भी तुम्हारा हाथ बँटाऊँगी" तो ? तो, मै आह्लादित होकर, प्रेम की पूर्ति मानकर, परमेश्वर का वरदान समझकर, अपने-आपको उसमें समाहित कर दूँगा ।

क्या इस प्रकार मै सन्तोष का वरण न करूँगा ? हाँ, वह सन्तोष अवश्य होगा, किन्तु उसमें आत्म-समर्पण की भावना जीवन की ज्योति को जाग्रत रखेगी । आत्म-समर्पण में कही मृत्यु होती है ? उसमें सतत कर्मशीलता, कर्तव्यनिष्ठा, हितचिन्ता और जागरूकता निवास करती है । वह पुलिस के हाथ में डाकू का अपने-आपको सौंप देना नही है, प्राणों की उत्कट वेदना, चैतन्य के उत्तरोत्तर विकास और जीवन की तरलता का प्रत्युत्तर है, अनुवाद है ।

तो मै तपस्या नहीं करूँगा । उसकी स्मृति को अपने हृदय-पटल पर अमिट अक्षरो में अंकित किये, अपने मानस में कल्पना की नौका को खेता हुआ, अनन्त काल तक चलता रहूँगा ।

मै और मेरा यह ग्राम—सेवक और सेव्य—यही मेरा लक्ष्य होगा ।

३६

काकाजी की अन्तिम इच्छा

सेठजी का निधन चचला को अपने माता-पिता की मृत्यु से भी अधिक दु खदायी हुआ। 'बापू' और 'अम्मा' के चिर-वियोग के पश्चात् जब उसे सारा ससार अधकारपूर्ण प्रतीत होने लगा था तब सेठजी ने उसे अपनी वत्सल गोद म लेकर उसके हृदय में आशा का उन्मेक किया था और धीरे-धीरे वह उनके प्यार में माता-पिता का अभाव भूलकर बढने और खिलने लगी थी। उसे भरोसा हो गया था कि 'काकाजी' का हाथ सिर पर रहते हुए वह निधडक जीवन की रगभूमि पर विचरण कर सकती है और यदि भूल भी कर जाये तो उसके लिए क्षमा और उसके प्रक्षालन के लिए अवसर की उपलब्धि असम्भव न होगी। सेठजी के चले जाने से उसका यह सारा भरोसा भी चला गया और वह जीवन-सघर्ष मे अपने-आपको अकेली महसूस करने लगी। अब तक उसने जितने मनोरथ बाँधे थे, जितनी अभिलाषाएँ और महत्वाकाक्षाएँ सचित कर रखी थी, उन सब पर उसे पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रयत्न मे कभी वह अपना सारा पराक्रम एकत्रित करके सिर ऊँचा रखने का सकल्प करती, कभी अपनी स्वल्प शक्ति का अनुमान लगाकर निराश हो जाती और सब-कुछ छोडकर साधारण ससार का मार्ग अंगीकृत कर लेने का विचार करने लगती। इस समय उसे निर्मला की सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता थी, परन्तु निर्मला अपने पति-गृह मे अपनी गृहस्थी सँभालने में व्यस्त थी।

कई महीने इसी प्रकार की ऊहापोह मे बीत गये। उसके हृदय पर गुप्त रूप से निराशा और उदासीनता का आवरण पडता गया और अन्त में उसका जीवन यत्र के समान चलने लगा। जो सामने आ जाता उसे कर लेती और मानती रहती कि अन्तिम निश्चय अभी होने वाला है। उसकी प्रतिभा और उसकी कार्यशक्ति में एक प्रकार का गतिरोध उत्पन्न होता गया, जिसे

दूसरे तो देखते ही थे, वह स्वय भी कभी-कभी देख सकती थी, परन्तु उसकी ओर से उदासीन थी।

सेठजी अपने सेक्रेटरी हरिदास को अपना 'मानसपुत्र' बताया करते थे। हरिदास भी इसी हैसियत से उनकी भक्ति और सेवा करते थे। सेठजी की आकस्मिक मृत्यु से उनका जो जीवन-कार्य अवशिष्ट रहा, उसके अतिरिक्त अनेक तात्कालिक कार्य भी अपूर्ण रह गये थे। हरिदास ने इन तात्कालिक कार्यो को पूरा करने का बीडा उठा लिया और अपनी सारी शक्ति तथा योग्यता का उपयोग करके बहुत से कामो को निबटा भी दिया। जो अब भी शेष रहे थे उनमे उन्हे चचला का विवाह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मालूम होता था। परन्तु यह प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण था उतना ही सुकुमार भी था। हरिदास जानते थे कि चंचला और सेठजी के बीच पुत्री तथा पिता का सम्बन्ध था, और यह केवल औपचारिक नही, हार्दिक था। सेठजी के स्वर्गवास के बाद इतने शीघ्र विषय को उठाने का अर्थ चचला को और भी दुःखी मात्र करना होता और इसी आशका से वह इसे टालते चले गये। उधर वह यह भी अनुभव करते थे कि इतने शीघ्र इस प्रश्न को हाथ में लेना शोभनीय न होगा।

परन्तु जब उन्होने देखा और सुना कि चचला के जीवन में उदासीनता घनीभूत होती जा रही है तो उन्होने अपने हृदय को कठोर करके केवल कर्तव्य और अन्तिम परिणाम की दृष्टि से विवाह के प्रश्न को उठा लेने का सकल्प कर लिया।

एक दिन उन्होने चचला से कहा—"काकाजी तुम्हारे और मेरे दोनो के ही काकाजी थे, इसलिए हम दोनो भी भाई-बहन है। क्या मै तुम्हारे सुख-दुःख में हिस्सा बॅटा सकता हूँ ?"

हरिदास भावुक सज्जन थे। उनमें शिक्षा लेने की क्षमता और दूसरो को उपकृत करने की अदम्य महत्वाकाक्षा थी। वर्षो तक सेठजी के सम्पर्क मे रहने से उन्होने उनके अनेक गुण अपने में उतार लिये थे। सेठजी का उन पर अनन्य विश्वास था और वह उन्हे विकास के यथेष्ट अवसर दिया करते थे। परन्तु, ससार में जैसा होता आया है, छोटी आयु में ही, विश्व-विद्यालय की शिक्षा के बिना, उनका सेठजी के सब कार्यो का उत्तरदायी हो जाना और बहुत से कार्यो का सूत्र अपने हाथ मे रखना, अनेक व्यक्तियो को सहन न हुआ। अतएव उनके विरुद्ध ईर्ष्या और द्वेष का वातावरण उत्पन्न हो गया। बहुत कम लोग उनके हार्दिक मित्र और सच्चे हितैषी थे। परन्तु

हरिदास का प्रभाव इतना था कि कोई उनके मुँह पर उनके दोष बताने का साहस न करता और यदि कोई कभी कर ही बैठता तो वह अपनी व्यवहार-कुशलता से उसे निरुत्तर कर देते। हरिदास अपनी स्थिति को भली भाँति समझते थे और उसे कौशल के साथ सँभालते हुए, बिना थके, बिना हारे, क्रोध का उत्तर सदैव मुसकराहट से देते हुए आगे बढते जाते थे।

सामान्य लोगो के समान ही चचला के हृदय मे भी उनके लिए कोई स्नेह न था। परन्तु आज जब उसने उनका प्रश्न सुना तो उसे डूबते हुए सहारा जैसा प्राप्त हुआ। उसका निराश और पीडित हृदय उमड पडा। एक क्षण के लिए उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वरदात्री महामाया अपने दोनो हाथ बढाकर उसे आशीर्वाद देने के लिए प्रस्तुत हो। उसका खोज-निरत मन जैसे सहसा कुछ पा गया।

परन्तु दूसरे ही क्षण निराशा ने उसे फिर धर दबाया। उसके सामने संसार अपने प्रवचनापूर्ण रूप में प्रकट हुआ और वह इस "सु" और "कु", सत् और असत्, आशा और निराशा, सहृति और विहृति के भावो में डूबती-उतराती हुई साहस करके बोली—

"क्या सचमुच किसी का सुख-दु.ख बँटाया जा सकता है, भाईजी ?"

"अवश्य, बहन !"—हरिदास न उत्तर दिया—"निष्कपट सहानुभूति और प्रेम में असीम शक्ति है।"

हरिदास के कथन में उत्कट भावना और स्पष्ट सत्य का आभास उसे मिला। उसने प्रभावित होकर पूछा—"आप कैसे मेरे सुख-दु.ख को बँटायेंगे ?"

"अभी तो मेरे सामने एक ही बात है—स्वर्गीय काकाजी की इच्छाओ को यथाशक्ति पूर्ण करना। अन्तिम समय में वह तुम्हारे विवाह के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित थे। तुम स्वीकार करो तो उस पुनीत कार्य को मै अपने हाथो में ले लूँ।"

चचला एकदम चौक पड़ी। उसने विस्मय के साथ कहा—"क्या यह समय विवाह की बातें करने का है, भाईजी ! अभी तो काकाजी को गये तीन महीने भी पूरे नही हुए ?"

हरिदास अपनी बात पर दृढ रहे। उनका मन स्वीकार ही नही करता था कि सेठजी ससार से बिछुड गये है। वह मनुष्य की इच्छा-शक्ति की श्रेष्ठता मानते थे। उनका विश्वास था कि सेठजी जीवनमुक्त थे और जीवनमुक्त का निधन कैसा ? वह कहते—सेठजी ने अपने-आपको पूर्णतया जनता जनार्दन के हाथो में सौप दिया था। शरीर रहते वह बन्धन में थे, उनकी शक्ति परिमित

थी, शरीर को छोडकर वह मुक्त हो गये, उनकी शक्ति अपरिमित हो गई। मुक्त, अपरिमित शक्ति प्राप्त कर वह सम्पूर्ण रूप से जनता-जनार्दन मे समा गये है। इस प्रकार वह निरन्तर हमारे बीच मौजूद रहते है। फिर, किसी के हित के कार्य मे उनकी शारीरिक अनुपस्थिति का प्रश्न ही कैसा ?

उन्होंने उत्तर दिया—"यह कार्य करना तो काकाजी की ही इच्छा पूर्ण करना है। इसमें यह आपत्ति नही होनी चाहिए।"

"काकाजी की इच्छा तो अब मेरे लिए दैव की इच्छा के समान पवित्र और मान्य हो गई है, परन्तु भावनाओ का भी तो कुछ प्रश्न होता है ?"

हरिदास को निश्चय था कि वह जो कुछ कर रहे है वह उचित है। उन्होंने उसी धारा में उत्तर दिया—"जिस इच्छा को तुम दैव की इच्छा के समान मानती हो, उसमें तुम्हारी भावनाओ का प्रश्न ही नही रह जाता। तुम्हे केवल इतना विचार करना है कि काकाजी की वह इच्छा थी या नहीं। और इतना तुम जानती हो।"

"हाँ, उनकी इच्छा अवश्य थी और जिस समय उनका देहान्त हुआ, वही समय उन्होने मेरे साथ इस विषय पर अन्तिम बाते करने के लिए निश्चित कर रखा था। इसी सम्बन्ध मे उन्होने निर्मला को तार देकर बुलाया था।"

"और निर्मला ने तुम्हे सब बाते बता ही दी होगी ?"

"सब तो नही, कुछ बातें उसने बताई थी। काकाजी ने उसे दुपहर को और बाते करते के लिए बुलाया था। उससे बाते करदे-करते ही वह बीमार हो गये थे। उनके देहान्त के बाद निर्मला से उस विषय पर क्या बातचीत हो सकती थी ?"

"तब तो काकाजी की इच्छा ही नही, अन्तिम इच्छा भी यही थी।"

"मै क्या कहूँ !"

"तुम 'हाँ' कहो, और मै इस प्रश्न को उठा लूँ।"

"मै काकाजी की इच्छा अमान्य नहीं करूँगी। परन्तु "

"परन्तु कुछ नही। तुम मेरे ऊपर छोड दो। मै काकाजी की इच्छा के विपरीत कुछ न करूँगा। मेरा विश्वास है कि इससे काकाजी की आत्मा को सन्तोष होगा।"

"आप क्या करेंगे ?"

"काकाजी लगभग सभी बातें तय कर गये है। केवल अन्तिम उत्तर शेष था। तुमसे बातें करने के बाद वह अन्तिम स्वीकृति लिख भेजते। यही काम अब मै करूंगा।"

"परन्तु मै उनसे कुछ दूसरी ही बाते करना चाहती थी ।"

हरिदास को भय हुआ कि चचला फिर विवाह के प्रश्न को टालना चाहती है । अत उन्होने उसकी बात सुने बिना ही कहा—

"अपनी बाते तो तुमने उनसे बरसो तक की । अब उनका विचार छोड दो । केवल काकाजी की इच्छा का विचार करो ।"

चचला ने कोई उत्तर नही दिया । हरिदास ने फिर कहा -"हरीश बन्दोपाध्याय के पिता शीघ्रता कर रहे हैं । अब वह ठहरने को तैयार नही हैं । यदि उन्हे तुरन्त स्वीकृति न भेजी गई तो यह अमूल्य अवसर हमारे हाथ से निकल जायेगा ।"

चंचला कुछ तीव्र हो गई । उसने कहा—"तो यह सब बातें आप उनके लिए रर रहे हैं ?"

इन शब्दो का अर्थ हरिदास ने कुछ भी समझा हो, उनके मन मे कोई भी तर्क काम कर रहे हो, उन्होने उत्तर यह दिया—

"काकाजी की इच्छा यही तो थी !"

चचला अवाक् हो गई । उसके मुखमण्डल पर व्याकुलता स्पष्ट दिखलाई पड रही थी । उसे तोडकर हरिदास ने कहा—"काकाजी यदि होते तो यह शुभ कार्य अब तक कभी का हो चुकता ।"

चचला की व्याकुलता और बढ गई । उसने मन-ही-मन सोचा— "और जीवन ? क्या उसका प्रश्न सदा के लिए दूर हो गया ?" और उसने हरिदास से कहा—

"काकाजी की इच्छा मुझे शिरोधार्य है, किन्तु मैं निर्मला को पत्र लिख रही हूँ । उसका उत्तर आने पर ही अन्तिम निर्णय कर सकूँगी ।"

"अर्थात्, निर्मला का निर्णय तुम्हारा निर्णय होगा ?"

"ऐसा मानना अनुचित तो न होगा ?"

"तो मै उन्हे पत्र लिखे देता हूँ । निर्मला के सम्बन्ध मे मुझे विश्वास है ।"

"कुछ दिन ठहर क्यों न जायें ?"

"समय नहीं है, काम बिगड जायेगा ।"

चचला उठकर चली गई और हरिदास ने बन्दोपाध्याय महाशय को स्वीकृति का पत्र लिख दिया । उन्होने उनसे अनुरोध भी किया कि जितने शीघ्र हो सके, सस्कार सम्पन्न कर दिया जाये ।

३७

क्या यही सच है ?

तो, क्या काकाजी यही चाहते थे कि मै जीवन को भूल जाऊँ ? क्या यह सम्भव है ? उन्होने उसके विरुद्ध कभी कोई बात मुझसे नही कही। उलटे, यही सलाह दी कि उसके प्रति अन्याय मत होने दो। उन्होने कहा—ठीक बाते समझ लो, फिर किसी निर्णय पर पहुँचना। उन्होने स्वयं उसकी प्रशसा भी की। तो फिर हरिदासभाई ने कैसे कहा कि नये प्रस्ताव को पूर्ण करना ही उनकी अन्तिम इच्छा थी ? निर्मला से भी तो काकाजी ने बातें की थी। उसने मेरे हृदय की अवस्था से काकाजी को अवगत कराया ही होगा। तब भी काकाजी ने यह निर्णय किया ? काकाजी ! आपने इस मँझधार में मुझे छोड दिया ? मै कैसे जानूँ, आपकी इच्छा क्या है—आप मेरे लिए क्या निर्णय कर गये है ? हरिदासभाई आपकी सब बाते जानते है, और उनका तो कहना है कि यही आपकी अन्तिम इच्छा है ! किन्तु मेरा मन स्वीकार नही करता। ग्रह ! मै सदा की भाँति दौडकर आपके पास आ सकती !

चचला फूट-फूटकर रोने लगी। इसके पूर्व कितने ही अवसरो पर छोटी-छोटी समस्याओ को हल करने के लिए भी वह 'काकाजी' की कुटिया को दौडी थी। कितनी उद्विग्नता से जाती और कितनी शात होकर लौटती ! और आज ? आज जीवन की सबसे बडी समस्या उसके सामने है और उसे ढूँढने पर भी कोई सहारा नही मिलता। 'काकाजी' की कुटिया खाली है और वह अपने जीवन का कठिनतम सघर्ष झेलने के लिए एकाकी छूट गई है ! रोते-रोते आँखें फूल गई। हृदय अविराम गति से 'काकाजी' को पुकारता रहा।

अन्तत उसे प्रतीत हुआ कि उसका रोदन—उसकी आर्त पुकार व्यर्थ नही हुई। 'काकाजी' सशरीर नही है, किन्तु निर्मला तो उनकी साक्षी है।

उसे उन्होने तार देकर बुलाया था और उससे सभी बातें की होगी। वह चर्चा उन्ही दुर्भाग्यपूर्ण क्षणो मे बन्द हुई थी।

तो, निर्मला को क्यो न बुलाया जाय ? परन्तु क्या उसे बार-बार गार्हस्थ्य-दायित्व छुडाकर बुलाना उचित होगा ? उसके सिवा मेरा है कौन ? एकमात्र वही तो मुझे राह दिखा सकती है ! वही तो काकाजी के अन्तिम सदेश की साक्षी बन सकती है ! निश्चय ही वह कहेगी, यह गलत हो रहा है, काकाजी ने किसी को अपने हृदय की हत्या करने को नही कहा ! और अवश्य ही मैं इस हत्या से बच जाऊँगी। मै उसे पत्र लिखूँगी। उसके सामने अपना दिल खोलकर रखूँगी। आवश्यक हुआ तो वह आयेगी। पत्र का उत्तर तो देगी ही।

और चचला आँसुओ को रोककर पत्र लिखने बैठ गई। उसने लिखा—

"मेरी निर्मला,

"यह पत्र देखकर तुम्हे क्या लगेगा, मै नही जानती, न आज मुझे इसकी चिन्ता ही है। मुझे क्या लगता है, मेरी अवस्था क्या है, इसे तुमसे अधिक कौन जानता है ? तो फिर मुझे क्या चिन्ता ? बहन, आज मेरा मन बहुत उद्विग्न है। तुम पूछोगी, ऐसा कब नही था ? किन्तु आज मेरे समक्ष जीवन-मरण की-सी समस्या है।

"आज हरिदासभाई से कुछ बातें हुई। कौन-सी बाते, शायद तुम कल्पना न कर सको। हमारे काकाजी को गये तीन महीने भी नही हुए, इसी बीच इन बातो का आरम्भ किया जाना मुझे बहुत अप्रिय लगा। परन्तु उनका कहना है कि यही काकाजी की इच्छा थी। मै उनके कथन को अस्वीकार भी नही कर सकती, क्योकि मैं जानती हूँ, काकाजी इस प्रश्न पर कितनी गहराई और चतुर्मुखी प्रज्ञा से विचार करते थे। फिर भी हरिदासभाई की बातों से आज चित्त अत्यन्त व्यथित हो गया। मेरा मन किसी भी तरह मानने को तैयार नही होता कि काकाजी सचमुच ही कलकत्तेवाले सम्बन्ध के पक्ष में थे। वह मेरी भावनाओ से परिचित थे। वह किसी के प्रति अन्याय नही कर सकते थे। इस अवस्था में मै हरिदासभाई की बाते कैसे मानूँ ?

"और, सुनती हूँ, वे लोग ब्राह्मण है। और निर्मला, चिढना मत; मेरे कल्पना-साम्राज्य पर रुष्ट न होना। परन्तु सोचो, क्या मेरा यह सम्बन्ध योग्य होगा ? उनकी जन्मसिद्ध भावनाएँ है, स्वयसिद्ध सस्कार है, पूर्वग्रह है, पक्षपात है। मेरी भी अपनी विचार-धारा, हरिजन होने का विषादयुक्त गौरव, पूर्वग्रह, सिद्धान्त और आदर्श है। क्या ये सब मेल खायेंगे ? नारी का पत्नी के

रूप मे जो दायित्व हे—पति के चरणो मे सर्वस्व-समर्पण करने का दायित्व — उसे मे इन परिस्थितियो मे पूर्ण कर सकूँगी ? बापू और अम्मा के प्रति उऋण होने की प्रतिज्ञा का इसके बाद मै पालन कर सकूँगी ? जो भावना पति के नही है उसे पूरी करने में पत्नी बनने के बाद स्त्री समर्थ हो सकती है ? मेरे पत्नीत्व और पुत्रीत्व के धर्म-पालन मे सघर्ष उत्पन्न नही हो जायेगा ? वह सघर्ष क्या उनके लिए, मेरे लिए, किसी के लिए भी कल्याणकारी होगा ? बहन, जितना ही सोचती हूँ उतनी ही ये सब बाते असम्भव प्रतीत होती हैं।

"किन्तु, हरिदासभाई का कथन—'यह काकाजी की अन्तिम इच्छा थी !' ओह ! कैसी बात ! क्या यह सच है ? निर्मला, तुम ही बता सकती हो, यह सच है या नही। मेरी सब बाते तुमने उनसे कह दी होगी। उन्होने क्या कहा था ? तुम ही मुझे मार्ग दिखाओ ?

"निश्चय ही काकाजी की इच्छा के सामने मेरी इच्छा का कोई मूल्य नही है। उनकी इच्छा मेरे लिए शिरोधार्य आज्ञा है। प्रत्येक परिस्थिति में मै उनकी इच्छा पूर्ण करूँगी। अपने हृदय को आवश्यकता पड़ने पर कुचल डालूँगी। अपनी अभिलाषाओ को भस्म कर दूँगी। उनके बताये मार्ग पर तन को होम दूंगी। किन्तु मुझे मालूम हो कि वह सचमुच यही चाहते थे। निर्मला ? मै तुम्हारे ही उत्तर की राह देख रही हूँ। बताओ, सचमुच काकाजी क्या चाहते थे ?

—तुम्हारी चचला।"

पत्र भेजकर चचला आकुलता के साथ उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। इतने दिनों तक उसने अपनी निराशा में ससार के सभी विचारो को डुबा रखा था। उसका जीवन यान्त्रिक स्निग्धता के साथ चल रहा था। परन्तु हरिदास की कल्याण-कामना ने उसे एक बार अपनी परिधि से बाहर देखने को उन्मुख किया। उसे विवाह के प्रस्तुत प्रस्ताव से कोई सतोष न था और वह सोचने लगी कि उसने विवाह न करने का सकल्प क्यो बदला, उसमें क्या त्रुटि थी ? क्या ससार में विवाह न करनेवाले लोग नही हैं ? मुझे विवाह का उद्देश्य जीवन को पूर्ण बनाना बतलाया गया, किन्तु मेरे विवाह की जो बाते की जा रही हैं उनमे पूर्णता के लिए अवकाश कहाँ है ? वहाँ तो पूर्ण आत्म-अवमानना, दासीत्व के अतिरिक्त कुछ दिखलाई ही नही पडता ! मुझे अपने समस्त आदर्शो की बलि करके पति के आदर्शो को स्वीकार करना होगा। इसमे आदर्शो का समन्वय कैसा ? हाँ, पति के आदर्शो की पूर्ति भले ही हो जाये। उसमें बलि भले ही

हो जाऊ । क्या इस स्थिति को सहन करने के लिए मै तैयार हू ? यदि नही, तो क्या इस विवाह से दोनों का जीवन नष्ट हो जायेगा ? मै जानबूझ कर इस अशुभ कार्य मे योग दू ?

हाँ ! काकाजी की इच्छा ! यदि सचमुच ही उनकी यह इच्छा थी तो मै अवश्य इसे पूर्ण करूंगी । यदि यह उनकी इच्छा नही थी तो संसार की कोई शक्ति मुझे इसके लिए बाध्य नही कर सकती !

चचला को किंचित् शान्ति मिली । विद्यालय का समय हो चुका था, स्नान-भोजनादि के बिना ही वह चल दी ।

विद्यालय मे आज एक नयी उदासी छाई हुई दिखलाई पडती थी । किसी के मुख पर हर्ष नहीं, किसी के हृदय मे उल्लास नही । सभी एक-दूसरे से धीरे-धीरे, कभी-कभी कानो मे बाते करते थे । जहा चचला जाती, वहाँ से अधिकांश छात्राएं हट जाती । इसी बीच दो-चार लोगो ने उसके पास आकर बधाई भी दी । इतनी निष्प्राण बधाई शायद उपचार के लिए भी नही दी जाती।

चचला कुछ समझ न सकी । वह सीधी कक्षा मे चली गई । समय हो जाने पर भी बहुत-सी छात्राएँ कक्षा के बाहर घूम रही थी ।

चचला ने साधारण प्रश्न किया—"शेष छात्राएँ कहाँ है ? आज तो तुम लोग बहुत कम हो ?"

किसी छात्रा ने उत्तर न दिया । इस पर चचला ने कहा—"तुम लोग बोलती क्यो नही !"

फिर भी कोई उत्तर न मिला । चचला के मन मे शंका हुई । उसने एक बालिका का नाम लेकर पूछा—"तुम बताओ शीला, क्या बात है ? और छात्राएँ कहाँ है ? तुम सब आज इस प्रकार चुप क्यो हो ?"

शीला ने कहा—"बाहर है ।"

"क्यो !"

"पता नही ।"

"अच्छा जाओ, उन्हे बुला लाओ !" कहकर चचला सोचने लगी कि बात क्या है । मुझसे कोई गलती हो गई है, क्या ?

बालिकाएं एक-एक करके कक्षा मे आने लगी । जब एक दो को छोडकर सब बालिकाएँ आ गई और शेष के आने की आशा न रही, तो चचला ने पूछा—"तुम सब अभी तक कहाँ थी ?"

किसी बालिका ने सिर ऊचा न किया, न उनकी ओर देखा । किसी ने कोई उतर भी नही दिया । यह रुख देखकर चचला की परेशानी तथा शका

और बढी । उसने फिर पूछा—"मुझसे कोई गलती हो गई है ?"

एक छात्रा ने उत्तर दिया—"हमने सुना है कि आपका विवाह होने वाला है ?"

चचला ने बलपूर्वक अपने भावो को दबाकर और थोडा-सा मुसकरा कर कहा—"और यदि यह सच हो, तो क्या तुम सब इतनी रूठ गई कि कक्षा मे आने और मुझसे बोलने को भी तैयार नही हो ?"

उसकी मुसकान और शब्दावली का बालिकाओ पर कोई अनुकूल प्रभाव न पडा । एक दूसरी बालिका ने कहा—"सुना है, आपको यही समय अच्छा लगा ?"

अब चचला अपने भावो को छिपा न सकी । फिर भी उसने शान्ति से पूछा—"तुम्हारा क्या अर्थ है ?"

"शिक्षकालय में बातें हो रही थी कि आप चाहती है, विवाह तुरन्त हो जाये "

"मै चाहती हूँ ?"

"हाँ !"

दूसरी बालिका बोल पडी—"और आपके भावी ससुरजी भी तो आ गये है ?"

चचला को विश्वास हुआ भी और नही भी । कल ही बाते हुई, आज ही पत्र गया होगा, और 'भावी ससुर' महाशय भी आ गये ! यह कैसे हो सकता है ! नही ? तो ये सब बातें कैसे फैली ? और मै चाहती हूँ ?

उसने कहा—"ये सब व्यर्थ बाते है। तुम लोग अपनी पढाई करो । निकालो पुस्तक ।"

बालिकाएँ अपनी-अपनी पुस्तकें निकालने लगी । इसी बीच एक बालिका ने कहा—

"काकाजी आपको बहुत प्यारे थे न बहनजी ?"

चचला क्या उत्तर देती ? शब्द तो तीर के समान उसके हृदय मे जाकर लगे, परन्तु बालिकाओ को कैसे समझाया जाये कि उसके मन मे भ्रान्ति है। उसने बात को अनसुनी करके पूछा—"क्या पढना है, आज ?"

"वही, 'रोम जल रहा था, नीरो बसी बजा रहा था, वाला पाठ'—एक छात्रा ने सचमुच या व्यग्य से बताया ।

नीरो बसी बजा रहा था ! और चचला आगे सहन न कर सकी । वह पुस्तक रखकर कक्षा से बाहर निकल गई ।

३८

सहयोग धर्म

जीवन का कार्य-क्षेत्र दिन-दिन बढता गया। अब उसके वटवृक्ष के नीचे प्रातःकाल और मध्याह्न मे नियमित रूप से गाँववालो का जमाव होने लगा है। वे वहाँ आते है, विश्राम करते है और अनेक प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते है। अब वे ही बारी-बारी से उसके नीचे की सफाई भी कर लेते है। वहा की भूमि लीप-पोतकर स्वच्छ कर ली गई है और उसके टीले-गड्ढे बराबर कर दिये गये है। पक्षियो की गन्दगी को मिटाने के लिए ऊपर टट्टो का चदोवा तान दिया गया है, जिससे अब वहाँ निर्बाध रूप से दिनभर बैठा-उठा और काम किया जा सकता है।

आनेवालो मे लडके-लडकियाँ, युवक और वृद्ध सभी लोग सम्मिलित है। जीवन किसी को किसी विशेष प्रकार का कार्य अथवा व्यवहार करने के लिए बाध्य नही करता। उसके 'आश्रम' मे न तो नियमित उपस्थिति की अनिवार्यता है, न कक्षाएँ है, न गुरु है और न शिष्य है। प्रत्येक अपना और दूसरो का गुरु है, प्रत्येक अपना और दूसरो का शिष्य है। जब कुछ लोग एकत्रित हो जाते है, तो जीवन कुछ ऐसी बातें कह देता है, जिससे वे अपने-अपने हृदय का उत्साह व्यक्त करने लगते है। इसस ही तरह-तरह की ज्ञानवर्धक कहानियो और अनुभवो का कहना-सुनना आरम्भ हो जाता है। जीवन भी यथासम्भव उन्हे सुनता है और फिर उन पर मीमासा आरम्भ कर देता है। निश्चित और सुन्दर निष्कर्ष निकल आने पर विषय को बदल दिया जाता है।

उद्योगो मे जीवन अधिक अभिरुचि प्रदर्शित करता है। वह स्वय गाँववालो से छोटे-छोटे हस्तोद्योग सीखता है और ऐसी वस्तुएँ बनाता है, जो बाजार में अथवा घर-घर बेची जा सकें। उसे देखकर अन्य लोग भी अनेक उद्योग सीखने लगे है। इस कार्य मे वह सदा निर्माण्य वस्तु की आवश्यकता और उपयोगिता का ध्यान रखता है और कोई ऐसा काम नही होने

देता, जिससे गाँव के छोटे-छोटे कारीगरो की जीविका पर बुरा परिणाम हो। फलत. उसके 'उद्योग विभाग' में मिट्टी, सीप, पत्थर, सीग, लकडी आदि की नई-नई वस्तुएँ तैयार होने लगी है और लोगो ने अपने हाथो तकलियाँ बना कर सूत कातना भी आरम्भ कर दिया है। कुछ किसानो को समझाकर उसने नये-नये शाको की खेती शुरू करा दी है। अनाज के खेतो के बारे में भी वह किसानो से बहुधा बातचीत किया करता है और उसे विश्वास हो गया है कि आगामी ऋतु में जो जोताई-बोआई की जायेगी, वह पहले से अच्छी होगी।

गाँव में ईंटे बनाने की ओर अब तक किसी ने ध्यान नही दिया था। फलत. यहाँ बननेवाले मकानो के लिए भी कच्ची-पक्की ईंटें दूसरे गाँवो से आती थी। गाँव के लोग जाति-पाँति की मर्यादाओ का ख्याल करके इस उद्योग के लिए तैयार नही थे। जीवन ने अपने वट-वृक्ष के नीचे एकत्रित होनेवाले वृद्धो से इस विषय पर बात-चीत की और कुछ लोगो को यह प्रयोग करने की अनु-मति दिला दी। वृद्धो ने शर्त लगाई कि जो लोग काम करेंगे उन्हे प्रत्येक भट्ठे को उतारने के बाद सत्यनारायण की कथा सुनकर पवित्र होना पडेगा, और जीवन ने यह शर्त स्वीकार कर ली। ईंटें बनाने का काम भी इस प्रकार शुरू हो गया, परन्तु अभी उसका स्वरूप अवकाश के काम का ही था।

रात्रि को जीवन गाँव में चला जाता। वहाँ वह ग़रीब लोगो के सुख-दुःख सुनता और उन्हे यथासम्भव सहायता करने का प्रयत्न करता। अनेक मद्यपीयो से उसने मद्यपान छुड़ा दिया, जिसके लिए वे और उनके परिवार के लोग उसका उपकार मानते है। जमींदार के सकेत से कुछ गुडे गाँव के लोगों को सदा आतंकित करते रहते थे। जीवन ने जमीदारो को समझाकर उनकी दुष्प्रवृत्तियों को रुकवा दिया है, और इससे गाँव के लोग बहुत प्रसन्न है।

इस प्रकार जीवन की प्रवृत्तियो के साथ-साथ उसका प्रभाव भी निरतर बढ़ता जा रहा है। उसे व्यक्तिगत बातें सोचने का अवकाश ही नही, फिर क्या कोई अपने रक्त-मांस में भिदी हुई भावनाओ को दूर कर सकता है?

जब कभी भी उसे समय मिलता है, वह सबसे अलग होकर नदी-तट पर किसी एकान्त स्थान में बैठता है और सदा जाग्रत तरगों की कल-कल वाणी मे कोई नया सन्देश सुनने का प्रयत्न किया करता है। निश्चय ही लहरें उसे प्रतिदिन आशा का नया सन्देश देती है, जिससे उसका परिवेश गूँजता रहता है और उसके प्राण द्विगुणित शक्ति प्राप्त करते है।

निर्मला का प्रथम पत्र इन्हीं शुभ संदेशों की पूर्ति का आयोजन तो था ! अब तक जीवन इन बाह्य लहरों का अपने अन्तस्तम की लहरों से समन्वय न कर पाया था। निर्मला का पत्र पाने पर यह समन्वय पूर्ण हो गया। अब उसे नित्य नया सदेश सुनने के लिए सरिता-तट पर जाने की आवश्यकता न रही। किसी भी स्थान पर, किसी भी क्षण, थोडे से एकान्त का आधार पाने पर, वह अपने हृदय के अन्दर ही उन लहरों की वाणी सुन सकता था, उनके आन्दोलन का अनुभव कर सकता था। और उसने यह सन्देश सुनने के लिए नित्यप्रति कुछ समय अपनी कुटिया के एक कोने में ध्यान लगाना आरम्भ कर दिया। उस कोने में मिट्टी का ऊंचा आसन बनाया गया, उस पर देव-छवि जैसी कोई वस्तु प्रतिष्ठित की गई और उस पर प्रतिदिन प्रातःकाल फूलों की माला चढाई जाने लगी। छवि वस्त्र से सदा ढकी रहती थी, किन्तु उसके सम्मुख प्रतिष्ठित एक देव-मूर्ति का दर्शन सबको सुलभ था। आसन के ऊपर सुन्दर अक्षरों में खुदा हुआ था—

"गुरु गोविद दोऊ खड़े, काके लागों पायं ?
बलिहारी गुरु आपकी, गोविद दियो बताय।'

एक दिन विनायक, लीला आदि तीनों सखियां और करुणाशकर जीवन से मिलने के लिए आये। जीवन ने अपने वट-वृक्ष के नीचे उनका स्वागत किया और अपने पूरे कार्य का परिचय दिया। मित्र-मंडली इतने थोडे से समय मे इतना कार्य देखकर चकित हुए बिना न रह सकी। यद्यपि सभी को जीवन की निष्ठा और शक्ति पर विश्वास था, फिर भी परिस्थितियों की दृष्टि से इतने शीघ्र इतने कार्य की आशा किसी ने न की थी।

करुणाशकर ने कहा—"जीवनभाई, आपने तो चमत्कार कर दिखाया।"

जीवन ने उत्तर दिया—"यह चमत्कार प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, करुणाभाई ! केवल मनोयोग और सहानुभूति के साथ लग जाने की बात है।"

"इतने लोगों को इस सब काम के लिए तुमने तैयार कैसे कर लिया ?"

"मैं स्वयं इनमें घुल-मिल गया। इनकी भावनाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और गुणों को मैंने अपना लिया। यही इनको मिलाने की कुंजी थी।"

"जरा समझाओ !"

"मैं प्रत्येक बात को इनकी दृष्टि से सोचने लगा। इनमें बहुत से लोग ऐसे थे, जो अपने को तरह-तरह की बातों में बहुत योग्य समझते थे। उनका दूसरे लोगों पर कुछ प्रभाव भी था। इधर मुझे कार्यकर्ताओं और शिक्षकों की

आवश्यकता थी। मैने इनकी योग्यता का ठीक अन्दाजा लगाया और उसके अनुसार इनसे शिक्षा देने का कार्य लेने लगा। इनके अहकार का पोषण हुआ और ये मेरे बन गये।"

"परन्तु अहकार का पोषण करने मे कोई हानि नही है ?"

"है। परन्तु अहकार सबमे होता है। उसे हम नष्ट करने लगें तो हमारा काम कभी पूरा नही हो सकता। मैने इनके अहकार पर सीधा प्रहार नही किया, उसे उचित दिशा मे लगाने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर, कुछ दूसरे लोग इन्हे भी सिखाने के लिए नियुक्त किये गये, जिससे उनका यह ख्याल मिटने लगा है कि हम सब बातो मे सबसे बडे है। धीरे-धीरे ये महसूस करने लगे है कि जहाँ हम किसी एक बात मे श्रेष्ठ है, वहाँ दूसरे दूसरी बातो में श्रेष्ठ है।"

"और दूसरे लोग कैसे आये ?"

"गुणो के पारस्परिक आदान-प्रदान का यह पहलू तो प्राय. सभी पर लागू है। दूसरा मुख्य पहलू है आवश्यकता का। मैने इनकी आवश्यकताओ का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि गरीबी को दूर किये बिना कोई काम नही हो सकता। इसलिए मैंने इनसे छोटे-छोटे उद्योग शुरू कराये। उनसे इन्हे हाथ के हाथ पैसे मिलने लगे और मेरे कार्य का महत्त्व इनके मन में जम गया। इस प्रकार सख्या बढ गई।"

"उद्योग सिखाता कौन है ?"

जीवन को हँसी आ गई। उसने कहा—"भाई तुम समझते हो इनमे कला-कौशल अथवा साधारण ज्ञान की कमी है ? यह धारणा भ्रात है। इनके अन्दर इन सबका अगाध समुद्र छिपा हुआ है। हवा नही मिलती इसलिए उसमें आन्दोलन नही होता। मैने थोडी-सी कल्पनाएँ दी, थोडी-सी मदद की, और वह सब कला-कौशल तथा ज्ञान प्रकट होने लगा। यही आपस मे सीखते-सिखाते है। मै इन्हे केवल सहयोग धर्म की व्यावहारिक शिक्षा दे रहा हूँ।"

"और बौद्धिक शिक्षा के लिए क्या करते हो ?"

"बुद्धि और ज्ञान की भी इनमें वही अवस्था है। मैने इनके ज्ञान को स्फूर्ति दी तो वह अजस्र प्रवाह के रूप मे बह चला। कमी इतनी ही है कि उसमें सुशृखलता तथा परिष्कार नही है। मै इनसे उसे निकलवाता हूँ और मीमांसा द्वारा उसको परिष्कृत करने का प्रयत्न करता हूँ।"

"भाई, तुम्हारा यह सहयोग धर्म चिरजीवी हो! परमेश्वर तुम्हे सदा सहायता करे!"

जीवन ने करुणाशंकर को गले लगा लिया।

इस बीच लीला अपनी दोनो सखियो के साथ इधर-उधर का दृश्य देखने निकल गई थी। घूमती-घामती तीनो सखियाँ जीवन की कुटिया मे गई। उन्होंने उसका सामान, उसकी पुस्तको और उसकी बनाई हुई सभी वस्तुओ की परीक्षा की और उन्हे सन्तोष हो गया कि एक सन्त के लिए जितनी वस्तुओ की आवश्यकता है उससे अधिक इस कुटिया मे कुछ नही है।

अन्त मे उनका ध्यान देवासन के ऊपर लिखे हुए दोहे पर गया और उन्हे उसे देखकर 'गुरु' को जानने की जिज्ञासा हुई।

लीला ने कहा—"गोविन्द के साथ तो कोई गुरु नही है, फिर वह दोहा लिखा क्यों गया ?"

सरस्वती—"खोज करो, मिल जायेगा।"

यमुना—"तुम भी सरस्वती, छोटी-छोटी बातो में फँसती रहती हो। गुरु मन मे नही हो सकता ?"

"नही, देवीजी, नही हो सकता, नही तो, इस स्थान पर इसे लिखने का कोई अर्थ न होता। खोजिए !"

और उसने आसन का परीक्षण प्रारम्भ कर दिया। वस्त्र हटाते ही फूल-माला से सजी हुई एक छवि दिखलाई दी। उसे आदर के साथ उठाकर उसने सब को दिखलाया।

चित्र वही था, जिसे दो वर्ष पूर्व जीवन ने ट्यूशन की आय से चाँदी मे मढ़ाया था।

सखियाँ विस्मय-विमुग्ध होकर देखती रही।

३६

प्रतारणा

हरिदास ने चंचला से बाते करने के बाद बन्दोपाध्याय महाशय को पत्र तो लिख दिया किन्तु कुछ ही देर में इन्हे ज्ञात हुआ कि बन्दोपाध्याय महाशय स्वयं आ गये है।

भेंट होने पर बन्दोपाध्याय ने कहा—"मुझे काशी आना था, सोचा आपसे भी मिलता चलूँ।"

"मैंने अभी-अभी आपको एक पत्र भेजा है,"—हरिदास ने आदरपूर्वक कहा।

"अब तो शायद कार्य शीघ्र न हो सकेगा?"

"मैंने बालिका को सहमत कर लिया है। आप जब चाहे, हो जायेगा।"

"भगवान् मंगल करें! तो पद्धति कौन-सी होगी?"

"काकाजी तो आश्रम-पद्धति ही मानते थे। फिर आप "

"नही, नही! आश्रम-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, भगवान् मगल करें! महात्मा-जी का आशीर्वाद तो प्राप्त होगा न?"

"क्यों नही? किन्तु विवाह-सस्कार हम वनिता आश्रम में ही करेंगे।"

"कोई आपत्ति नही, भगवान् मंगल करें! यह स्थान तो सेठ गगाप्रसाद का है। हमारे लिए तीर्थ के समान है। भगवान् मंगल करें! आप कब ठीक समझते है?"

"जब आपकी आज्ञा हो!"

"तो, भगवान् मंगल करें! मै यहाँ तक आया ही हूँ, इसे निबटाकर ही क्यो न जाऊँ? वृद्धावस्था मे यात्रा करना कष्टदायी होता है।"

"आप तैयार हो तो मै कल ही व्यवस्था कर सकता हूँ।"

"मै हरीश को तार देकर बुला लेता हूँ। वह अपनी माता और भाई-बहनो के साथ आ जायेगा। आज चतुर्थी है। भगवान् मगल करें! नवमी को

शुभ होगा। उस दिन की तैयारी कर लीजिए। भगवान् मगल करे!"

"जैसी आज्ञा!"

"भगवान् मगल करें! तो मै तार दे दूँ?"

'दे दीजिए।"

"भगवान् मगल करे!"—कहकर बन्दोपाध्याय महाशय चले गये।

हरिदास ने यह समाचार आश्रम की आचार्या और सचालिका को दिया, तो किसी को भी अच्छा न लगा। फिर भी इसका द्रुत गति से शिक्षकालय मे प्रसार हो गया।

एक शिक्षिका ने कहा—"चचला को जरा भी ख्याल न हुआ! इतनी शीघ्रता क्या थी?"

दूसरी ने उत्तर दिया—"चचला का इसमे क्या दोष? यह सब हरिदासभाई की कृति है।"

और जिसके मन मे जो कुछ आया, उसने वही कहा! यही सब बाते कुछ छात्राओ ने सुनी थी, जिनकी प्रतिक्रिया उस दिन चचला की कक्षा में देखने को मिली थी।

दूसरे दिन सायकाल आचार्या ने चचला को बुलाकर कहा—"नवमी निश्चित हुई है।"

"किस लिए?"—चचला ने आशकाकुल होकर पूछा।

"क्यो, तुम्हे नही मालूम?"—आचार्या ने अपने कटु व्यग को नियत्रित करने का प्रयत्न करते हुए कहा—"तुम्हारे विवाह के लिए!"

"मेरे विवाह के लिए? तिथि भी निश्चित हो गई? यह नही हो सकता!"—चचला ने आवेश से कहा।

आचार्या को शका हुई। उनका व्यग्य विलुप्त हो गया। उन्होने आश्चर्य से पूछा—"क्यो, क्या तुम्हे सचमुच कोई जानकारी नही है?"

"मुझसे कहा गया है कि यह काकाजी की इच्छा थी। मुझे विश्वास नही है। जब तक विश्वास न हो जाये, मै कुछ स्वीकार न करूँगी।"

"किसने तुमसे कहा?"

"हरिदासभाई ने।"

आचार्या ने मुँह बना लिया और थोडी देर बाद पूछा—"तुम्हे विश्वास कैसे होगा?"

"काकाजी ने अन्तिम बाते निर्मला से की थी। मैने उसे आज ही पत्र लिखा है। वह जो कुछ लिखेगी, मै मान लूँगी।"

और यह बात भी आश्रम मे उसी तीव्रता से फैल गई कि चंचला ने विवाह करने से इनकार कर दिया है। थोडी ही देर में छात्राओं और शिक्षिकाओ का समाज उसके कमरे में एकत्रित हो गया। अनेक ने उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की, अनेक ने बधाइयाँ दी और अनेक आश्चर्यचकित होकर सुनती रही। चचला ने समय के अनुसार अपने-आपको सँभालकर सब को उतर दिया, और सचमुच किसी को भी उत्तर नही दिया।

भीड मिटने पर उसने कमरे के दरवाजे बन्द कर लिये और अपने उद्वेगो का बाँध तोड दिया—हरिदासभाई इस विषय मे इतने सचेष्ट क्यो है ? वह क्यो मेरा जीवन नष्ट कर देने पर तुल गये है ! मैने तो उनसे स्पष्ट कह दिया था कि निर्मला का उत्तर आये बिना मै कोई बात स्वीकार न करूँगी। फिर भी यह सब कैसे ? क्या सचमुच काकाजी यही चाहते थे ? क्या हरिदासभाई ने पहले ही निर्मला से परामर्श कर लिया होगा ? निर्मला ! निर्मला ! आज तू इतनी दूर क्यो है ! और शायद तुझे बुलाया भी न जायेगा ! तुझे तार क्यो न दे दूँ ? तू अवश्य आयेगी !

चचला ने तुरन्त निर्मला को तार लिखा—"विवाह नवमी को निश्चित। पत्र लिख चुकी हूँ। पहली गाडी से आओ। तुम्हारी और उत्तर की आकुल प्रतीक्षा में हूँ।"

उसने तार भेज दिया और उससे शुभ परिणाम की का ना करती हुई फिर से विचारो में लीन हो गई।

आज कोई ऐसा परिचित नही था, जिसकी चंचला ने याद नही की। सखियों से लेकर परमेश्वर तक, दूर और निकट, दृश्य और अदृश्य, सबसे मन-ही-मन उसने सहायता की याचना की और सभी उसे विमुख प्रतीत हुए। उसने भगवान् से प्रार्थना की और उसकी अन्तरात्मा ने उत्तर दिया—"उद्विग्न मत हो ! शान्ति और धैर्य से परिस्थिति का सामना कर !" परन्तु अन्तरात्मा के इस उपदेश का पालन करने के लिए उसमें बल कहाँ रहा था ?

क्षणभर के लिए उसने जीवन की याद की। उसने अत्यन्त कठिन समय मे मेरी सहायता की थी। कदाचित् आज भी वह मेरी सहायता कर सकता है। परन्तु उसे लिखूँ कैसे ?

विचारो की धारा बदली—क्या दूसरो की सहायता के बिना काम नही चल सकता ? सबको दूसरो की सहायता की आवश्यकता होती है ? इसीलिए विवाह आवश्यक है ?

और यह सूत्र बढता ही गया। उसके श्रान्त और क्लान्त म॰ शरीर को निद्रा देवी ने अपने स्निग्ध अचल मे ले लिया।

प्रातःकाल जब वह उठी तो फिर वही मनस्ताप लेकर। सबसे पहले उसने सोचा आज पत्र और तार दोनो मिल जायेंगे। आज ही निर्मला उत्तर दे देगी। अधिक-से-अधिक कल प्रातः तक उसका उत्तर अवश्य आ जायेगा। कल सायकाल तक वह भी आ जायेगी। अह! शीघ्र आओ, निर्मला! तुम्हारी मुझे कितनी आवश्यकता है!

वह घटे गिनने लगी। सध्या आई और चली गई, रात भी बीत गई! दूसरे दिन दस बजे, ग्यारह बजे, बारह बजे, एक भी बज गया, परन्तु तार का कोई पता नही! क्या हो गया! क्या निर्मला वहाँ नही है! शाम के पाँच बज गये और तारवाले ने नाम पुकारा। उसने उछलकर तार ले लिया। खोल-कर पढा—

"पत्र और तार दोनो मिले। कार्यक्रम स्थगित कर दो। पत्र लिखती हूँ। रुग्णता के कारण आने में असमर्थ हूँ।"

ओह! निर्मला! यह क्या उत्तर है! क्यो नही लिखा कि काकाजी की यह इच्छा नही थी? इस उत्तर से क्या लाभ? मेरी कौन सुनेगा? तुम्हारा यह 'आदेश' कौन मानेगा? मै जहाँ की तहाँ हूँ! कोई विराम नही, कोई सहायता नही!

फिर भी, चचला ने वह तार आचार्या को दे दिया और उनसे कह दिया कि मै इसे और निर्मला के आगे के पत्र को मानने के लिए बाध्य हूँ।

आचार्या ने वह तार हरिदास के पास भेज दिया। हरिदास ने उसे पढा, थोडा मुस्कराये और जेब मे डाल लिया।

इधर चचला का घटे गिनना जारी ही रहा। अब तक तार के लिए था। अब पत्र के लिए। वह जानती थी कि हरिदास तार पर कोई ध्यान न देंगे। और विवाह की तिथि के लिए केवल एक दिन बीच में रह गया था।

दूसरे दिन, अपेक्षा के अनुसार निर्मला का पत्र आ गया। चचला ने काँपते हुए हाथो और धडकते हुए हृदय से उसे खोला और पढना आरम्भ किया—

"मेरी चंचला,

"बेहद प्यार! तुम्हारा उद्विग्न होना मैं समझ सकती हूँ। परन्तु क्या तुम अपने काकाजी को नही पहचानती? क्या वह कभी किसी के प्रति अन्याय कर सकते थे?"

चचला की धडकन बढ गई ! यह आगे क्या लिखनेवाली है ? पत्र भी लिखना नही आता। पहले ही वाक्य मे साफ बात क्यो नही कह दी ? और वह शीघ्रतापूर्वक आगे बढने लगी—

"हरिदासभाई ने जो बात तुमसे कही, वह उनकी समझ के अनुसार ठीक ही हे "

ओह ! निर्मला ! क्या यही उत्तर सुनने के लिए मैने तुझे लिखा था ? क्या तू भी मेरे प्राण लेना चाहती है ? तू भी षड्यन्त्र मे सम्मिलित है ? और पत्र आगे बढा—

"परन्तु वही पूरी बात नही है "

तो क्या है ? शीघ्र क्यो नही कहती ? स्पष्ट क्यों नही कहती कि काकाजी की यह इच्छा नही थी ? आगे —

"मुझे अत्यन्त दुख है कि हम दोनो उस समय इतने व्यग्र थे कि इस विषय मे बाते करने का अवसर ही नही आया "

तेरा सिर ! मुझे यह सब नही सुनना। सीधी सीधी बात कर !

"किन्तु उनका निश्चित मत यह था कि तुम्हे जीवन से मिलना चाहिए . "

काकाजी ने कहा था ? और ?

"और सब बातो को ठीक-ठीक जाने बिना कोई निर्णय नही करना चाहिए।"

यह पहले ही लिख देती तो क्या हो जाता ? अच्छा फिर ?

"तुम्हारी शकाओ का पूर्ण निवारण काकाजी परम आवश्यक समझते थे।"

चंचला के हृदय की धडकन बन्द हुई और उसमें साहस आया। अब वह अधीरता के बदले उत्कण्ठा से पढने लगी—

"और चचला, मुझे इस बात को बताने का गौरव प्राप्त हे कि कुछ प्रयत्नो के बाद मै आज भी अपनी बात पर दृढ हूँ—कि जीवनचन्द्र एक आदर्शवादी, परम आदरणीय नवयुवक हे और वह तुम्हारी श्रद्धा तथा प्रेम के लिए पूर्ण योग्य है !"

क्या तुम सच कहती हो, निर्मला ? क्या सचमुच भगवान् मुझ पर प्रसन्न है ?

"इतना ही नही, तुमने उनके साथ जो व्यवहार किया, वह

न केवल घोर अन्यायपूर्ण वरन् मिथ्या आत्माभिमान से प्रेरित भी था ''

केवल मेरी गलती है ? उसकी कोई गलती नही ? अह ! मै इस सवाद को सुनने के लिए ही तो व्याकुल थी !

"तुम पूछोगी, यह सब कैसे कह रही हूँ। वहाँ से आने पर मैंने अपनी ओर से तुम्हारे 'जीवन' के साथ पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। उसके फल-स्वरूप अब तक उनके चार शुद्ध, सुन्दर, स्पष्ट पत्र मेरे पास आ चुके है और सुरक्षित है। तुम देखोगी तो स्वय लज्जित होगी कि तुमने उस सज्जन के प्रति कितना अन्याय किया ! . "

लज्जित नही, यदि तेरी बात सच हो तो मै उसके पैर चूम लूँगी, निर्मला !

"अब बात यह है कि उन्होने अपने कार्यक्षेत्र का सदर्शन करने और अपने 'अमूल्य परामर्श' से उन्हे 'उपकृत' करने के लिए हम दोनो को 'सादर आमत्रित' किया है।"

आखिर ईश्वर ने सुन ली ! भगवन्, तुम्हारा कितना अनुग्रह !

"हमे काकाजी की इच्छा के अनुसार कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है। जितना शीघ्र हो सके, तुम यहाँ आ जाओ। आने पर सब बातें विस्तारपूर्वक होगी।"

मै अवश्य आऊँगी, निर्मला ! कल ही रवाना हो जाऊँगी।

"मै रुग्ण हू इसलिए आ नही सकती। अधिक लिखा भी नहीं जाता। नही तो चचला की आवश्यकता पर निर्मला को कौन रोक सकता ?"

निःसन्देह ! मुझे तुझ पर ऐसा ही विश्वास है। पर तुझे रोग क्या हो गया है ?

"शान्त रहो, बहन ! काकाजी का आशीर्वाद-हस्त सदा हमारे सिर पर है, हम उसे पहचानें और उसके योग्य बनें !"

कहीं आज काकाजी स्वयं विद्यमान होते !

"मुझे उत्तर नहीं चाहिए, चचला चाहिए।

—तुम्हारी निर्मला।"

आई निर्मला, मै तुरन्त आई। परसों पहुँच जाऊँगी।

और चचला ने पत्र आचार्या को देकर कह दिया कि मै कल निर्मला के पास जाऊँगी।

४०

मा की थाती

लीला, यमुना, सरस्वती और विनायक की पाठशालाएँ पूर्ववत् उत्साह के साथ चल रही है। अपने हृदय-परिवर्तन के पश्चात् करुणाशकर भी उनकी मण्डली में घुल-मिल गया है। पहले तो तीनो सखियो ने उसे अपने साथ रखने का विरोध किया था, विनायक के हृदय में भी बहुत उत्साह नहीं था, परन्तु धीरे-धीरे उन्हे विश्वास हो गया कि हृदय-परिवर्तन सच्चा है और उन्होंने उसे अपने साथ ले लिया और यह सम्बन्ध लगातार घनिष्ठ होता गया। अब तो करुणाशंकर की मानसिक स्थिति इतनी बदल गई है कि वह इस मण्डली के कार्य के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार है और बहुधा ऐसे प्रसग आ जाते हैं, जबकि वह अपने इन साथियो से आगे दिखलाई पडता है।

उस दिन जीवन का कार्य देखकर यह सारी मित्रमण्डली बहुत प्रभावित हुई और अपनी पाठशालाओं के कार्य को भी उसी ढंग पर ढालने के विषय में परस्पर परामर्श करने लगी।

विनायक ने कहा —"हमारे कार्य-क्षेत्रो में गाँव और शहर का अन्तर है। इसके अतिरिक्त जीवन ने अपना सारा समय और ध्यान अपने कार्य में लगा दिया है। हम उतना नहीं कर सकते। अतएव हमारे लिए यही काम ठीक है।"

"हाँ, यह भी तो जीवन ने सोच-विचारकर ही आरम्भ किया था। हमें इसी को अच्छे से अच्छे तरीके पर चलाना चाहिए।"—यमुना ने समर्थन किया।

"सहयोग धर्म का प्रसार सर्वत्र समीचीन और आवश्यक है। उसके लिए नगर और ग्राम का क्या अन्तर? हमें उसका आश्रय अवश्य लेना चाहिए।"—करुणाशंकर ने विरोध किया।

"परन्तु इसके लिए पूरा समय कौन देगा ?"—विनायक ने प्रश्न किया।

"तुम योजना बनाओ, आवश्यक होगा तो मैं कॉलेज छोड़ दूँगा।"

"तुम कॉलेज छोड़ दोगे, करुणाभाई ?"—सरस्वती ने आश्चर्य से पूछा।

"क्यों नही ? यदि जनता का इतना बड़ा कल्याण हो सकता है, तो मैं कॉलेज में पढ़कर क्या करूँगा ? ईश्वर ने धन दिया है। उसके लिए कॉलेज की पढ़ाई आवश्यक नही, परन्तु यदि धन न भी होता तो भी दो रोटियाँ किसी तरह मिल ही जाती। रही मान-मर्यादा की बात, सो कालेज में पढ़कर जो मान-मर्यादा प्राप्त होगी, उससे इस कार्य की मान-मर्यादा कही अधिक है"—करुणाशंकर के कथन में निष्कपटता की स्पष्ट छाप थी।

लीला—"मैं तो नही समझती कि हमें एकदम छलाँग मारनी चाहिए। जीवन की बराबरी हम नही कर सकते।"

"बराबरी भले न कर सके, परन्तु उसके पद-चिह्नों पर तो चल सकते है ?"—करुणाशंकर बोला।

"नही, यह भी सम्भव नही है।"—लीला ने उत्तर दिया।

"क्यों ?"

"क्योंकि जीवन किसी अज्ञात प्रेरणा से काम कर रहा है और उसे कोई महान् गुरु प्राप्त है।"

"अज्ञात प्रेरणा ? जो प्रेरणा है वह तो हम सब जानते है। वह अज्ञात कैसी ? फिर, हो भी तो हमारे और उसके काम के बीच अंश का ही तो अंतर रहेगा, मूल आधार का तो नही ? और गुरु की क्या बात कही ? हमने तो कभी कोई गुरु देखा नही ?"

"नही, मूल आधार का भी अंतर रहेगा, क्योंकि उसका काम उसी की भावना से सम्भव है, और यदि तुम अकेले उस भावना को विकसित कर भी लो तो हम सब पीछे रह जायेंगे। तुम अकेले शहर का काम न सँभाल सकोगे।

"मेरी समझ में नही आता।"

"तो, जीवन से ही सलाह करो।"

"हाँ, मैं उससे बातें करूँगा। परन्तु वह गुरु की बात क्या कह रही थीं तुम ?"

लीला ने उस दिन जीवन की कुटिया में जो कुछ देखा था, उसका

यथावत् वर्णन कर दिया और कहा—"मै नही जानती चित्र किसका था, परन्तु वही, निश्चय, उसकी गुरु—कदाचित् आध्यात्मिक गुरु—है।"

विनायक मुसकरा दिया और बोला—"तो आप लोगो ने अब तक चोरी की आदत नही छोडी ?"

"अब तक का क्या अर्थ ?" - सरस्वती ने आवेश से कहा—"क्या कभी हम चोरी भी करती थी ?"

"क्यो ? भूल गई जीवन की उस पुस्तिका और पत्र की बात ? अभी तो दो ही वर्ष हुए होगे ?"

"ओह ! बडी चोरी !"

"तुम्हे पता है, जीवन को उससे कितना कष्ट हुआ था ?"

"सब पता है। अब जीवन वह पुराना जीवन नही रहा।"

"ऐसा होता तो वह उस चित्र को छिपाकर क्यो रखता ?"

"बात तो ठीक है,"—यमुना ने कहा।

"और आप लोग जानती है, वह चित्र किसका है ?"

"नही तो।"

"वह उसी बाल-सखी का है, जिसे वह पत्र लिखा गया था।"

"असम्भव ! बाल-सखी गुरु कैसे बन जायेगी ?"

"यह सही है। जीवन के पास चॉदी के फ्रेम मे मढा हुआ और कोई चित्र नही था। और उसे मढाने की भी एक कहानी है।"

"क्या !"

"वह चित्र जब जीवन को मिला तो उसने ट्यूशन करके बीस रुपये कमाये और उन्ही रुपयो से उसे मढाया। यह दो-ढाई वर्ष पूर्व की बात है।"

"हमने तो उसे कभी नही देखा ?"

"वह तुम्हारे लिए नही था। उसे सदैव इसी प्रकार छिपाकर रखा जाता था।"

"तुमने कैसे देखा ?"

"मैने केवल चित्र ही नही देखा, मै और भी बहुत सी बाते जानता हूं, जिन्हे तुम सबको बताना मना है।"

"तो वह उसकी गुरु है ?"

"हॉ, उसकी गुरु, उसका प्राण, उसका सब-कुछ है। जिस दिन उसका अस्तित्व न रहेगा, उस दिन जीवन भी समाप्त हो जायेगा !"

"फिर वह आ क्यो नही जाती ?"

"यह सब गूढ रहस्य है, जिसे या तो वह स्वय बता सकती हे, या जीवन, मै नही।"

करुणाशकर यह सब वार्तालाप चकित होकर सुनता रहा। अन्त मे उसने कहा---"हमारे सहयोग धर्म प्रचार मे यह बात भी बाधक कैसे होती है ?"

"इस तरह कि जो 'प्रेम करना चाहता है, वह सिर देने को तैयार हो।' हम अभी इतने तैयार नही है और हम तम्हे अकेले उस मार्ग पर जाने न देंगे।"

इसी बीच विनायक की माता ने आकर कहा, तुम सब चाय पी लो, बहुत देर से शास्त्रार्थ में लगे हो। करुणा, तेरे लिए मैने अपने हाथो सेव छाँटे है।

"मा, तुम इसे इतना प्यार मत किया करो, यह भी जीवन की राह पकडने की सोचता रहता है।"—विनायक ने हँसकर कहा।

मा ने खिन्न होकर उत्तर दिया—"और क्या, सब-के-सब कफनी बाँध के घूमने लगो; फिर सब ससार के दुःख मिट जायेगे! इतना अच्छा लडका हे, कितना होनहार, गाँव में जाकर फकीर बन गया। उसकी जगह इसको देखकर थोडा-बहुत जी भरता है, सो यह भी चला जाये! आजकल हम बूढो की तो कोई पूछ ही नही रही।"

मा सचमुच दु:खी हो गईं। विनायक ने मन-ही-मन पछताकर उसे सान्त्वना देने के लिए कहा—"मा, जीवन के लिए कुछ न भेजोगी ?"

"कोई ले जानेवाला हो और वह खाने को तैयार हो तो मै रोज ही अपने हाथो उसके लिए खाना बना दिया करूँ।"

करुणा ने कहा—"मै कल ले जाऊँगा, मा! कल बना देना।"

"तो जरूर ले जाना, कही मै बनाकर रखूँ और वह यो ही जाये। सबेरे बनाऊँगी।"

"जरूर बनाना। मै दस बजे आऊँगा।"

और सब मित्रमण्डली हँसी-खुशी से नाश्ता करने लगी।

मा ने पूछा—"तेरी मौसी यही है, करुणा ?"

"हाँ, मा। उन्हीं के सहारे तो सारा घर चलता हे। एक दिन न हो, तो नौकर खाना भी न दें।"—करुणा ने उत्तर दिया।

"बडी अच्छी स्त्री है। चाहती तो राजरानी हो जाती, परन्तु उसने भी दूसरो की सेवा में अपना जीवन न्योछावर कर दिया। मै, वह और तेरी मा साथ-साथ पढ़ीं, साथ खेली थी।"

"मेरी मा भी ?"

"हाँ। उसकी जैसी स्त्री तो मैंने देखी ही नहीं।"

"क्या बात थी मा, उनमें ?"—करुणा ने अपनी मा की प्रशसा सुनकर गद्‌गद् होकर पूछा।

"क्या बात थी ? क्या नही था उसमे ? वह दूसरो के लिए ही तो जी और मरी !"

"मुझे बताओ, मा ! मै तो कुछ जानता ही नही।"

"तू नहीं जानता ? सुन। तेरे पैदा होने के थोडे ही दिन बाद यहाँ एक भीषण महामारी फैली। सैकड़ों लोग प्रतिदिन मरने लगे। कोई किसी को सहायता न करता था। उस समय तेरी मा ने एक सहायता दल बनाया। सबके रोकने पर भी वह दिन-रात बीमारो के बीच जा-जाकर उनकी सेवा करती, उन्हे सान्त्वना देती। अन्त में उसी लपेट में वह भी आ गई और हमसे सदा के लिए बिछुड गई . . " मा का हृदय भर आया और आँखो से आँसू बरसने लगे।

सबने करुणाशंकर की ओर देखा। वह मानो ध्यानावस्थित था। आँखो से अजस्र जलधारा प्रवाहित हो रही थी।

खाना जैसा-का-तैसा रहा। कहानी और आगे बढी। मा ने कहा—"वह हँसती-हँसती गई और अन्त समय एक और भी बड़ा कार्य कर गई। "

सरस्वती ने पूछा—"वह क्या मा ?"

मा ने कहा—"उसने अपनी तिजोरी की चाबी मुझे देकर कहा—इसमे एक लाख से अधिक के रत्नाभूषण हैं। इन्हे दुःखियो की सेवा में लगा देना। तेरे पिता की ओर सकेत करके कहा—इनके और तेरे सिवा कोई मेरा नाम न जाने।"

अब किसी की भी आँखे सूखी न रहीं। मा ने आँसू बहाते हुए गद्‌गद् हृदय से कहा—"हम दोनो ने मिलकर उसका सेवा-कार्य जारी रखा। उस धन में से लगभग आधा व्यय कर डाला।"

"और शेष, मा ?"—करुणा ने श्रद्धा के साथ पूछा।

"शेष तेरे पिता के पास अब भी होगा। विनायक के पिता और उनके बीच एक मुकदमे के सम्बन्ध में कुछ कहा-सुनी हो गई। तब से हम दोनो का मिलना-जुलना रुक गया। पता नही, उन्होंने उस धन का क्या किया ?"

"कितना होगा मा ?"

"पचास हजार से कम तो क्या होगा !"

"तुमने उसके लिए क्या सोचा था ?"

"मैंने कभी कुछ सोचा ही नही । पर आज तेरे पिता मुझसे पूछे तो मै कहूँ कि आधा जीवन को दे दो और आधा तुम लोगो की पाठशालाओ को ।"

सबने सुना, परन्तु किसी ने उत्तर नही दिया । उसी उदात्त भाव-मंडित वातावरण मे उस दिन की बैठक विसर्जित हो गई ।

दूसरे दिन जब करुणाशंकर जीवन के लिए भोजन लेने आया तो उसके हाथ मे एक लिफाफा था । उसे मा के हाथ मे देकर उसने कहा—"पिताजी ने एक लाख कुछ हज़ार रुपयो का चैक दिया है और कहा है, इसे आप जैसे चाहे व्यय कर दे !"

मा क्षण भर के लिए अवाक् हो गई । बाद मे उन्होने अधिक वृद्ध होकर कहा—"इतना बडा दायित्व अकेले मेरे कन्धो पर !"

"यह तुम्हारे नाम मेरी मा की थाती है, बडी मा !"—कहता-कहता करुणाशंकर बाहर निकल गया ।

४१

विवाह

"चंचला, तुम आज जाना चाहती हो ?–हरिदास ने मधुर वाणी में पूछा।

"हाँ,"—चचला ने उत्तर दिया।

"कल तो विवाह है ?"

"उसे स्थगित कर दीजिए।"

"परन्तु तैयारी पूरी हो चुकी है।"

"पाँच-दस दिन आगे भी उसका उपयोग हो सकता है।"

"बन्दोपाध्याय महाशय का सारा परिवार आ गया है, दोनो ओर लोगो को निमंत्रण दिया जा चुका है "

"इस सबका उत्तरदायित्व मुझ पर नही !"—चचला ने सतप्त होकर उत्तर दिया।

"हम सब तुम्हारी ही भलाई का तो काम कर रहे है ? इसमे हमारा स्वार्थ तो नही है ?"—हरिदास ने वाणी मे और भी माधुर्य भरकर कहा।

"आप समझते क्यो नहीं, भाई जी ! मुझे यह विवाह नही करना।"—चचला का सताप और भी बढा।

"तो तुम काकाजी की इच्छा पूरी न करोगी ? उनकी अन्तिम इच्छा !"

"काकाजी की यह इच्छा नही थी।"

"तो क्या थी ?"

"जो निर्मला ने लिखी है। मै निर्मला का निर्णय मानने के लिए बाध्य हूँ।"

"मेरी बात कोई मूल्य नही रखती ? तुम समझती हो, निर्मला काकाजी की इच्छाओं को मुझसे अधिक जानती है ?"

"अन्तिम बात काकाजी ने उससे ही का थी !"

"और मेरे पास काकाजी के लिखित प्रमाण है। ये देखो "—कहकर हरिदास ने ब्याह-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार की फाइल चचला के सामने खोलकर रख दी। फिर अपने नाम सेठजी के एक पत्र के ये वाक्य पढ सुनाये—"हरीश बन्दोपाध्याय के बारे में मैंने अपना समाधान कर लिया है। उच्च विचारों और आदर्शों का युवक है। परिवार भी उत्तम है। जाति-पाँति की दृष्टि से भी यह सम्बन्ध आदर्श होगा। समय लगना अनिवार्य है। स्वामी अभयानन्दजी को लिख दो कि यह लडका हाथ से जाने न पाये। ईश्वर चाहेगा तो चचला सुखी होगी।"

और उन्होने चचला से पूछा—"अब भी तुम्हे शका है ?"

चचला ने कहा—"काकाजी को मेरे हृदय की अवस्था अन्तिम दिन ही ज्ञात हुई थी। उसके उपरान्त जो बाते हुई, वही अन्तिम है, वही सच्ची है। वे बाते निर्मला ने अपने पत्र मे लिखी है। मै उनसे ही बाध्य हूँ।"

"देखो चचला, काकाजी किस तरह विचार करते थे, वह कितना लम्बा सूत्र बाँधते थे, लोगो को किस तरह घुमा-फिराकर ठीक रास्ते पर लाते थे—ये सब बाते तुम नही समझ सकती, निर्मला तो बिल्कुल ही नही समझ सकती। जो लोग उनके साथ वर्षो रहे, वे भी बहुधा उनके निर्णयो से भ्रम मे पड जाया करते थे। इसलिए यदि तुम उनकी इच्छा का पालन करना चाहती हो तो मेरी बात मान लो।"

चचला कुछ विचार मे पड गई और हरिदास ने देखा कि मेरा यह तर्क सफल हो रहा है, अतएव उन्होने इसे आगे बढाया—

"भला बताओ, यदि काकाजी की यह इच्छा न होती तो वह हरीश को इतने दिनो रोके क्यो रहते ?"

परन्तु हरिदास ने अपने तर्क के विषय मे गलत अनुमान लगाया। वास्तव मे चचला का ध्यान जीवन पर चला गया था। वह सोचने लगी थी कि क्या अब यह चिर-सचित कामना नष्ट हो जायेगी ? क्या मुझे उसको छोड़कर ब्राह्मण के साथ विवाह करना होगा ? और क्षणभर मे उसे अपनी समस्त महात्वाकाक्षाओ की चिता धू-धू करके जलती हुई दिखलाई देने लगी। नारी का दासीत्व और हरिजन-गौरव का भग्नावशेष मूर्त्त रूप धारण करके उसके सम्मुख उपस्थित हुआ। उसने एक बार सोचा—मै अपना मन:प्राण बहुत पहले उसे समर्पित कर चुकी थी। और उसने उत्तर दे दिया—

"यह काकाजी की इच्छा हो, तो वह भी थी। मै ग्वालियर गये बिना कोई निर्णय नही कर सकती।"

हरिदास कुछ सहमे। उन्हे तर्क सगठित करने मे कुछ समय लगा। अन्त मे उन्होंने कहा—

"इस कार्य को स्थगित करने में तो किसी का कल्याण नही है, सबको पछताना पड़ेगा।"

"मै किसी के कल्याण-अकल्याण से बँधी हुई नही हूँ। मुझ पर कोई उत्तरदायित्व भी नहीं।" और चचला उठकर शीघ्रता से बाहर चली गई। हरिदास ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, पर वह व्यर्थ हुआ।

हरिदास इस प्रकार हार माननेवाले नही थे। वह जो निश्चय कर लेते थे उसे पूर्ण करने के लिए अन्त तक सघर्ष करते थे। बहुधा सफल हो जाते थे, किन्तु जब असफलता हाथ लगती तो एक अच्छे खिलाडी की तरह उसे स्वीकार कर लेते और भविष्य की तैयारी में जुट जाते थे। उन्होने क्षण भर विचार किया और घर से बाहर निकल गये। एक घंटा भी न हो पाया था, उन्होंने लौटकर चंचला को सन्देश भेजा कि सारनाथ में महात्माजी ने उसे अभी बुलाया है। मोटर तैयार है, तुरन्त आ जाये।

चंचला के सामने कोई उपाय न रहा। महात्माजी के आदेश की अवज्ञा करना उसके लिए असम्भव था। हरिदास पर खीझती हुई वह आ पहुँची। हरिदास स्वय उसके साथ गये, किन्तु मार्ग में कोई बातचीत नही हुई।

महात्माजी ने चचला को प्यार से आशीर्वाद देते हुए कहा—"हरिदास कहता है, तू रूठ गई है?"

चचला इसका क्या उत्तर देती? और उत्तर देने की उसकी मन.स्थिति ही कहाँ थी? वह चुपचाप रही।

महात्माजी ने आगे कहा—"गगाप्रसाद मुझसे भी तो हरीश की प्रशंसा करते थे। कहते थे, विवाह हो गया तो दोनों ही आश्रम के लिए उपयोगी होगे।"

अब चचला से रहा न गया। उसने कहा—"प्रश्न व्यक्ति का नहीं है, हृदय का है, महात्माजी!"

"मैने तो सुना, गंगाप्रसाद की इच्छा का प्रश्न आ पडा है?"

"जी हाँ! इच्छा क्या थी, यही प्रश्न है।"

"हरिदास तो कहता है, उनकी इच्छा यही थी?

चचला ने निर्मला का कथन सुना दिया।

महात्माजी ने कहा—"यदि तुझे ग्वालियर जाने के बाद सन्तोष न हुआ, तो फिर हरीश से ही विवाह करेगी?"

"मुझे स्वीकार है !"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि प्रश्न केवल पहली और दूसरी पसन्दगी का है ?"

चंचला ने कोई उत्तर नहीं दिया।

महात्माजी ने फिर कहा —"जहाँ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया गया, वहाँ अन्य हिताहित को देखते हुए दूसरी पसन्दगी बुरी नहीं होगी। इस सम्बन्ध से एक लाभ और भी होगा समाज को ब्राह्मण-हरिजन विवाह का उदाहरण मिलेगा। नहीं ?"

"मैं यह नहीं चाहती।"

"तब तो इस विवाह का ही विरोध हुआ। पसन्दगी का प्रश्न कहाँ रहा ?"

"केवल काकाजी की इच्छा !"

"काकाजी तेरी इच्छा के विरुद्ध तेरे सिर पर कोई चीज थोड़े ही लाद सकते थे ?"

हरिदास ने देखा कि बात बिगड़ रही है, तो वह बीच में बोल उठे— परन्तु चार-पाँच दिन पहले तो इन्होंने इस सम्बन्ध को अस्वीकार नहीं किया था।"

चंचला—"मैंने स्वीकार भी नहीं किया था। वही स्थिति आज भी है।"

इस पर महात्माजी ने कहा—"यह स्थिति इतनी तैयारी हो जाने के बाद उचित नहीं है। या तो स्वीकार करो, या अस्वीकार करो ! जो कुछ करो सोच विचारकर करो। इतना स्मरण रखो कि अस्वीकार करने से हरीश के परिवार को असुविधा होगी।"

"मैं अस्वीकार करती हूँ।"

इस पर हरिदास बोले—"यह कैसे हो सकता है, महात्माजी ? इस से तो उस परिवार पर असह्य अन्याय होगा ?"

"अन्याय तो होगा" - महात्माजी ने कहा।

"परन्तु इस अन्याय की उत्तरदायी मैं कैसे ? मैंने आपको समय पर सूचना दे दी थी।"—चंचला ने प्रत्युत्तर दिया।

"अच्छा जाओ, अब मुझे दूसरा काम है। जो कुछ करो, सोच-विचार कर करो, इतना ही मैं कह सकता हूँ" कहकर महात्माजी ने उन्हें विदा कर दिया।

चंचला ने माना कि महात्माजी ने मेरे पक्ष का समर्थन किया, हरिदास

सोचने लगे कि चचला की हठधर्मी की भी कोई सीमा है ? महात्माजी का कहना भी मानने को तैयार नही है !

दोनो आश्रम लौट आये। मार्ग मे फिर कोई बातचीत नही हुई। किन्तु, हरिदास बराबर आगे का सूत्र बाँधते रहे।

चचला की गाडी के लिए बहुत कम समय रह गया था, अतः वह आश्रम पहुँचते ही जाने की तैयारी करने लगी। इसी बीच हरिदास ने आचार्या, प्रभावशाली शिक्षिकाओ और संचालिका से कुछ बातें की और जब तागा आकर खड़ा हुआ तो इनमे से कुछ ने चचला के पास जाकर बातें करनी शुरू की।

आचार्या ने कहा—"जाना ही निश्चित रहा ?"

"जी हाँ,"—चचला ने सक्षेप मे उत्तर दे दिया।

"अवसर चला जाने पर पछताना तो नही पडेगा ?"

"पछताना पडेगा तो पछता लूँगी।"

"अभी सोच-विचार क्यो नही कर लेती ?"

"सम्भव नही है।"

"परन्तु चचला, तुम्हारे ऐसा करने से आश्रम की कितनी बदनामी होगी !"—एक शिक्षिका ने कहा।

गाडी का समय कम होता जाता था। ताँगेवाला बार-बार पुकार रहा था पर उसकी ओर किसी का ध्यान नही था।

"इसका दायित्व मुझ पर नही"—कहकर चचला चलने लगी।

शिक्षिका ने उसे रोककर कहा—"जरा सुनो तो। गाडी तो कल भी है, बात हाथ से सदा के लिए निकल जायेगी।"

चचला को सामान लिये-लिये रुकना पडा।

शिक्षिका ने कहा—"बदनामी का दायित्व तुम्हारे ऊपर न हो, तो भी तुम उसे बचा सकती हो ? जिस आश्रम से तुम्हारा इतना हित हुआ, उसे बदनामी से बचाने के लिए क्या तुम कुछ भी न करोगी ?" और तुम जानती हो कि तुम्हारे इस काम का आश्रम पर क्या परिणाम होगा ?"

"नही जानती, न अभी जानना चाहती हूँ। मुझे जाने दीजिए।"—और वह फिर चलने को तैयार हो गई।

इस समय तक सचालिका भी वहाँ पहुँच गई। उन्होने कहा—"गाडी तो अब मिल नही सकती। केवल दस मिनट शेष है। आप सब बैठ क्यो नही जाती ?"

और चचला के मन पर सीधा आघात हुआ—जान-बूझकर गाडी छुडा दी गई, परन्तु इससे क्या ? कोई बाँधकर तो विवाह नही करा सकता ? वह सामान रखकर बाहर निकल गई ।

उस दिन उससे किसी ने और बाते नही की । किन्तु दूसरे दिन प्रातः-काल से ही सर्वत्र विवाह की धूम-धाम दिखलाई पडने लगी । छात्राओ ने सुन्दर-सुन्दर फूल चुने और उनकी मालायें, गुलदस्ते तथा आभूषण बनाये जाने लगे । एक स्थान पर मण्डप तैयार हो रहा था । केले के खम्भो और तोरण-बदन-वारो से उसे सजाया जा रहा था । भोजन-गृह मे मिष्टान्न बनाने की तैयारियाँ थी । जो भी विचार, वार्तालाप और काम होते थे वे सब विवाह-सम्बन्धी थे । जो विवाह-सम्बन्धी नही था, वह आज मानो वर्जित था ! और बालिकाएँ और साधारण शिक्षिकाएँ चचला के पास जा-जाकर उसे बधाइयाँ देती थी और उसके लिए शुभ कामनाएँ करती थी । और उससे अनेक बाते पूछी जाती थी और उससे उत्तर प्राप्त किये जाते थे ।

कुछ समय तक चचला ने यह सब देखा और सहा, परन्तु जब सहनशक्ति से बाहर हो गया तो वह दूर जाकर एक एकान्त स्थल पर बैठ गई और फूट-फूटकर रोने लगी । वह सोचती क्या हरिदास भाई ने बलात् विवाह कर देने का निश्चय किया है ? क्या आश्रम के लिए यह सब शोभनीय है ? अब मै किसी प्रकार बच न सकूगी ? परन्तु यह बलिदान होगा । ठीक है, होने दो ! इसका परिणाम देखकर ससार आगे के लिए सचेत होगा ।

आश्रम की प्रतिष्ठा, सबकी सुविधाएँ यथावत् रहे । मै ही अपना बलिदान करूँगी !

और उसने विरोध छोड़ देने का निश्चय किया । एक घोर सकल्प की छाया उसके मुखमण्डल पर दृष्टिगत होने लगी ।

अपने कमरे मे लौटकर उसने निर्मला को पत्र लिखा—"आश्रम की प्रतिष्ठा, दूसरो की सुख-सुविधा और काकाजी की कथित इच्छा पर—जिसकी वास्तविकता पर मेरा कोई विश्वास नही है—मैंने अपने-आपको बलि कर देने का संकल्प किया है । दो घटे बाद मैं श्री हरीश बन्दोपाध्याय की पत्नी बन जाऊँगी । भविष्य मे क्या होगा, सो आज कैसे लिखूँ, परन्तु तुम्हे सदा अनिष्ट समाचार सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए ।"

पत्र चला गया । चचला जड़वत् आगे के कार्यक्रमों की प्रतीक्षा करने लगी । लोगो ने अनुभव किया कि उसका विरोध मिट गया है, तो उनका उत्साह भी बढ गया ।

शिक्षिकाओं और बालिकाओं ने उसे स्नान कराया, नये वस्त्र पहनाये और फलों से सजाया। मुहूर्त आने पर वह मण्डप में ले जाई गई और आधे घंटे के अन्दर विवाह-संस्कार सम्पन्न हो गया। सबने उसे बधाइयाँ दी और सबने उसके प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट की।

वृद्धा सास ने कहा—"मेरे घर लक्ष्मी आई!"

वृद्ध बन्दोपाध्याय महाशय बोले—"भगवान् मगल करें! हम अनुगृहीत हुए!"

हरीश मन में सोचने लगा—"तुमन कितनी प्रतीक्षा कराई!"

इधर हरिदास ने कार्य के सम्पन्न होने से शान्ति की साँस ली! उन्हे गौरव-युक्त हष था कि उन्होंने काकाजी की एक इच्छा और पूरी की!

और चचला? वह हर्ष-विषाद के परे हो गई थी। कदाचित् वह इस वातावरण में थी ही नही।

४२

परिवार की परिधि में

नये परिवार की स्वच्छता, शुद्धता और सद्वृत्तियों का चचला के मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पडा । उसे न तो आदर और प्रेम की कमी प्रतीत हुई और न भद्रता तथा सद्व्यवहार की । उसका मन धीरे-धीरे वहाँ रमने लगा । ननंद और देवरों के आग्रह से वह बगला भाषा सीखने लगी और उसका दिन-भर का कार्यक्रम ऐसा बन गया कि उसे सूर्योदय से सूर्यास्त तक सोचने-विचारने का अवसर ही न मिलता । सास और ससुर की वह तन-मन से सेवा करती और और हरीश की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखती । उसके व्यवहार-माधुर्य ने सारे परिवार पर मोहिनी डाल दी ।

परन्तु, वह हरीश के साथ एकान्त मे मिलने के अवसर प्रयत्नपूर्वक टालती रही । पहले कुछ दिनों तक तो परिवार के लोगों ने इस ओर ध्यान नही दिया, किन्तु जब उन्होंने देखा कि हरीश के व्यवहार मे खिन्नता आ रही है, तो इस विषय पर विचार किया गया और इसके उपाय किये जाने लगे ।

एक दिन विधवा ननंद शालिनी ने बडे प्यार के साथ उससे कहा — "छोटी बहू, हरीश का मनःस्वास्थ्य बिगडता जा रहा है ।"

"क्यों ?"—चचला ने सशक होकर पूछा ।

"पता नही, पर उसमें चिडचिडापन आता जाता है । रात को सोते-सोते चौंक पडता है और बडबडाने लगता है ।"

"तो किसी डाक्टर को दिखाना चाहिए ।"

"मा कहती है, दो-तीन दिन पहले बार-बार तुम्हारा नाम पुकार उठता था ।"

"मेरा नाम !"

"हा । तुमसे कुछ नही बताया ?"

"नही तो ।"

"तुम पूछती क्यों नही ?"

"अब पूछूँगी ।"

ननँद को सन्तोष हुआ । उसने अपने माता-पिता का भी समाधान करा दिया ।

उसी दिन तीसरे पहर जब सब लोग चाय पीने बैठे—और परिवार के सब छोटे-बडे सदस्य एक साथ ही चाय पीते थे—तो चचला ने चाय देते-देते हरीश से कहा—"दीदी कहती है, आपका स्वास्थ्य बिगड रहा है । किसी डाक्टर को क्यों नही दिखा देते ?"

हरीश पहले चकित और फिर सकुचित होकर बोला—"मेरा स्वास्थ्य तो अच्छा है !"

सबने दोनो की ओर देखा और फिर मा ने कहा—"तू तो रात-रात भर सोता नही, सोता है तो चौक पड़ता है, बडबड़ाता है । स्वस्थ कैसे है ?"

हरीश चुप रहा । उसने ऊपर सिर करके किसी की ओर देखा भी नही । उसकी छोटी-सी भानजी ये सब बातें बडे ध्यान से सुन रही थी । उसे कुछ बोलने की इच्छा हो पडी और उसने कहा—

"नानी, रात को मामा सोते-सोते मामी का नाम पुकारते . . ."

हरीश ने सकोच में गड़कर उसका हाथ पकडकर झकझोर दिया और आँखो से उसे ऐसा डाँटा कि वह आगे बोल ही न सकी । इससे किसी को सन्ताप हुआ, किसी को हँसी आई, परन्तु सबने अपने भावो को दबा लिया । वृद्ध बन्दोपाध्याय महाशय ने कहा—

"उसे क्यों डराता है, हरीश ? भगवान् मंगल करें !"

इसके बाद कोई कुछ न बोला और चाय-पान का कार्यक्रम समाप्त हो गया ।

रात्रि को बन्दोपाध्याय महाशय ने अपनी पत्नी से पूछा—"बहू और हरीश का सम्बन्ध ठीक तो है ?"

वृद्धा ने उत्तर दिया—"ठीक तो दीखता है, परन्तु बहू उसका सम्पर्क टालती रहती है ।"

"अभी नई-नई आई है, सकोच करती होगी । प्रयत्न करके दो-चार बार उन्हे मिला दो, सब ठीक हो जायेगा । भगवान् मगल करें !"

तत्काल शालिनी को निर्देश दिया गया कि वह आवश्यक कार्रवाई कर दे । शालिनी ने अपने हाथो एक कमरा साफ किया और उसमें एक स्वच्छ बिस्तर डाल दिया । हरीश को उसमें सोने के लिए कहकर उसने चचला से कहा, "बहू, हरीश को दूध दे आना और उसके पास ही रहकर देखना कि वह रात को सोता है या नही ।"

चंचला इनकार कैसे करती ? अपरिहार्य समझकर उसने आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। शालिनी मन में पछताई—"मैंने पहले ही यह आयोजन क्यों नहीं किया !"

चचला जब हरीश के कमरे में गई उस समय हरीश एक पुस्तक आँखों के सामने खोले पडा हुआ था। चंचला को देखते ही उठ बैठा और मद हँसी के साथ दबे स्वर में बोला—"आखिर डाक्टर आ गया ?"

चचला ने प्रकट आश्चर्य के साथ उत्तर दिया—"डाक्टर ! डाक्टर कहाँ है ?"

हरीश ने 'यह' कहकर उसका हाथ पकडने की चेष्टा की, परन्तु चचला गम्भीरतापूर्वक पीछे हट गई और बोली—"दीदी का कहना है कि मैं आप पर पहरा दूँ और देखूँ कि आप अच्छी नींद सोते हैं या नहीं।"

हरीश हताश होकर पीछे हट गया। उसने खिन्नता से कहा—"पहरे की क्या आवश्यकता है ?"

"मुझे आज्ञा का पालन करना होगा। आप दूध पीकर सो जाइए।"—कहकर चंचला ने दूध का कटोरा आगे बढ़ा दिया।

हरीश ने हाथ बढ़ाते हुए कहा—"मैं रोज़ रात को तो दूध नहीं पीता, आज क्या बात है ?"

"दीदी की आज्ञा।"

और हरीश दूध पी गया। चंचला उसे फिर से सोने का आदेश देकर और बिजली की बत्ती बुझाकर पास की एक आराम कुर्सी पर चुपचाप लेट गई।

थोडी देर में हरीश ने कहा—"तुम मेरे पास नहीं बैठोगी ?"

"पास ही तो हूँ !"

"इस पलँग पर आ जाओ।"

चंचला उठकर पलँग के एक किनारे बैठ गई। हरीश उसके पास रुक कर बोला—"मुझ से दूर-दूर क्यों रहती हो ?"

"मेरे भाग्य !"—चंचला ने सूक्ष्म उत्तर दे दिया।

"भाग्य !"—हरीश ने आश्चर्य से कहा—"भाग्य कैसे ?"

"इससे अधिक मुझ से न पूछिए। कृपा करके मुझे अकेली छोड़ दीजिए।"—चचला ने वेदना के साथ विनय के स्वर में कहा।

हरीश का आश्चर्य और बढा। उसने कहा—"क्या यह सम्भव है, चंचला ? तुम्हारे मन की अवस्था मैं नहीं जान सकता ?"

चंचला दीन हो उठी। बोली "मेरी विनय-मात्र है। फिर आप

जोर देंगे तो मुझे सब-कुछ कहना पडेगा। परन्तु मेरा जीवन दूभर हो जायेगा।"

"मै तुम्हे कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता। परन्तु सार रूप में तो मुझे कल्पना दे दो!"

"बस, कुछ दिनों के लिए मुझे दूर रहने दीजिए। इस बीच मैं आपकी जितनी सेवा कर सकूँगी, करती रहूँगी। जब कभी सम्भव होगा, आपसे सब-कुछ कह दूँगी।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा! पर यह अस्वाभाविक होगा। हम दोनों पर इसका बुरा परिणाम होगा।"

"मेरी चिन्ता छोड़ दीजिए। आप कृपा कर अपने को सँभालिये।"

"मै प्रयत्न करूँगा, पर एक शर्त पर!"

"क्या शर्त?"

"तुम मुझ से एकान्त में मिलने के अवसर मत टाला करो।"

"मुझे स्वीकार है।"

"मुझे भी स्वीकार है।"

उस दिन से यद्यपि दोनो के हृदय में पीड़ा समा गई, फिर भी दोनों ने प्रकाश्यतः अपने सम्बन्धो का स्वाभाविक रूप कायम रखा। जब कोई उसे कायम रखने में असमर्थ हो जाता तो वह उस अवसर के लिए कोई-न-कोई बहाना बनाकर एकान्त का सेवन करता। दोनों के इस रुख के कारण परिवार की शान्ति में कोई बाधा नही पड़ी।

हरीश के भद्र एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार से चंचला अपनी ही लज्जा में विगलित होती रहती थी। दूसरी ओर, हरीश चचला के आत्म-निग्रहपूर्ण जीवन पर आश्चर्य करता, मुग्ध होता और उसका रहस्य जानने को उत्सुक रहता था। उसे आशा थी कि समय बीतने पर चंचला कुछ कहेगी, परन्तु जब उसने देखा कि उसका मौन भंग होता ही नहीं तो उसका धैर्य टूट गया। एक दिन उसने चंचला से कहा—

"यह जीवन अब सहन नहीं होता। हमें कुछ उपाय करना होगा।"

"आप जैसा चाहेंगे, वैसा ही होगा, परन्तु मैंने आपको अपनी बात बता दी है।"—चंचला ने उत्तर दिया।

"बात कहाँ बताई? बता देतीं तो शायद गुत्थी सुलझ जाती।"

"मैं इतना ही बता सकती हूँ कि मै आपके योग्य नहीं हूँ।"

"यह तो अन्धा भी नही मानेगा।"

"मुझे भरोसा है कि आप मान लेंगे।"

"पर मेरा धैर्य टूट गया है।"

"उसे सँभालने में ही हित है।"

"सँभाल सकता तो बात ही क्यो करता ?"

"मै आपकी मन स्थिति की कल्पना कर सकती हूँ। आपके व्यवहार की मेरे हृदय पर गहरी छाप पडी है। परन्तु, यह सब होने पर भी मै विवश हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।"

"तुम्हे बन्धन थोडा-बहुत शिथिल करना होगा।"

"मै जिस सीमा तक जा सकती थी, चली गई हूँ। इसके आगे आप मुझे यंत्र से अधिक नही पा सकते।"

"मुझ में शक्ति होगी तो मै यत्र में प्राण-प्रतिष्ठा कर लूँगा।"

"आगे मेरा क्या अधिकार है ?"—कहकर चचला चुप हो गई।

दूसरे दिन से हरीश अधिक प्रसन्न दिखलाई देने लगा, परन्तु चचला एकदम उदास और अन्यमनस्क हो गई। स्वाभाविक सस्कारो के कारण वह अपनी स्थिति को दूसरो पर प्रकट न होने देती, परन्तु कभी-कभी ऐसी घटनाएँ अवश्य हो जाती, जिससे उसका परिवर्तन स्पष्ट हो जाता और उसे लज्जित होना पड़ता। और वह स्थिति लगातार बढती गई। उसका शरीर और चेहरा सूखने लगा और सास-ससुर को चिन्ता हुई कि कही वह बीमार तो नहीं है। हरीश भी चिन्ता से मुक्त न रह सका।

चंचला के हृदय पर हरीश के व्यवहार का प्रभाव नित्य-प्रति बढता जाता था और जैसे-जैसे यह प्रभाव बढता, वह अधिकाधिक अशान्त होती जाती थी। वह बार-बार अनुभव करती कि उसके रुख से एक ऐसे व्यक्ति के साथ अन्याय हो रहा है, जो उसके प्रेम की आशा में व्याकुल है, जिसके पास स्वयं प्रेम का कोष लबालब भरा हुआ है, जो चारित्र्य का आदर्श है और सबसे अधिक, जो नितान्त निर्दोष है। वह अपनी ओर से इस अन्याय के निवारण का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहती थी, परन्तु जब कभी भी वह आगे क़दम बढाती, उसे प्रतीत होता, मानो कोई प्रच्छन्न शक्ति उसे पीछे खीच रही है। वह आत्मा और शरीर के, वर्तमान जीवन और आकाक्षित जीवन के सघर्ष में पड़ गई और यह स्थिति दिन-प्रतिदिन उसे खाई से कुए की ओर बढाती गई।

उसे ससार में केवल एक व्यक्ति का सहारा मालूम होता था, और वह था निर्मला का। विवाह के दिन उसने निर्मला को जो घोर निराशा का पत्र

लिखा था उसके पश्चात् उसे आशा थी कि निर्मला आ जायेगी। किन्तु वह आशा व्यर्थ हुई। निर्मला का स्वास्थ्य बिगडता ही गया और उसे पुन स्वास्थ्य-लाभ करने में इतना लम्बा समय लग गया। आज वह आ रही है, यह सोचकर चचला को किंचित् धैर्य तो बँधा है, किन्तु वह उसका स्वागत करने के लिए पुराना हार्दिक उत्साह कहाँ पाये ? उसके पास तो उल्लास का औदासीन्य-ग्रस्त भग्नावशेष मात्र रह गया है, और उसे वक्षस्थल से चिपटाये निर्मला के सामने होने का भी साहस उसे नही होता।

अन्ततः निर्मला आई। स्टेशन पर चंचला और हरीश उसे लेने के लिए गये थे और दोनो के मिलते समय हरीश ने ईर्ष्यापूर्ण हृदय से देखा कि इस द्विधारा-सगम मे जीवन अनवरुद्ध गति से प्रवाहित हो रहा है।

घर पहुँचने पर सारे परिवार ने भी आत्मीय के रूप में उसका स्वागत किया। वृद्ध दम्पति के वात्सल्य, शालिनी के प्रेम, बच्चो की ममता और हरीश के भाइयो की विचारशीलता ने उसे कुछ ही घटो में मुग्ध कर लिया और वह महसूस करने लगी कि चचला ने कुछ भी खोया हो, पति के रूप में उसे जो-कुछ मिला है उसमें पश्चात्ताप के लिए कोई अवकाश नही है।

रात्रि को दोनो सखियाँ एकान्त में वार्तालाप करने लगी। निर्मला ने कहा—"चचला, तू ने तो जो-कुछ पाया वह ईर्ष्या के योग्य है। मै तो इतने ही समय मे विभोर हो उठी।"

"हाँ, निर्मला ! मेरा भी अनुभव यही है। कितना अच्छा होता, मै इस सबका प्रत्युत्तर दे पाती !"—चंचला ने नितान्त दयनीयता के साथ कहा।

"तुझे इन सुन्दर परिस्थितियो को स्वीकार कर लेना चाहिए।"

"मै चाहती हूँ, और पूरी शक्ति से प्रयत्न भी करती हूँ; परन्तु हृदय पर नियन्त्रण नहीं रहा, निर्मला !"

"अब तुम्हे पुरानी बाते भूल जाना चाहिए, बहन !"

"भूलूँ कैसे ?"—जिन आदर्शो और आकाक्षाओ को शैशव से सचित करके रखा, इतनी आयु तक प्रतिदिन, सोते-जागते, जिन्हे पूर्ण करने के मनो-रथ बाँधे, उन्हे भूल जाना क्या सरल है, निर्मला ? और उस व्यक्ति को भी भूल जाऊँ, जिसके प्रति अज्ञात रूप से आत्म-समर्पण कर चुकी थी ?"

"तूने जीवन के विषय में अन्तिम निर्णय तो नही किया था ? ग्वालियर जाकर निश्चय करने वाली थी।"

"नही, यह भ्रम था—विवाह के दिन पूरी तरह कट गया। उस दिन मैने अनुभव किया कि आत्म-समर्पण बहुत पहले—लगभग चौदह वर्ष की आयु

मे हो चुका था, जब मुझे गुरुकुल मे उसका पहला पत्र मिला था। उसके बाद मै उससे कभी विलग नही हुई। गत वर्ष-दो वर्ष जो मै विलग दिखलाई पडी, वह विलगता नही थी, केवल रूठना था—अभिमानी हृदय के माने हुए अप मान की अस्थायी वेदना-मात्र थी।"

"यह सच हो तो भी पिछली बातो को भूलने और वर्तमान मे रस लेने मे ही कल्याण है !"

"निर्मला ! यदि तू मेरी दशा का अनुभव कर सकती !"—कहते-कहते चचला का कठ अवरुद्ध हो गया और उसकी आँखो ने चचला के वक्षस्थल को आर्द्र करना आरम्भ कर दिया।

निर्मला ने बहुत कठिनता से अपने-आपको संभालकर उसे सान्त्वना देते हुए पूछा—"तो फिर उपाय क्या है ?"

"आत्म-बलिदान के अतिरिक्त और कुछ नही सूझता। हरीश बाबू को मै देवता मान सकती हूँ, प्राणेश्वर नही ! सात करोड हरिजनो से विलग होकर बापू और अम्मा के प्रति की हुई प्रतिज्ञाओ की अन्त्येष्टि करके, स्त्री-पुरुष समानता के आदर्श को तिलाजलि देकर न मै जीवित रह सकती हूँ, न पत्नी के रूप मे हरीश बाबू को सुखी कर सकती हूँ।"

"यह तो सभी के दु ख का आयोजन हुआ। जो किसी को सुखी नही कर सकता उसे दूसरे को दु:ख पहुँचाने का क्या अधिकार ?"

"तुम ठीक कहती हो, निर्मला ! किन्तु अब मेरे सामने अधिकार और विचार का प्रश्न ही नही रहा। वह सब मेरे परे हो गया है। केवल हृदय धू-धू करके जल रहा हे। मुझे अब अपनी कोई चिन्ता नही रही, किन्तु हरीश बाबू की स्थिति पर दया आती है। यदि किसी प्रकार उस निर्दोष दु:खी को सुख दे सकती, उल्लसित देख सकती, तो कृतकार्य हो जाती।"

निर्मला ने दूसरा लक्ष्य-सधान करते हुए कहा—"आदर्शो का पालन तो यहाँ रहकर भी सम्भव है, चचला ! रही जीवन की बात, सो तुमने एक पहलू पर विचार नहीं किया। क्या तुम नही जानती कि विवाह का आधार विशिष्ट सस्कार हे और जब तक वह सस्कार नहीं होता, विवाहेच्छुकों का पारस्परिक सम्बन्ध भाई-बहन का ही हो सकता है ?"

"ओह ! निर्मला ! तू समझती क्यो नहीं ?"—चचला ने खीझकर कहा —"संस्कार-विधि का आत्मा और हृदय से क्या सम्बन्ध ? वह समाज की व्यवस्था के लिए मनोवैज्ञानिक तथा कानूनी आयोजन से अधिक क्या है ?"—और चचला ने इस लक्ष्य को भी विफल कर दिया।

निर्मला क्या करती ! वह देख रही थी कि उसकी प्राणाधिक सखी और हरीश के सामने विनाश मूर्त्त रूप धारण करके नाच रहा है, विकराल भविष्य की अशुभ छाया उन दोनो पर पड चुकी है, फिर भी वह कुछ सहायता करने मे असमर्थ है। आज जैसे सकट से उसका साक्षात्कार कभी न हुआ था। अन्त मे उसने घबडाकर कहा—

"कुछ भी हो, तुम्हे हरीश बाबू को स्वीकार करना ही होगा, चचला ! ईश्वर ने तुम्हे अनुपम अवसर प्रदान किया है, उसे भले ही विकल्प मानकर स्वीकार करो, किन्तु ठुकराओ मत।"

"मै इस प्रयत्न मे ही अपने प्राण होमूँगी, बहन !"

"अच्छा, अब जाओ, हरीश बाबू तुम्हारी राह देख रहे होगे !"—कहकर निर्मला ने उसे हाथ पकड़कर उठा दिया और उसके चले जाने के बाद रातभर चिन्ता-सागर में गोते लगाती रही।

हरीश वास्तव में चचला की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने द्वार पर देखते ही उसे अपने स्वाभाविक प्रेम तथा आदर से बुलाया और पास बैठाकर कहा—"प्राण सखी के आने पर भी उल्लास नहीं ?"

चचला ने समय के अनुसार बात का रुख बदलकर, मुस्कराते हुए कहा—"जिस दिन देवता को प्रसन्न कर सकूँगी उस दिन उल्लास आप-ही-आप फूट पड़ेगा।"

"किन्तु जिसे देवता कहती हो उसे तो दूर-दूर रखती हो !"

"फिर भी उसके चरणो की दासी हूँ।"

"देवता को दासियाँ तो बहुत मिल सकती है, उसे देवी की आवश्यकता है। वह कुम्हलाये हुए फूल की नही, नव-प्रफुल्लित, परागयुक्त, सौरभपूर्ण, प्रसूनो की आकांक्षा और याचना करता है !"

चंचला के हृदय पर एक शिला का भार और बढ़ गया, फिर भी उसने हँसने का प्रयत्न करते हुए मधुर स्वर में कहा—"ईश्वर करे, वह सुयोग आये !"

४३

कर्मवीर

निर्मला ने थोडा स्वास्थ्य-लाभ करते ही जीवन को चचला के विवाह की सूचना दे दी थी और क्षमा-याचना की थी कि अवसर उपयुक्त न होने के कारण वे दोनो शीघ्र उसका आश्रम और कार्यक्षेत्र देखने न जा सकेंगी।

जीवन पर पत्र का प्रथम परिणाम सहसा वज्राघात के समान हुआ—अब तक आशा थी, अब वह भी नही रही! और जब उसने पुन वह अवस्था प्राप्त की, जिसे चेतना कहते है, तो वह उद्भ्रान्त के समान इधर-उधर भटकने लगा। आज वह सरिता-तट, जिस पर बैठकर उसने उद्वेग के अगणित क्षणो मे शान्ति, सान्त्वना और स्फूर्ति उपलब्ध की थी, उसे काटने दौडता है, वनराजि का मनोहर लास्य उसे ताण्डव जैसा प्रतीत होता है। वट-वृक्ष और ग्रामीण समाज मे, कुटिया के अन्दर और बाहर—कही उसे कोई सहारा नही मिलता। दिन-भर बीत गया, आधी रात्रि भी मुँह छिपा कर चली गई। किन्तु जीवन की प्राण-वेदना मे कोई कमी न हुई। वह मन-ही-मन स्मरण करने लगा—

"बाल्यावस्था मे मैने अपनी मोसी के घर तोता पला हुआ देखकर मा से कहा—'अम्मा! मै भी एक सुन्दर-सा तोता पालूगा।' मा ने अपने हृदय की समस्त करुणा और सवेदना को कण्ठ मे भरकर समझाया—'बेटा स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता से विचरण करते हुए प्राणी को पिजरे मे बन्द कर लेना अच्छा नही होता; ऐसा करने से बडा पाप लगता है।'

"मा की वह शिक्षा मेरे अन्त.पटल पर अंकित हो गई। मै बड़ा हुआ, मूछो की रेख आई, साथी-सगी बढे, अच्छे और बुरे, कर्तव्य और अकर्तव्य का भान हुआ, बचपन का अल्हडपन गया, गम्भीरता आई। मा ने प्रस्ताव

किया—'बेटा, ब्याह करले ! छोटी-सी बहू आ जाये, मेरे घर में चाँदनी छिटक जाये !'

"मुझे बचपन मे सुने हुए मा के वे शब्द याद आये—'स्वतत्रता और स्वच्छन्दता से विचरण करते हुए प्राणी को पिजरे में बन्द कर लेना अच्छा नही होता .. ..!'

"मेरा हृदय भावनाओ से परिपूर्ण हो गया । अपने जीवन पर दृष्टि फेरी—अन्धकार में मुझे कुछ सूझ न पड़ा, प्रचण्ड दीप्ति में आँखें चौधिया गईं ! मैने दो निश्चित शब्दों में उत्तर दे दिया—'नही, अम्मा !'

"मा का आग्रही हृदय मेरा उत्तर सुनकर बैठ गया । मा ने शब्दो में कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु उनके नेत्र बराबर उलाहना देते रहे—'मै तेरी माँ हूँ, क्या तू मेरी इतनी-सी बात भी न मानेगा ?'

"तथापि मेरा मन दृढ़ रहा ।

"दिन बीते । धीरे-धीरे जीवन में कुछ हलकापन, कुछ सूनापन, कुछ खालीपन महसूस होने लगा । यह क्या था, मै समझ न सका । परन्तु अनजाने, अनवरत किसी की खोज करता रहा । महत्वाकाक्षाएँ पुकार करतीं, युवावस्था का वेग धक्के देता, और मै किसी अनजान लक्ष्य की ओर दौडता चला जाता था । मै जितना भागता, वह रिक्तता, वह अन्वेषणशीलता अधिकाधिक प्रबल होती जाती ।

"मा की कही हुई पिजरे की बात मै कभी नहीं भूला । परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, मै एक विलक्षण अनुभव करता गया । मै महसूस करने लगा—'मनुष्य-जीवन भी एक पिंजरा है । ससार में जितने मनुष्य है, उन सबका जीवन एक-एक पिजरा है । पक्षी का पिजरा जड़ होता है, गति-हीन है, ये पिजरे चेतन है, गतिमान है, अनुभूतिक्षम है । वह केवल कारागार का प्रतिरूप है, इनमें चुम्बकत्व भी है, उसमें कोई दूसरा व्यक्ति पक्षी को पकड़कर बन्द कर देता है, ये स्वय अपने बन्दी को खींच लेते है, बन्दी स्वय भी इनके अन्दर खिच आता है, उसमें बन्दी विवश रहता है, इसमे वह विजयी होकर राज्य करता है । मानव-जीवन के वे पिजरे अधिक भयकर है और ये सब पिंजरे एक-दूसरे से गुँथे हुए है—खड़खडाते हुए भी पृथक् नही हो सकते ।

"एक दिन मैने अपने पिजरे में फडफड़ाहट सुनी—बहुत मद और अस्पष्ट । मैंने सोचा —कोई बन्दी आ गया । मन में कुछ प्रसन्नता-सी हुई—

कोई खिलौना आ गया। फिर कुछ भय हुआ—यह मुझ पर शासन करेगा, मेरी स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा।

"डरते-डरते मैंने उसे देखने का प्रयत्न किया, परन्तु मेरे नेत्र भय से बन्द हो गये थे, मुझे कुछ भी दिखलाई न पडा।

"उस दिन से प्राय नित्य ही मुझे वह फडफडाहट सुनाई देती—हर-बार मैं उसे देखने का प्रयत्न करता। धीरे-धीरे मेरा भय कम होता गया, आकर्षण बढता गया। मुझे पहले अस्पष्ट रूप मे और तदुपरान्त स्पष्टतया एक मूर्ति दिखलाई पडने लगी। अब वह मुझ से बातें भी करती।

"एक दिन उसने पूछा—तुम मेरे पिजरे मे कैसे आये ?

"मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उत्तर दिया—तुम ही तो मेरे पिजरे मे हो।

"वह हँसी और बोली—तुम मेरे पिजरे मे हो और मै तुम्हारे पिजरे मे।

"तो फिर अधिपति कौन है ?—मैंने पूछा।

"तुम्हारे पिजरे की मैं और मेरे के तुम—उसने उत्तर दिया।

"हम दोनो हँस पड़े और हँसते रहे।

"उसने अपने अधीन पिजरे को सारी शक्ति और ध्यान लगाकर सँभाला। उसमें कही कमजोरी न आ पाई।

"मैं बहुधंधी था। अपने न्यास की पर्याप्त देखभाल और रक्षा न करके, दूसरे पिजरो की कडियाँ जोड़ता फिरा। वह पिजरा जग खा गया और मेरी वह मूर्ति विलीन हो गई।

"उसकी रक्षा का हाथ अब मेरे पिजरे पर नही दीखता। मेरा पिंजरा भी जग खाने लगा है।

"क्या वह टूट जायेगा ?"

× × ×

जीवन को वट-वृक्ष के नीचे बैठनेवाले अपने समाज का, गाँव में रहनेवाले दीन-दुःखियो का, अपने सेवा-कार्य का, ग्वालियर की पाठशालाओं का स्मरण हो आया। समस्त देश के दीन-दुखियो का एक विशाल चित्र-पट उसके मनश्चक्षुओ के समक्ष नाच उठा। उनकी वेदना ने उसके हृदय के तार को हिला दिया और उसने सोचा, क्या ये सब इसी तरह कराहते रहेंगे ? इन्हें एक जीवन से जो आशा-संदेश मिल सकता था वह भी नही मिलेगा ? जो छोटे-छोटे सेवा-कार्य आरम्भ हुए हैं, सब बन्द हो जायेंगे ? और यह सब इसलिए कि वह स-शरीर मेरे पास न रहेगी ?

तब मैंने उससे क्या सीखा ? मैंने उसका क्या आदर किया ? नही, यह कदापि नही हो सकता । मै शरीर के साथ आदर्शों का सौदा नही कर सकता । मै रहूँ, मेरे आदर्श रहे, मेरी सेवा रहे—यही उसकी आत्मा की प्रेरणा है, और मै इस प्रेरणा की अवज्ञा नही करूँगा । कल से मेरा कार्य दूने उत्साह के साथ होगा । सेवा के लिए मुझे जीना होगा, जीने के लिए हृदय को सदा प्रफुल्लित रखना होगा ।

और वह उठा । उसने 'गुरु चचला' के चित्र का आवरण हटाकर उसे उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया । उसने माना, जो चाहिए था वह मिल गया । अब आशा की आवश्यकता नही, उसके भग होने का भय नहीं ।

वह सूर्योदय के पूर्व उठ बैठा । उसका हृदय असीम आनन्द से पुलकित था, और उसकी स्फूर्ति अनेक गुनी बढ़ गई थी । उठते ही वह झाड़ू, फावड़ा और टोकरी लेकर हरिजन बस्ती में सफाई के लिए जा पहुँचा । बस्ती के निवासियो ने सोते-सोते आवाज़ सुनी तो आश्चर्य किया कि आज किस भले आदमी को इतने तड़के सफाई की सूझ पड़ी । परन्तु जब उन्होने देखा कि जीवन सफाई कर रहा है तो वे भी उसके साथ हो लिये और थोड़े ही समय में बस्ती की बाहरी सफाई पूरी हो गई । जीवन का आज यह नया आयोजन था और उसका कोई काम एक बार आरम्भ होकर बन्द नहीं होता था । उसने बस्तीवालों को बताया कि यह कार्य प्रतिदिन किया जायेगा और इसके साथ दूसरे सांस्कारिक कार्य भी होगे । शीघ्र ही वहाँ दो पाठशालाएँ भी खुल गईं—एक बच्चो के लिए और दूसरी प्रौढ़ स्त्री-पुरुषो के लिए । ये पाठशालाएँ परम्परागत पाठशालाएँ नहीं थी, जिनमें अक्षर-ज्ञान कराकर सन्तोष मान लिया जाता । इनमें आर्थिक उन्नति के आधार पर सभ्य सस्कारी जीवन की शिक्षा दी जाती थी, जो हरिजनों के उत्थान के लिए उपयोगी तो थी ही, साथ ही समस्त मानव-समाज के लिए लाभकारी भी थी । जीवन ने आज आगरे की सभा का स्मरण करके अपनी आत्मा के समक्ष स्वीकार कर लिया कि मै हरिजन हूँ और उसने सकल्प किया—"मै सात करोड़ हरिजनो को छोड़ नहीं सकता, उनके ही साथ डूबूँगा, उनके ही साथ उबरूँगा ।"

गाँव के पुराने विचार के लोगो ने जीवन की इस नई प्रवृत्ति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष आपत्ति प्रकट की, तो जीवन ने कहा—मेरा काम दीन-दुखियों की सेवा करना है । हरिजनो का स्थान इन दुखियों में पहला है । उनकी सेवा छोड़ी नहीं जा सकती । वास्तव में तो सब सेवा का आरम्भ ही वहाँ होना चाहिए । जो लोग मेरी हरिजन-सेवा पर आपत्ति करते है, वे स्वयं सेवा कराने

के अधिकारी नही है, क्योकि उनमे बडप्पन का झूठा अभिमान मौजूद है।

उसके इस कार्य के कारण उसके सहयोग-समाज के कुछ सदस्य घट गये, किन्तु हरिजनो की पूरी सख्या उसे प्राप्त हो गई। उसने उन्हे परम्परागत व्यवसायो मे उन्नति करने और उन्हे प्रतिष्ठित बनाने की नई-नई कल्पनाएँ दी और सहयोग धर्म द्वारा उन्हे कार्यान्वित कराने की व्यवस्था कर दी। हरिजनो को शिक्षा देने मे वह आत्म-गौरव के विकास पर सबसे अधिक जोर देता और उन्हे सिखाता कि निष्ठापूर्वक कर्तव्य, नम्रता और शिष्टाचार के बिना आत्म-गौरव यथार्थ नही हो सकता।

उस दिन से जीवन प्राय. प्रतिदिन कोई-न-कोई नया अनुष्ठान करता और उसका कोई अनुष्ठान ऐसा न होता, जिसमे उसे कुछ-न-कुछ सफलता न मिलती हो।

उस क्षेत्र मे मैले खाद का उपयोग पीढियो से वर्जित था। अतएव सारा मैला यो ही नष्ट हो जाता था। जीवन ने किसानो और काछियो को उसकी उपयोगिता समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु जाति-भ्रष्ट कर दिये जाने के भय से वे उसे काम में लाने के लिए तैयार न हुए। आखिरकार उसने स्वय अपनी कुटिया के पास थोडी-सी भूमि मे शाक की खेती की और उसमें अपने हाथो मैले की खाद ढोकर डाली। थोड़े ही दिनो में खेती लहलहा गई। इस उदा-हरण को सामने रखकर उसने लोगो को फिर समझाया। कुछ लोग उसकी सलाह मानने को तैयार हो गये, परन्तु इससे जाति मे झगडे उत्पन्न हुए और जीवन भी सकट मे पडने से बच न सका।

जिन गुण्डो को जीवन ने दबा दिया था, उन्होने अवसर देखकर फिर सिर उठाया। पुराने विचारो के कुछ किसानो को भडकाकर उन्होंने जीवन को गॉव छोड़ देने की चेतावनी दिलाई, और जब जीवन ने उस चेतावनी को मानने से इनकार कर दिया तो एक दिन चुपचाप उसकी कुटिया मे आग लगा दी।

जीवन को बहुत दुःख हुआ। कुटिया में उसका प्यारा चित्र, जिसे उसने वर्षों मे सँभालकर रखा था, भस्म हो गया। परन्तु, उसने इस स्थूल स्मारक को नष्ट करने की परमेश्वरीय इच्छा समझकर सन्तोष किया और भविष्य में कोई सम्पत्ति न रखने का सकल्प कर लिया।

उस दिन से वट-वृक्ष की घनी छाया ही उसकी कुटिया बन गई।

४४

विस्फोट

"निर्मला, तुम चली जाओगी आज ?"—कहते-कहते चंचला का गला रुंध गया।

सखी से भेंट करने के लिए और उसके साथ एक-दो दिन रहने के लिए आई हुई निर्मला हरीश के आग्रह से, वृद्ध दम्पति के वत्सल अनुरोध की अवहेलना न कर सकने के कारण, समस्त परिवार के निष्कलक प्रेम से मुग्ध होकर और, सर्वोपरि, चचला के हृदय को यथासाध्य दृढ कर सकने की आशा में दो मास तक वहाँ रुक गई। घर-बार और पति, सभी की चिन्ता इस अभिन्नहृदया सखी के सुखी जीवन की आशा में विलीन होगी। किन्तु अब अधिक विलम्ब से उसकी गृहस्थी पर अति अन्याय हो जाता। चचला इस स्थिति को महसूस करके उसे जाने की अनुमति देने के लिए बाध्य हो गई।

निर्मला ने साहस से काम लेकर अपने विछोह-दुख को संवरण करते हुए कहा—"मै तेरे पास से जा सकती हूँ, चंचला ? शरीर भले ही चला जाये, पर मेरा मन तो सदा तेरे पास ही रहेगा। तेरे दो शब्द शरीर को भी यहाँ खीच लाने के लिए पर्याप्त होगे।"—किन्तु उसने कितना भी रोका, अन्त मे कण्ठावरोध हो ही गया। और दोनो सखियाँ कई मिनटो तक एक-दूसरी को छाती से दबाये निर्वाक् स्थिति में खड़ी रहीं।

इन दो महीनो में निर्मला बहुत-कुछ कर सकी। चंचला की देव-प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा होती दिखलाई पडने लगी। हरीश महसूस करने लगा कि उसकी प्रियतमा के स्वयंवृत 'दासीत्व' से उठकर स्वयोग्य 'देवीत्व' तक पहुंचने में अब विलम्ब नही है। इसका सारा श्रेय बिना किसी सकोच के उसने निर्मला को दिया।

किन्तु शीतल उपरितल के अन्तराल मे ज्वालामुखी प्रसुप्त है, इस सत्य को निर्मला जानती थी। बहुत-कुछ परिवर्तन हुआ। वह सच्चा भी था।

चचला अपने पति के प्रति आत्मसमर्पण करने को तैयार हो गई। आत्म-बलिदान करके अपने प्रति किये गये अन्याय का प्रतिकार करने की इच्छा उसने दबा ली। परन्तु, अभी बहुत-कुछ शेष था। निर्मला यह जानती थी और इस जानकारी से विदाई के समय वह सबसे अधिक भयभीत थी।

उसने अपने आँसुओ को बलपूर्वक रोककर हँसते हुए पूछा—"अब ?"

चचला ने कोई उत्तर नही दिया। कुछ क्षण इसी प्र कार मौन में व्यतीत हो गये। निर्मला ने ही उसे भग करके फिर पूछा—

"क्यो चचला, अभी तुम्हे मेरी आवश्यकता प्रतीत होती है ?"—और वह फिर हँसने लगी।

"निर्मला !"—"चंचला की आवाज भारी थी, स्वर तीव्र और उलाहने से भरा हुआ था।

"क्यो ?"—परिहास कायम रखने का प्रयत्न करते हुए निर्मला ने फिर प्रश्न किया। परन्तु वह जानती थी, चंचला की मन स्थिति उस समय परिहास ग्रहण करने अथवा आत्मसवरण के योग्य नही थी।

"निर्मला, तुम जा रही हो; अब मैं क्या करूंगी ?"—चंचला के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

यही चचला थी, जो अपने हृदय में अपार संघर्ष का भार वहन करती हुई वनिता आश्रम के सब कामो में दक्षतापूर्वक भाग लेती थी। एक दिन ऐसा था जब घोर विपत्ति में भी दूसरो के सामने वह हँसकर बात कर सकती थी। परन्तु आज बात-बात पर उसके नेत्र वर्षा करने लगते है।

निर्मला ने मन-ही-मन डरते हुए स्नेह के साथ पूछा—"क्यों चंचला, अब भी कुछ भय है ? अपने हृदय में कुछ छिपाकर तो नहीं रखा ?"

चचला सहसा उत्तर न दे सकी। कुछ रुककर अपने को सँभालते हुए उसने कहा—"अब तक मैं तुमसे शक्ति पाती थी। अब ?"

"मेरी बहन, स्वयं तुझ में शक्ति का अभाव है ? और अब दूसरे की शक्ति किस लिए चाहिए ?"

"अपने आन्तरिक सघर्ष को जीतने के लिए, हृदय को स्थिर रखने के लिए।"

"चंचला, यह शक्ति अब तुम्हे हरीश बाबू से लेनी है। वह इसके योग्य हैं।"

"हाँ !"—चचला ने उत्तर दिया—"योग्यता उनमें है, परन्तु उसका उपयोग करने का अधिकार मैं कहाँ से पाऊँगी ?"

"पगली !"—निर्मला ने एक हलका-सा चपत उसके गाल पर लगाकर कहा—"अभी अधिकार नही पाया ? या पाये हुए अधिकार का उपयोग करने की तैयारी नहीं है ?"

"निर्मला !"—चंचला ने कातर होकर कहा—"तुम नहीं समझतीं। मुझे सब-कुछ प्राप्त है। साधारण स्थिति की भारतीय नारी जो-कुछ चाह सकती है, वह सभी मुझे प्राप्त है। फिर भी, फिर भी ."

"फिर भी तुम सन्तुष्ट नही हो ! चचला, तुम्हे जो प्राप्त है, उसका मूल्य यदि तुम समझ सकती !"

"मै समझती हूँ, निर्मला ! उसी के भार से मै दबी जा रही हूँ। उसका प्रतिदान करने के प्रयत्न में मै अपने-आपको मिटा रही हूँ। किन्तु .."

"किन्तु क्या ? कुछ कहो भी, चंचला ! क्या इसी उद्विग्नता के साथ मुझे विदा करोगी ?"

चंचला अपने को सँभालने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रही थी। उसने कहा—"मै नही चाहती ऐसा हो, निर्मला ! परन्तु तुम्हारे जाने से शायद मेरी रही-सही शक्ति भी. ."

"नई बात क्या हो गई ? अब तो मुझे कोई डर नही दीखता ?"

"साधारण लोगो के लिए कदाचित् मेरा जीवन आदर्श बन गया है। सभी कहेगे, मुझसे अधिक भाग्यशालिनी कोई नहीं ."

"और यह अक्षरशः सत्य है"—निर्मला ने बीच में ही टोककर कह दिया।

"हाँ, एक सीमा तक सच है, किन्तु पूर्णतया नहीं।"

"क्यों ?"

"तुम मुझे जानती हो, मेरी महत्वाकाक्षाओ और मेरे दायित्व से परिचित हो। मै कौन हूँ, निर्मला ?"

"कौन हो !"—निर्मला ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—"श्री हरीश बन्दोपाध्याय की धर्मपत्नी ! और कौन ?"

"हाँ ! किन्तु स्वर्गीय रामलालभाई की औरस पुत्री भी हूँ, निर्मला ! यह बात मै भूल नहीं सकती।"

"इससे हानि क्या ?"

"इससे हानि ?"—चंचला आवेश में आ गई—"हानि यह कि जब उनकी पुत्री-मात्र थी, तब मुझे हरिजन होने का गौरव था। मै हरिजनो को पद-दलित और अन्याय-पीड़ित समझती थी, परन्तु हीन नही। आज श्री हरीश

बन्दोपाध्याय की धर्मपत्नी होने के पश्चात्, मेरे सामने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप म उनकी हीनता का चित्रण होता है और मे असहाय बनकर उसे देखती हूँ, उसकी साक्षी बनती हूँ। मुझे भी इसलिए सौभाग्यशालिनी माना जाता है कि मेरा विवाह एक श्रेष्ठ कुलोत्पन्न ब्राह्मण के साथ हुआ है। मेरा सारा आत्म-गौरव नष्ट कर दिया गया है।"

निर्मला के हृदय को एक नया धक्का लगा। चचला के अभियोग का कोई उपयुक्त उत्तर उसे तत्काल सूझ न पडा और उसने कहा—

"तुम्हे हरिजनो की सेवा करने से तो कोई रोकता नही ?"

"ब्राह्मण के साथ विवाह करके मै हरिजनो की सेवा कर सकती हूँ ?"

"क्यो नही ?"

"उन पर इसका क्या प्रभाव पडेगा ? यही न, कि हमें नीच समझकर ऊँचो के घर चली गई ? यदि मै उन्हे नीच समझूँ तो हरिजनत्व का गौरव रखने की शिक्षा कैसे दूँ, जो सबसे आवश्यक है ?"

"तुम अपनी ओर से उन्हे नीच मत समझो और अपना कर्त्तव्य करती जाओ।"

"मान लो, ऐसा भी हो; तो मुझे अपने सस्कारो, सामाजिक प्रथाओ, सहानुभूतियों और व्यक्तिगत, जातीय तथा पारिवारिक सम्बन्धो के कारण उनमें घुलना-मिलना होगा, उनसे किचिन्मात्र भी भेदभाव न करना होगा। क्या ब्राह्मण परिवार यह सब सहन कर सकेगा ? किस सीमा तक सहन करेगा ? फिर भी मेरा जीवन दुःखमय न बना दिया जायेगा ? इस सबका क्या यह अर्थ नही हुआ कि हरिजन समाज, जो मुझे प्यारा है, मुझसे सदा के लिए छूट गया ?"

निर्मला ने चलते-चलते इस प्रश्न को बढाना उचित नही समझा, अत उसने कहा—"तुम्हे सोचने का रोग हो गया है, चंचला ! इसका उपचार सर्वप्रथम आवश्यक है।"

चंचला कुछ कहना ही चाहती थी कि हरीश ने कमरे मे आकर कहा—निर्मलाजी, आपके प्रान्त के नेता श्रीकृष्णभाई हमारे कॉलेज में आने वाले है। आप लोग उनसे मिलने चलेंगी ? मै अभी जा रहा हूँ।"

निर्मला को डूबते हुए सहारा जैसा मिल गया। वह जानती थी कि श्रीकृष्णभाई पर चचला की अनन्य श्रद्धा है। मन-ही-मन उसने सोचा कि यदि श्रीकृष्णभाई उससे कुछ उत्साहवर्धक बाते कहेगे तो उनका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। गाड़ी के लिए अभी समय भी बहुत था। उसने तुरन्त हरीश

से कह दिया, "हाँ, हम भी चलेंग।" और फिर चचला से पूछा—"ठीक है न ?" चचला को स्वीकृति देनी पडी और कुछ ही मिनटो में तीनो घर के बाहर हो लिये।

जब दोनो सखियाँ श्रीकृष्णभाई के पास पहुँची, उस समय वह व्याख्यान के लिए जाने की तैयारी में थे। दोनो को देखकर कुछ चकित होकर बोले—"अरे! तुम यहाँ कैसे ?"

"आपके दर्शनो के लिए!"—निर्मला ने आत्मीयता-मिश्रित श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा।

"अच्छा! बडी-बड़ी दूर से लोग मेरे दर्शनो के लिए आये हैं!"—कहकर श्रीकृष्णभाई ने चचला से कहा—"तुझे तो बधाई देना बाकी है। बहुत अच्छा लड़का मिला तुझे।"

हरीश पास ही बैठा था। उसने सोचा कि मेरे विषय में बातचीत छिड़ गई, अतः सकोच के कारण वहाँ से उठकर बाहर चला गया। इधर निर्मला ने देखा, बात ठीक निशाने की शुरू हो गई है। उसने उसे थोडा-सा बढ़ा देने के लिए कहा—

"इतना अच्छा वर तो ढूँढे-ढूँढे नही मिलता, भाईजी!"

"हाँ, हाँ! मुझे खेद इतना ही है कि सेठ गगाप्रसादजी की यह अन्तिम इच्छा मेरे हाथो पूरी नही हुई। पछतावा रह गया।"

निर्मला का मन डर गया—यह 'अन्तिम इच्छा' की बात फिर निकल पड़ी! परन्तु वह चक्कर मे पडी कि यह भी इस विवाह को काकाजी की 'अन्तिम इच्छा' ही बता रहे हैं। क्या मेरी समझ की कोई गलती थी? उसे विश्वास तो न हुआ, फिर भी उसने सोचा कि जब कार्य हो ही गया है तो 'अन्तिम इच्छा' मानने में लाभ ही है। मेरी बात गलत सिद्ध हो जाये तो हो जाये, इनके मुँह से 'अन्तिम इच्छा' का समर्थन करा दिया जाये—इससे चचला की मन.स्थिति सुधारने में सहायता मिलेगी और मै उसका इतना भार कम लेकर यहाँ से जा सकूँगी। यह सब सोचकर उसने कहा—

"आप इसे काकाजी की 'अन्तिम इच्छा' क्यो कहते हैं, भाईजी ?'

चंचला चुपचाप सिर नीचा किये सुनती रही।

श्रीकृष्णभाई ने कहा—"सेठजी ने उस दिन बीमार पड़ जाने के बाद मुझे पत्र लिखाया था। मैंने सुना, उन्होंने उसे खास तौर से मँगाकर हस्ताक्षर किये। उसके बाद ही वह बेहोश हो गये। फिर कभी नही बोले।"—श्रीकृष्णभाई का गला भर आया।

अब चचला बोल उठी । उसने धीरे से नम्रता के साथ कहा—"क्या लिखा था, काकाजी ने आपको ?"

निर्मला के सिर में ठनका लगा । उसका हृदय धडकने लगा—क्या कहेंगे भाईजी ?"

श्रीकृष्णभाई ने कहा—"लिखा था, तुम लोग आओगी । मै जीवन से मिला दूँ और फिर विवाह की व्यवस्था करा दूँ । वह स्वय जीवन की बातें सुनकर बहुत प्रसन्न थे । मगर लिखा था, चचला कुछ गलत धारणाएँ बाँध बैठी है, उनका निवारण करा देना "

दोनो सखियो के दिल जोरो से धडक रहे थे । निर्मला का चेहरा विवर्ण हो गया । चचला सिर नीचा किये, नाखून गिनती आँसुओ से भूमि को भिगोती रही । वैसे ही बोली—

"भाईजी, आप काकाजी की यह 'अन्तिम इच्छा' पूर्ण क्यो नहीं कर सके ?"

उसकी आवाज में रोते हुए हृदय की वेदना स्पष्ट थी । किन्तु उन्होने समझा, वह उनके कुछ न कर सकने के कारण ही दुःखी है, क्योकि सेठजी के बाद उसके पिता के रिक्त स्थान की पूर्ति करने का नम्बर उनका ही था। उन्होने क्षमा-याचना करते हुए कहा —

"बेटी, दूसरे ही दिन सेठजी के निधन का समाचार पा जाने से मेरा सब उत्साह ठडा पड गया—हाथ-पैर ढीले हो गये । फिर, तुम लोग भी नही आई , नही तो तुम्हारी ही प्रेरणा से कुछ कर लेता । खैर, अब तो विवाह हो गया । मै उपस्थित रहा या न रहा, इससे क्या अन्तर पडता है ?"

"अन्तर बहुत बडा पड़ा, भाईजी ! मेरा सर्वनाश कर दिया गया.. " और वह एकदम फूट पडी । निर्मला स्तब्ध बैठी थी, मानो उसके शरीर में प्राण ही न हो । परन्तु उसकी ओर इस समय कौन ध्यान देता !

श्रीकृष्णभाई ने चचला का सिर अपनी गोद में लेकर उसे सान्त्वना दिलाते हुए कहा—"शुभ कार्य के सम्बन्ध में ऐसा नही कहते, बेटी ! जीवन बहुत ही अच्छा लड़का है। तुम्हारे प्रति उसका एकनिष्ठ प्रेम है, यह मै अच्छी तरह जानता हूँ । कुछ झगडा हो गया हो तो उसे मिटा लो । वह है कहाँ ?"

"मुझे क्या पता ?"

"क्यों क्या लापता हो गया है ?"—अब श्रीकृष्णभाई ने विनोद किया ।

अब चचला से न रहा गया । उसने रोते-रोते कहा—"मेरा विवाह

यहाँ श्री हरीशचन्द्र बन्दोपाध्याय के साथ हुआ है। यही मुझे काकाजी की 'अंतिम इच्छा' बताई गई।

"उफ! मैंने क्या किया!"—बरबस श्रीकृष्णभाई के मुँह से निकल पडा। थोडी देर तक उनके मुँह से और शब्द न निकले। बाद में उन्होने बात को सँभालने की दृष्टि से कहा—

"परन्तु वह भी तो अच्छा लडका होगा? तुम इतनी व्याकुल क्यो हो?"

"वह मेरे लिए आवश्यकता से अधिक अच्छे है।"

समय बहुत अधिक हो गया था। हरीश ने अन्दर आकर श्रीकृष्णभाई से कहा—"अब आपको ज्यादा देरी हो जायगी। चलना चाहिए।"

श्रीकृष्णभाई ने दोनो बालिकाओ से पूछा, "तुम क्या करोगी?"

हरीश ने उत्तर दिया—"आपको भेजकर मैं इन्हे घर पहुँचा दूँगा।"

और सब लोग एक ही मोटर में सवार हो गये। चलते-चलते श्रीकृष्ण-भाई ने निर्मला से कहा—"हरीश बाबू से कहना, मुझसे मिल लें।"

हरीश ने सामने आकर विनयपूर्वक प्रणाम किया और अपना नाम बताया। श्रीकृष्णभाई ने पितृ-प्रेम के साथ उसे हृदय से लगाकर आशिष देते हुए कहा—"छिप-छिपकर रहते हो!"

४५

पश्चात्ताप की ज्वाला

निर्मला गई—हृदय में तीव्र वेदना और पश्चात्ताप लेकर, चंचला रही—प्रति पल मरण की कामना करती हुई !

गाडी छूटते-छूटते निर्मला ने कण्ठ और नेत्रो से हृदय को प्रवाहित करते हुए अनुनय की—"मेरी बहन ! अपने को सँभालना !"

चचला ने नेत्रो की करुण वाणी में उत्तर दिया—"अब भी सँभालना शेष है ?"

बहुत देर तक चंचला खोई-खोई-सी रही, परन्तु जब वह अपने-आप में लौटी, तो फूट पडी । परिवार के लोगो ने उसे धैर्य बँधाने का प्रयत्न किया—सखी-सहेलियाँ जीवनभर किसी के साथ थोडे ही रह सकती है, और फिर निर्मला तो जब बुलाओ, आजायेगी ! हरीश ने उसे अपनी ओर खीचने का प्रयत्न किया—मेरे हृदय में तुम्हारे लिए प्रेम की अविरल धारा विद्यमान है, उसे अपना लो ! परन्तु इस सबसे चंचला का कोई समाधान न हुआ ।

समाधान कैसे होता ? चचला तो किसी दूसरे जगत में ही विचरण कर रही थी । आज उसका हृदय जीवन की स्मृतियो से ओतप्रोत था, वह जीवन-मय थी । वह सोचती—यदि मैंने उस जीवन का तिरस्कार न किया होता तो निश्चय ही मेरा सम्पूर्ण जीवन सुखमय, उल्लासमय और स्फूर्तिमय हो जाता । उसे अपने समस्त अन्याय, सारी गलतियाँ याद आईं और वह एक गहरे पश्चात्ताप-सागर में डूब गई ।

हरीश उसकी यह स्थिति देखकर व्याकुल था । आज पहली बार उसने अनुभव किया कि वास्तव में उसकी प्रियतमा के हृदय में छिपी हुई पीडा असाधारण है और यदि उसका मूलोच्छेद न कर दिया गया तो अनतिदूर भविष्य में ही सर्वनाश का सामना करना पडेगा । अतएव उसने जबरन उसे अपने निकट लेकर अत्यन्त आर्द्रता के साथ पूछा—"प्रिये, मैंने तुम्हारा बहुत

दुख देखा, किन्तु आज के दुख से तो हृदय को सँभालना ही असम्भव हो रहा है। क्या मुझे उसको बँटा लेने का भी अधिकार न दोगी ?"

चचला उत्तर देना चाहती तो भी उसके योग्य स्थिति में नही थी। हरीश की इस अवस्था को देखकर उसका रहा-सहा धैर्य भी बन्धन तोड बैठा और उसकी हिचकिआँ बँध गईं। हरीश ने अपने को सँभालकर कहा—"तुम्हारी यह वेदना तो केवल निर्मलाजी के वियोग की वेदना नही मालूम होती। कम-से-कम मुझे बता तो दो !"

चचला ने कठिनता से उत्तर दिया—"अभी मुझे छोड़ दीजिए। आप शात हो जाइए। मन की हालत ठीक होने पर सब कुछ बता दूंगी।"

"तुम्हारी जैसी इच्छा !"—कहकर हरीश ने उसका सिर तकिये पर रख दिया और स्वय बाहर चला गया ! वह अपने हृदय में जो उत्कट वेदना छिपाये था, उसे कौन समझता !

इसी प्रकार कई दिन बीत गये। चचला ने घर के सब काम-काज मे पूर्ववत् योग देना आरम्भ कर दिया, किन्तु उसके चेहरे से प्रसन्नता कदाचित् सदा के लिए विदा ले चुकी थी, और उसका शरीर अपने ही रक्त-मास को चूसकर जीवित था।

अवसर देखकर हरीश ने बात निकाली—"किसी डाक्टर को दिखा देना ठीक न होगा ?"

चचला ने निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो, अब अन्याय न करूंगी, अधिक धोखे में न रखूँगी। उसने कहा—

"मेरा रोग मनुष्य के वश का नही रहा।"

"ऐसा कौन-सा रोग है वह, प्रिये ?"

"रोग यह है"—उसके मुँह से शब्द निकलना कठिन हो गया और उसे जोर देकर कहना पड़ा—"कि आपका अजस्र और ईर्ष्या-योग्य प्रेम व्यर्थ हो रहा है।"

"मेरा प्रेम व्यर्थ नही हो सकता, प्रिये ! तुम यह चिन्ता छोड़कर अपने को सँभाल लो !"—हरीश ने आर्द्र कण्ठ से कहा।

"यही तो मेरी वेदना का और भी बड़ा कारण है, कि आप इतने सज्जन है।"—चचला ने उसी तरह उत्तर दिया।

"मन की बात क्यो नहीं कह डालतीं ?"

"कहना चाहती हूँ। अब तक आशा रोकती रही कि शायद सुधर जाये, परन्तु अब आशा बिलकुल नही रही, इसलिए सब-कुछ कह दूँगी।

आप सुन सकेंगे ? हृदय टुकड़े-टुकड़े तो नहीं हो जायेगा ?"

"आज की पीड़ा से उसका टुकड़े-टुकड़े हो जाना भी अच्छा है। तुम कहो।"

"एक वादा कर सकेंगे ?"

"क्या ?"

"मैं कैसी भी रहूं, आप मेरी चिन्ता छोड़कर प्रसन्न रहेंगे—कीजिए प्रतिज्ञा !"

"यह प्रतिज्ञा मनुष्य कर सकता है, प्रिये ? हां, मैं दूसरी प्रतिज्ञा कर सकता हूँ।"

"क्या ?"

"तुम्हारा दुःख कितना भी भयानक क्यों न हो, मैं उसे मिटा दूंगा !"

चंचला निराशा की शून्य हँसी हँस पड़ी और बोली—"मनुष्य में अब तक यह सामर्थ्य नहीं आया, मेरे देवता ! पर आपको प्रयत्न करने का अधिकार है।"

और उसने कहा—"सुनिये, आज मैं सब-कुछ कहूँगी ! . . "

और उसने कुछ रुककर फिर कहा—"मैं एक अन्य व्यक्ति की आत्म-समर्पिता पत्नी हूँ . . .मेरा स्वयंवृत पति यहाँ से एक हजार मील पर जीवित-जाग्रत है . . "

उसने हरीश की ओर देखा। उसकी आँखें बन्द थीं और वह ध्याना-वस्थित की भाँति सुन रहा था। चंचला के रुकने पर उसने आँखें खोले बिना ही कहा—"बात पूरी कर लो !"

और चंचला आगे बढ़ी—"उसके साथ मेरा आत्मिक विवाह सामाजिक संस्कारों से पक्का नहीं किया गया था, अतः 'काकाजी की अन्तिम इच्छा' की भ्रान्त धारणा पर मुझे आपके गले में फाँसी के समान डाल दिया गया। मेरा सब विरोध व्यर्थ हुआ।"

उसने फिर रुककर हरीश को देखा—अब भी वह उसी भाँति बैठा हुआ सुन रहा था। अन्तर केवल इतना था कि उसके नेत्रों से कुछ अश्रु-बिन्दु उसके कपोलों पर ढुलक गये थे। उसने कहा—"फिर चंचला ?"

चंचला ने तार आगे बढ़ाया—"मेरी हरिजन सेवा की आकांक्षाएँ, मेरा हरिजनत्व का गौरव, माता-पिता से उऋण होने की प्रतिज्ञा, नारी को दासीत्व से मुक्त करने की अभिलाषा—सब कुछ नष्ट हो गया . . ."

"और ?"

"और मुझे मिले आप, जो मेरे प्रेम में पागल है, प्राण न्योछावर करने को तैयार हैं; मेरी आत्मा के अधिकारी है, किन्तु उससे वचित है, सज्जनो में अग्रगण्य हैं, किन्तु प्रतारित हुए हैं। मुझे स्वय तो दुःख सहना ही है, आपको भी सहना पडता है।"

"बस ?"—हरीश ने आँखें खोलकर कहा। उसकी आँखो में विलक्षण तेज समा गया था।

"बात इतनी ही है !"

"बहुत कठिन नही है, चचला ! मैंने अब तक तुम्हारे साथ जो भी अवाछित व्यवहार किया है, उसे एक बार भूल जाओ ! भविष्य में कभी वैसा न होगा . "

"इससे क्या होगा, स्वामी !"

"कम-से-कम तुम प्रतिदिन की पीडा से बच जाओगी।"

किन्तु स्थायी पीडा का क्या उपचार ? मुझे समाप्त कर देने के लिए तो वही पर्याप्त है !"

"मै तुम्हारे हृदय को स्वतन्त्र करता हूँ, और तुम्हारे सब सेवा-कार्य में तन-मन से योग देने की प्रतिज्ञा करता हूँ ! तुम सुखी हो जाओ !"

चंचला सिहर उठी। बोली—"आपसे यही आशा थी। किन्तु आप कम अन्याय-पीडित नही है ! आपको प्रतिदान किये बिना आपसे लेते ही रहने का भार मै वहन नहीं कर सकती ?"

थोडी देर तक दोनो कुछ न बोल सके। फिर हरीश ने कहा—

"चंचला ! . ."

"देव !".. .."

"और कोई उपाय ? मै सब-कुछ करने को तैयार हूँ "—हरीश ने कातर होकर कहा।

"आत्मा जीवन के पास है, शरीर आपके पास—सह सकें तो यही स्थिति कायम रहने दीजिए, स्वामी !"—चचला ने निरुपाय होकर कहा।

"यह तो सुख का मार्ग नही, प्रि . !" हरीश 'प्रियतमे' कहता-कहता रुक गया। उसे प्रतीत हुआ कि पत्नीव्यंजक शब्द उसके अधिकार से परे हो गये है, उनमें चंचला का अपमान है !

"सुख अब मेरे लिए नही है—यह आत्मबलिदान का मार्ग है, देव !" और चंचला ने जब से हरीश की धर्मपत्नी का पद प्राप्त किया, एक वार भी उसे 'प्राणेश्वर' कहकर सम्बोधित नही किया। 'देव' और 'स्वामी'

कहने मे उसे कोई आपत्ति न थी। वह मानती कि 'देव' हरीश के स्वभाव और चारित्र्य के सम्बन्ध मे मेरे हृदय के सच्चे भावो का द्योतक है और 'स्वामी' शरीर का स्वामी हो सकता है, जो नि सन्देह हरीश है।

और हरीश उसके मुह से एक बार भी, प्राणेश्वर, सुन सकने के लिए कितना लालायित था! आज उसकी सारी लालसा एकबारगी नष्ट हो गई और उसे स्वय उपयुक्त सम्बोधन के लिए अपना भाषा-ज्ञान छानना पडा!

"आत्मबलिदान का मार्ग!"—वह काप उठा—"इतने शीघ्र सब-कुछ समाप्त हो गया!"

चचला कोई उत्तर न दे सकी। उसकी दृष्टि शून्य मे पहुंच चुकी थी, होठो से किसी सकल्प का परिचय मिलता था।

हरीश हताश होकर बाहर निकल गया।

उस दिन से दोनो मिलते, दोनो एक-दूसरे से बातें करना चाहते, किन्तु घटो बठे रहते, एक-दूसरे की ओर करुणा एव आशापूण दृष्टि से देखा करते, बातें कुछ न होतीं।

अन्यत्र, चचला फिर पहले के समान ही कामकाज मे लग गई। उसने हरीश की सेवा का प्रत्येक कार्य अपने हाथो मे ले लिया। किन्तु उसका शरीर दिनों-दिन क्षीण से क्षीणतर होता गया और उसे किंचित् ज्वर भी रहने लगा।

हरीश की भी प्राय. यही अवस्था थी। अध्ययन-अध्यापन मे, खाने-पीने में, गोष्ठियो-सतसगो मे और कॉलेज के खेलो मे अब उसकी कोई रुचि नही रही। कर्तव्य और स्वभाव के कारण करता सब-कुछ, किन्तु प्रत्येक कार्य मे उसके योग से सख्या मात्र बढती, विधिमात्र पूर्ण होती।

दो-तीन माह बीत गये। स्थिति मे सुधार के स्थान पर बिगाड ही होता गया। इस बीच चचला सूखकर काटा हो गई। हरीश ने उसे समझाने और सान्त्वना देने का प्रत्यक सम्भव प्रयत्न किया, चचला ने उसे सद्भावना-पूर्वक सहयोग भी दिया, किन्तु कोई वाछित परिणाम न निकला। अन्त मे उसने निर्मला को एक लम्बा पत्र लिखकर उससे एक बार फिर कलकत्ते आने का अनुरोध किया।

इसी बीच एक दिन हरीश की माता ने बडे हर्ष और स्नेह से बहू को चेतावनी दी कि अब तुम्हे अपने स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि अब तुम एक और प्राण की रक्षा करने की अधिकारिणी बन गई हो। चचला चौंक उठी। क्या? एक नया प्राण!

निर्मला के रहते हुए चचला के जो थोडे से दिन शान्ति और सुख की

राह पर बीते, उनमे उसने हरीश की प्रेम-वेदी पर सर्वस्व समर्पित कर देना अपना कर्त्तव्य समझा था। इससे उसे एक प्रकार का सन्तोष भी हुआ था। किन्तु, इसके परिणाम की कल्पना उसने कभी नही की। गत दिनो की घटनाओ के बाद, जिन्होने उसकी जीवन-गति को ही रोक दिया और प्राण-रक्षा को अनावश्यक कर दिया, इस नये समाचार से वह सिहर उठी—"मै माता बननेवाली हूँ!" उसके मन ने बार-बार कहा कि यह असम्भव है, किन्तु सास के उल्लास और उनकी चिन्ताकुलता ने शका के लिए कोई अवकाश नही छोडा।

ओह! कैसी बात! मा? मै मा बनूगी? भगवन्! यह कैसी विडम्बना! मा बनने का मुझे क्या अधिकार है? जिसने सच्चे प्रेम को पहचानने से हठपूर्वक इनकार किया, जो उसकी पवित्र वेदी पर अपने मिथ्याभिमान की बलि चढ़ाने मे असमर्थ रही, जिसने अपने को छोड़कर कभी दूसरे को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, वह स्वार्थपरा नारी मा बनेगी? अपने सघर्षमय जीवन मे एक नये प्राण को उलझाने का मुझे क्या अधिकार?

आत्मसमर्पण एक जगह और शरीरावलंबन दूसरे स्थान पर—इस प्रकार के विभाजित जीवन में पुत्र का क्या स्थान होगा? माता के गौरव से मै उस पुत्र का पालन कैसे कर सकूँगी? मेरा तिरस्कृत जीवन माता के महनीय स्थान की पूर्ति कैसे कर सकेगा? मेरा पुत्र या तो सकर कहलाकर निन्दित होगा, या अपने पिता के वश के कारण आदर प्राप्त करके, वस्तुतः निन्दा का ही पात्र बनेगा। भगवन् मैंने क्या किया! गलती-पर-गलती क्यो की?

जीवन! मेरे जीवन! ओह! मेरे जीवन! उसकी पदधूलि भी सिर में लगाने योग्य मै नही हूँ! उसकी बराबरी करने चली थी। अपने को उससे बढ़कर आदर्शवादिनी समझने लगी थी। उसकी अवहेलना करने की धृष्टता में भी सकोच न किया। परन्तु आज? जो काम मेरा था, सो वह कर रहा है; जो प्रतिज्ञा मैने की थी, उसे वह पूर्ण कर रहा है; जिस हरिजनत्व को अभिमान से अपनाने का ढिंढोरा मैने पीटा, उसे वह अपना रहा है। और मै? मै अपने कर्तव्य को ठुकराकर, अपने उचित स्थान को छोड़कर, एक ब्राह्मण की पत्नी और उनके पुत्र की माता बन रही हूँ! इसके पश्चात्?

चंचला का सिर घूमने लगा। उसकी विचार-शक्ति स्तम्भित हो गई। वह विह्वल हो उठी।

परिवार के फलते-फूलते रहने का उपक्रम देखकर वृद्ध दम्पत्ति के हृदय हर्ष से भर आये, किन्तु जो दो व्यक्ति उस हर्ष में सम्मिलित होने के मुख्य

अधिकारी थे, उनके हृदय भिन्न-भिन्न प्रकार के भार से दब गये। चचला की मन स्थिति और हृदय-गति को समझने तथा उसका आदर करने योग्य निश्छल हृदय और पवित्र प्रेम हरीश के पास था। उसने सब समझा, परन्तु स्थिति सुधरने का उपाय उसकी सूझ से परे हो चुका था।

चचला का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता ही चला गया। जब भारग्रस्त शरीर मे स्वाभाविक अशक्ति बढने लगी और जीने की इच्छा उसने स्वय ही छोड दी तो शरीर के क्षीण होने मे विलम्ब क्या लगता ? हरीश के प्रयत्नो और वृद्ध दम्पति की व्याकुलतापूर्ण सेवाओं का कोई सुपरिणाम नही हुआ। अन्तत वह शय्यावलम्बिनी ही बन गई। डाक्टरो ने क्षय रोग की चिकित्सा कराने का निर्देश किया।

४६

पूर्णाहुति

चंचला के कष्ट का समाचार पाकर निर्मला अपना सब कुछ छोड कलकत्ते आ गई और उसने अपनी प्राणाधिका सखी की शुश्रूषा में अपने-आपको तन-मन से लगा दिया। एक मास की अविराम सेवा और प्रार्थनाओ के बाद आज चचला के स्वास्थ्य में सुधार के कुछ लक्षण दृष्टिगत हुए। उसका ज्वर कम था और मन कुछ शान्त मालूम होता था। उसने परिवार के सभी सदस्यों से मीठी बातें कीं और हरीश को धैर्य बँधाने का प्रयत्न किया। उसने कहा—

"पुरुषो को इतना दुर्बल-हृदय नहीं होना चाहिए।"

हरीश जानता था कि इस समय इसे कोई भी उत्तेजना मिलने का परिणाम भयानक हो सकता है। अतः उसने उसके मन को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से हँसकर कहा—

"तुम स्वस्थ तो हो जाओ, फिर देखना कि मुझ मे कितना बल है!"

"मनुष्य की परीक्षा तो संकट में होती है।"—चंचला ने मंद, दुर्बल, किन्तु शान्त वाणी में कहा।

उत्तर तो बहुत थे, परन्तु इन सुकुमार क्षणो के लिए हरीश को कोई उत्तर उपयुक्त न मालूम हुआ और उसने हँसकर बात टाल दी।

चंचला ने फिर कहा—"आपको दु.खी और चिन्ताग्रस्त देखकर मेरा साहस और भी टूट जाता है।"

"मैं प्रसन्न रहूँ तो तुम शीघ्र अच्छी हो जाओगी?"

"मुझे शान्ति तो अवश्य मिलेगी .." चंचला ने झूठी आशा को टालने के लिए सावधानी से कहा।

और अब हरीश ने देखा कि इस तार को आगे बढ़ने देना खतरे से खाली नही है। उसने चचला की उदात्त भावनाएँ जाग्रत करने और इस

प्रकार उसका उत्साह बढ़ाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"तुम्हे मालूम है, तुम शीघ्र ही मा बननेवाली हो ? तुम्हारी गोद में फूल खिलेगा !"

वह बेचारा क्या जानता था कि मातृत्व की कल्पना ने ही उसकी प्रियतमा को अन्तिम ठोकर दी है ! चचला एकदम उत्तेजित हो उठी। उसने तीव्र स्वर मे कहा—"हाँ, जानती हूँ। और यह भी जानती हूं कि उस फूल को लोग लातो के नीचे कुचलेगे !"

उसका श्वासोच्छ्वास बढ गया, हृदय की गति तीव्र हो गई, शरीर काँपने लगा। उसने टूटे स्वर में किन्तु आवेश के साथ कहा—"वह नारी के गौरव का प्रतीक नही, उसकी दयनीयता की फहराती हुई पताका होगा ! "

उससे आगे बोला न गया। थककर लेट गई और आँसुओ से तकिये को भिगोने लगी।

निर्मला उसे हरीश के साथ एकान्त मे वार्तालाप करने का अवसर देने के लिए दूसरे कमरे मे चली गई थी। उत्तेजना का आभास पाकर शीघ्रतापूर्वक दौडी आई। आकर उसने देखा, आज की शान्ति भभकनेवाली ज्योति की अन्तरिम स्थिरता मात्र थी !

निर्मला ने उसे सँभालने का प्रयत्न किया तो वह और भभक उठी। बढती हुई उत्तेजना और टूटती हुई शब्दावली में बोली—"निर्मला ! मेरी गोद में फूल खिलनेवाला है ! आजीवन अपनी माता की लज्जा मे विगलित होने के लिए ! . "

निर्मला ने कहा—"बहन ! और कुछ नही तो सब परिवार के कष्टो का ख्याल करके तो शान्त रहो ! स्वस्थ हो जाने पर सब-कुछ सोच लेना !"

चचला ने किंचित् सौम्य होकर कहा—"अच्छा निर्मला, अब मै न बोलूगी। पर एक बात मुझे बता दे !"

"केवल एक बात ?"

"हाँ।"

"फिर शान्त हो जाओगी ?"

"हाँ।"

"अच्छा पूछो।"

"यह जो फूल खिलने की बात कही जाती है, उसके मूल में अनैतिकता नहीं है ?"

"नहीं, मेरी बहन, नही ! हजार बार नहीं !"—निर्मला ने चचला के गालों पर प्यार से हाथ फेरते हुए, दृढ किन्तु मधुर स्वर मे कहा। और कहते-

कहते चौंक पडी, क्योंकि उसके हाथो ने महसूस किया, चचला का शरीर तवे के समान गर्म था, उसका ज्वर बहुत बढ गया था।

चचला मना करने पर भी बोली—"कैसे ? मैंने तो इन्हे अपना पति स्वीकार नही किया ?" उसकी आवाज शिथिल हो गई।

"मै तुम्हे स्वस्थ होने पर समझा दूँगी। अब तुम शान्त होकर लेटो। बातें बन्द कर दो !"

चंचला ने बातें बन्द कर दी, किन्तु मन-ही-मन सोचने से उसे कौन रोक सकता था ? एक ओर उसका ज्वर लगातार बढता जा रहा था, दूसरी ओर उसने अपनी कल्पना के सब पख खोलकर उसे मुक्त गगन मे विचरण के लिए छोड दिया। जीवन, अम्मा और बाप, काकाजी, उसकी प्रतिज्ञाएँ—सब एक-एक करके उसके सामने आये। जीवन बार-बार आया और अन्त मे मातृत्व का दृश्य ! और वह ज़ोर से बोल उठी—"ससार में आना, दूसरो को लाना, रोना और मर जाना, यही तो नारी का जीवन है ! अभागिनी ! "

निर्मला ने उसे फिर शान्त किया और वह फिर अन्तर्मुख हो गई—"पति-पत्नी के आत्मिक संयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति अनैतिक नही ! नितान्त मिथ्या !"

और उसकी आँखो ने मोती ढालना शुरू कर दिया। वह आगे बढ़ी—"मै जीवन की स्वयंवृता पत्नी हूँ !"

और वह ज़ोर से चीख उठी—"जीवन ! जीवन !"

निर्मला ने उसके तप्त शरीर पर हाथ फेरते हुए पूछा—"क्या है ? चंचला ? सिर पर पट्टी रख दूँ ?"

चंचला ने इसका कोई उत्तर न दिया परन्तु कहा—"वह पूछता था—चचला तुम मेरी हो ? मेरी हो ? तेरी नही तो किसकी ?.. "

उसका चेहरा गम्भीर था, आँखें लाल और चढी हुई थी। ज्वर कदाचित् और भी बढ़ गया था। निर्मला आशकित हो उठी। हरीश वहाँ से पहले ही उठकर चला गया था। उसे बुलाकर निर्मला ने आवेग के साथ कहा—लक्षण अच्छे नहीं है। हरीश डाक्टर को बुलाकर लाया तो उसने कहा कि स्थिति बहुत गम्भीर है।

हरीश कई दिनो से मन-ही-मन सोच रहा था कि एक बार जीवन को क्यो न बुलाया जाये। किन्तु, इसकी लाभ-हानि को जब वह तोलता, तो उसका मन आशकाओं से भर जाता। आज उसने निर्मला से परामर्श किया और जब निर्मला ने जोखिम उठाने की सलाह दी, तो उसने जीवन को तार दे

दिया—"चचला की स्थिति अत्यन्त नाजुक है। आपकी उपस्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। कृपया अविलम्ब आइये।"

कई घटो के बाद चचला का ज्वर कुछ कम हुआ और वह थोड़ी-सी सुध में आई। निर्मला ने उससे कहा—"चंचला, हरीश बाबू ने जीवन को तार देकर बुलाया है।"

कदाचित् चचला पूरी बात ग्रहण नही कर सकी। उसने दुहरा दिया—"जीवन ! जीवन ! कहाँ जीवन ?"

थोडी देर बाद उसने बुलाया—"स्वामी !"

हरीश शीघ्रता के साथ उसके सामने आया और उद्विग्न होकर बोला—"चचला !" परन्तु कोई उत्तर न मिला। वह फिर बेहोश हो गई।

वृद्ध बन्दोपाध्याय दम्पति और परिवार के सब लोग वहाँ एकत्र हो गये थे। बन्दोपाध्याय महाशय ने अत्यन्त दु ख-भरे स्वर में कहा—"भगवान् मगल करें !" और उनका गला रुँध गया। सास, ननँद और देवरो की वाचा पहले ही अवरुद्ध हो चुकी थी।

दो दिन बीत गये। बीच-बीच में कई बार रुग्णा को चेत हुआ, किन्तु थोडी-थोडी देर में वह फिर-फिर अचेतनावस्था में उलटती गई। तीसरे दिन उसे फिर से होश हुआ। आज वह कुछ अच्छी मालूम होती थी। ज्वर लगभग उतर गया था। सबको प्रसन्नता हुई, सबने भगवान् का अनुग्रह माना, सबने शुभ की कामना की।

वृद्धा सास ने कहा—"मानो, बच्चे के प्राण जोर मार रहे है !"

बन्दोपाध्याय महाशय ने प्रार्थना के स्वर में उत्तर दिया—"भगवान् मगल करें ! सब ठीक हो जायेगा !"

आज जीवन के आने की आशा थी। निर्मला बहुत चाहती थी कि चचला को इस समय उसके आने की सूचना दे दी जाये। उसे आशा होती कि शायद इससे चंचला को बल मिलेगा। परन्तु दूसरे ही क्षण वह डर जाती—कही उलटा परिणाम हुआ तो ! और इसी ऊहापोह मे समय टलता गया। हरीश भी कोई निर्णय न कर सका।

चंचला ने आज परिवार के सब सदस्यों को बुलाकर उनसे कुछ-कुछ बातें की। हरीश की छोटी-सी भानजी ने उसे उलाहना देते हुए कहा—"जल्द अच्छी क्यो नही होती ?"

चचला ने उसके सिर पर हाथ फेरकर प्यार से आश्वासन दिलाया, "अब अच्छी हो जाऊँगी !"

सबके चले जाने पर चचला ने निर्मला से कहा—"मेरी बहन, तमसे बढकर भी कोई बहन सुनी गई है ?"

निर्मला ने उसी प्रेम से उत्तर दिया—"और तू कहाँ चली गई है ?"

"मैं ? ओह ! मैं तो पीड़ा जैसी आई हूँ। भगवान् करे, उसी तरह चली जाऊँ !"—और अब फिर उत्तेजना का लक्षण प्रकट हुआ, किन्तु शीघ्र ही उसने कहा—"स्वामी को तो बुलाओ, निर्मला !"

और अविलम्ब हरीश आ गया। सूखा मुख, सूखा शरीर, सूखे तथा बिखरे हुए बाल, मैले वस्त्र, परन्तु होठो पर बलप्रेरित मद मुस्कान !

देखते ही चंचला ने कहा—"यह क्या हालत है, आपकी ? मैं पड गई तो अपने-आपको बिल्कुल ही भुला दिया !"

"ये तो छोटी बाते हैं। तुम अच्छी हो जाओ, ये सब ठीक हो जायेंगी !"

"नही, आप जाइए, नहा-धोकर साफ कपडे पहनकर सदैव के समान आइए। भोजन भी कर लीजिए !

"अच्छा जाता हूँ !"

"परन्तु, सुनिए ज़रा .." और उसका हृदय धडकने लगा—"एक बात कहूँ ?"

"अवश्य कहो !"

"मानेंगे ? बुरा तो न लगेगा ?"

"अवश्य मानूँगा।"

"निर्मला ! "

"बोलो बहन!"—निर्मला ने कहा।

चंचला ने अपने हृदय-स्थल को हाथ से दाबकर बलपूर्वक कहा—"एक बार जीवन को.. "

और वह आगे न कह सकी। उसके हृदय की गति बहुत तीव्र हो गई। मूर्छा के लक्षण फिर उपस्थित होने लगे।

निर्मला और हरीश ने एक दूसरे की ओर देखा और निर्मला ने शीघ्रता-पूर्वक चचला को सँभालते हुए कहा—"जीवन को बुलाया है। आज आ जायेगा।"

"आ जायेगा !"—कहकर चचला मूर्छित हो गई !

ज्वर अधिक नही था, किन्तु मूर्छा गहरी थी। हरीश और निर्मला उद्विग्न हुए बिना न रह सके।

थोडी देर में चचला ने पुकारा—"जीवन !" उसकी आवाज स्पष्ट नही थी और उसने उसी तरह फिर कहा—"जी व न ! आ !"

उसके नेत्रो ने दो मोती ढाल दिये और उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, वाणी सदा के लिए मूक हो गई !

निर्मला ने घबडाकर उसे सँभालते हुए कहा—"चचला ! चचला !" और उसके हाथ छूट गये ! हरीश ने उसकी खाट पर सिर पटक दिया। उसके मुँह से निकला—"वेदना से मुक्त हो गई !"

× × ×

जीवन जब पहुँचा उस समय चिता की लपटें बुझ चुकी थी। उसने चुटकी भर भस्म अपने माथे पर लगाकर कहा—"चचला, तुम मेरी हो ?"

हरीश ने जीवन को छाती से लगाकर कहा—"मै भी तुम्हारा हूँ, भाई ! उसका काम हम दोनो पूरा करेंगे।"